भारतीय और योरोपीय
शिक्षाका इतिहास

— लेखक —

शिक्षाशास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य

साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी,

एम्० ए०, बी० टी०, एल्-एल्० बी०

— प्रकाशक —

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

काशी

[संवत् २०११]

प्रकाशक—
हिन्दी साहित्य कुटीर
हाथीगली,
काशी

प्रथम संस्करण

मूल्य ४।।≡)

मुद्रक—
राममोहन शास्त्री
गोविन्द मुद्रणालय,
बुलानाला, काशी

आख्या

गोरोंकी प्रभुता समाप्त करके हमारे देशने जब स्वतन्त्रता प्राप्त की तब यह आवश्यक हो गया कि हम अपने देशकी आर्थिक समृद्धिके साथ इसकी बौद्धिक समृद्धि भी करें। इस बौद्धिक समृद्धिकी योजनामें यह भी आवश्यक है कि हम अपने देशकी शिक्षा-पद्धतिको व्यवस्थित और परिष्कृत करें। यद्यपि दैव-दुर्योगसे भारतकी शिक्षा-पद्धतिका समुचित विकास करनेमें कुछ ऐसी बाधाएँ उत्पन्न हो गई हैं कि सामूहिक सुधार करना किसी व्यक्ति या शक्तिके लिये संभव नहीं हो रहा है किन्तु जब परिस्थिति बदलेगी और भारतीय भावना तथा संस्कारोंसे भावित व्यक्ति शिक्षाके सूत्रधार बनेंगे तब अवश्य आमूल परिवर्तन संभव हो सकेगा।

शिक्षाकी योजना बनाते समय हमें अत्यन्त संकुचित होकर न तो केवल अपनी डफली अपना राग गाना चाहिए न दैन्य-मुद्रामें 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' कहकर विदेशी पद्धतियोंको ज्योंका त्यों आँख मूँदकर स्वीकार कर लेना चाहिए। विश्वके विभिन्न देश परस्पर इतने सम्पृक्त हो गए हैं कि उनके प्रयोगोंकी उपेक्षा करना अपनेको मूर्ख सिद्ध करना है। अतः इस नवनिर्माण-पर्वपर यह आवश्यक है कि हम अपनी परम्पराकी श्रेष्ठताका आधार लेकर विभिन्न देशोंके परीक्षित शिक्षा-प्रयोगोंका ऐसा सामञ्जस्य स्थापित करें कि उसका रूप तो पूर्णतः भारतीय रहे किन्तु वह नये युगकी गतिके साथ पैग मिलाकर भी चलता हो।

भारतवर्षमें शिक्षाका कार्य करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका यह धर्म है कि वह भारतकी शिक्षा-पद्धतिकी उन सभी उदात्त परम्पराओंसे परिचित हो जिनकी सुव्यवस्थाके कारण इस देशने संसारका गुरु कहलानेका महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किया था। इस सम्पूर्ण श्रेयका आधार हमारे गुरुकुलोंकी जीवन-चर्या और वहाँकी व्रत-पद्धति थी। इधर पिछले तीन सौ वर्षोंमें योरोप तथा अमेरिकामें अनेक शिक्षा-शास्त्रियोंने स्वतन्त्रतापूर्वक शिक्षा-संबंधी ऐसे अनेक प्रयोग किए जिनका प्रभाव व्यापक रूपसे विश्वके सभी देशों-पर पड़ा। यद्यपि उन शिक्षा-शास्त्रियोंमेंसे कोई भी अपने प्रयोगोंमें सफल नहीं हो पाया किन्तु उनके शिक्षा-सिद्धान्तोंका प्रयोग व्यापक रूपसे सभी देशोंके शिक्षा-क्रमके निर्धारणमें होने लगा। अतः प्रत्येक शिक्षार्थीको अपने देशकी शिक्षापद्धतिके ज्ञानके साथ विदेशी प्रयोगोंका परिचय भी होना चाहिए और सबके प्रयोगोंका सात्त्विक अंश लेकर अपने देशकी शिक्षा-पद्धतिका निर्माण करना चाहिए।

शिक्षाके उद्देश्य, सिद्धान्त और उसकी प्रणालीका निर्धारण करते समय हमारे स्वतन्त्र राष्ट्रने कुछ शीघ्रता की है। यही कारण है कि हमारे राष्ट्रीय कर्णधार निरन्तर समय समयपर उसके दुष्परिणाम और दोषोंका विवरण देकर सावधान करते रहते हैं। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय शासन तथा विभिन्न राज्योंने अनेक शिक्षा-विचार-मंडल स्थापित करके उनके सुझाव भी प्रकाशित किए किन्तु उनका प्रयोग करनेमें प्रायः शिथिलता दिखाई जाती रही। यह अवस्था तबतक बनी रहेगी जबतक शिक्षाकी व्यवस्था सरकारोंके हाथसे हटकर शिक्षा-शास्त्रियोंके हाथमें नहीं आ जाती क्योंकि सरकारी शिक्षानीति कुछ तो केन्द्रीय तथा राज्य-शिक्षा-

मन्त्रियोंकी नीतिपर और कुछ प्रबल राजनीतिक दलकी नीतिपर चलती है जिसके कारण किसी देशकी शिक्षा-नीतिमें स्थिरता नहीं आ सकती ।

हमारे शिक्षा-शास्त्रीय विद्यालय (टीचर्स ट्रेनिंग कालेज) भी इस सम्बन्धमें गतानुगतिक होकर चल रहे हैं । साठ वर्ष पूर्व उनकी जो दशा थी वही आज भी है । वे लोग आँख मूँदकर रूसो, पेस्टालौज़ी, हरबार्ट, मोन्तेस्सौरीकी उद्धरणी कर रहे हैं, हरबार्टकी पंचपदीके अनुसार पाठसूत्र बनवा रहे हैं मानो इतने बड़े देशके शिक्षा-शास्त्रियोंमें इतनी योग्यता तथा इतना सामर्थ्य ही न हो कि वे अपनी बुद्धिसे, अपने देशकी प्रकृतिके अनुसार सब सिद्धान्तोंका परीक्षण करके, शुद्ध, सरल, सुबोध तथा व्यापक शिक्षा-प्रणालीका आविष्कार करके अपने राष्ट्रके सम्मुख ऐसी शिक्षा-योजना प्रस्तुत करें जो वर्त्तमान शिक्षा-प्रणालीके सब दोषोंसे मुक्त हो । किन्तु यह तभी संभव है जब हमारे देशके प्रत्येक शिक्षा-सम्बद्ध व्यक्तिको अपने देश और विदेशोंकी पूर्ण शिक्षा-प्रगतिका व्यावहारिक ज्ञान हो ।

इस ग्रन्थकी रचना इसी विचारसे की गई है । यह वास्तवमें हमारे दो ग्रन्थ 'भारतमें सार्वजनिक शिक्षाका इतिहास' तथा 'शिक्षा-प्रणालियाँ और उनके प्रवर्त्तक' का समन्वित रूप है क्योंकि प्रायः सभी शिक्षा-संस्थाओं तथा शिक्षा-शास्त्रके पाठ्यक्रमोंमें भारतीय शिक्षा तथा योरोपीय शिक्षाप्रयोगोंका इतिहास निर्धारित है । इन दोनोंके लिये बहुत-सी अलग-अलग तथा बड़ी-बड़ी पुस्तकें तो प्राप्त थीं किन्तु एक साथ पूर्ण, छोटी तथा सस्ती पुस्तक अभीतक नहीं मिल रही थी । इसलिये अपने

अनेक अध्यापक शिष्योंके आग्रहपर मैंने अपने दो ग्रन्थोंको एक करके यह पूरा पाठ्यक्रम सबके लिये सुलभ कर दिया है।

मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थसे प्रत्येक भारतीय शिक्षा-शास्त्रीको तथा शिक्षाके इतिहासका अध्ययन करनेवाले शिष्याध्यापकको सब सामग्री एक साथ प्राप्त हो जायगी।

तुलसी जयन्ती, श्रावण शुक्ला सप्तमी,
संवत् २०११
उत्तर बेनिया बाग, काशी

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

भारतीय शिक्षा-पद्धति

द्वितीय खण्ड

योरोपीय शिक्षाका इतिहास

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भारतीय और योरोपीय शिक्षाका इतिहास

[प्रथम खण्ड]

भारतीय शिक्षा-पद्धति

१

आर्य-जीवनमें शिक्षाका स्थान

मानव-धर्मशास्त्रके उपदेष्टा भगवान् मनुने जब यह कहा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने इस भूतलके समस्त मानवोंको अपने चरित्रकी शिक्षा दी ।] तब उनका ध्वन्यर्थ यही था कि संसारकी समस्त ज्ञान-विद्याओंने सर्वप्रथम इसी भूमिपर अवतार लेकर हमारे देशको विद्या-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न तथा शील-सम्पन्न करके इतनी नैतिक समर्थता प्रदान कर दी कि उन विद्याओंका साक्षात्कार करनेवाले वैदिक ऋषियोंने उनके आश्रयसे केवल अपना या अपने देशका ही कल्याण नहीं किया वरन् उस ज्ञानज्योतिके महादीपका प्रकाश देकर उन्होंने संपूर्ण तमसावृत, मानव-समाजको असत्से सत्में, अन्धकारसे प्रकाशमें, मृत्युसे अमरतामें ला बैठाया । उन्हें कभी यह लोभ नहीं हुआ कि

अखण्ड तपस्याके बलपर उन्होंने जो ज्ञानराशि एकत्र की है उसका उपभोग वे अकेले करें और शेष संसारके प्राणियोंको अन्धकारमें डाल-कर, उनकी मूर्खताका अनुचित लाभ उठाकर, उन्हें बौद्धिक दासताके लौह-बन्धनमें बाँधकर, सदाके लिये निस्तेज, निर्वीर्य तथा निःशक्त बनाए रखकर उनसे अपनी सेवा कराते रहें। आर्योंने तामसी अथवा भौतिक तत्त्वोंकी प्राप्ति या उनके संग्रहके लिये इन विद्याओंका प्रयोग कभी नहीं किया। उन्होंने अपनी विद्या-शक्तिसे जहाँ एक ओर समाज और लोकके कल्याणके साधन एकत्र किए, वहीं उन्होंने अध्यात्म शक्तिके संचयमें भी पूर्ण शक्ति लगाकर परम तत्त्वके गूढ़तम, सूक्ष्मतम रहस्योंकी खोज करके अपना आध्यात्मिक वैभव इतना ऋद्ध कर लिया कि संसारकी समस्त शक्तियाँ उसके सम्मुख नतमस्तक हो गईं।

कर्मवाद

वैदिक युगमें ही आर्योंने इहलौकिक और पारलौकिक तत्त्वोंका ज्ञान समन्वित करके यह सिद्धान्त निकाल लिया था कि संसारका प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है। वह जैसा करता है वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है और वह फल उसे या तो इसी जन्ममें भोग लेना पड़ता है या उसे भोगनेके लिये उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इस दूसरे जन्ममें यह आवश्यक नहीं है कि उसे मानव-शरीर प्राप्त ही हो। अण्डज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज—इन चार आकारोंमेंसे किसीके द्वारा वह चौरासी लाख योनियोंमेंसे किसीमें भी पड़ सकता है।

कर्म-चक्रसे मुक्ति

इस आवागमनके फेरसे मुक्त होनेके लिये ही आर्योंने तीन विधान किए—

१. सत्कर्म किए जायँ, अर्थात् धर्माचरण किया जाय।

२. ज्ञानकी अग्निमें सब कर्म ही जलाकर भस्म कर दिए जायँ।

३. जो भी कर्म किया जाय, सब ईश्वरको अर्पित कर दिया जाय,

जिससे सुकर्म और कुकर्म, सबसे अपना पल्ला बचा रहे, क्योंकि धर्माचरण करनेमें भी यह बन्धन तो लगा ही हुआ है कि सत्कर्मका फल भोगनेके लिये मनुष्यको जन्म लेना ही पड़ेगा। इतना सिद्धान्त प्रतिपादित कर देनेपर भी वे भली भाँति जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करनेके फेरमें पड़ गया तो लोक-स्थिति या सामाजिक जीवनमें संकट उपस्थित हो जायगा। इसलिये उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि कर्म तो सभीको करना चाहिए, किन्तु कर्ममें लिप्त नहीं होना चाहिए। कर्मके परिणामसे अपनी बुद्धि और अपने मनको अलग या असंग रखना चाहिए। इतनी सब बातें विचारकर उन्होंने धर्मकी परिभाषा ही ऐसी बना दी जिसमें इहलोक और परलोक दोनोंके परम सौख्यका सुन्दर समन्वय हो सके। वैशेषिक दर्शनमें धर्मकी परिभाषा बताई गई—

यतोभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

[जिससे इस लोकमें पूर्ण अभ्युदय या सौख्य मिले और परलोकमें मुक्ति प्राप्त हो वही धर्म है।]

तीन ऋण

आर्योंका यह भी अखण्ड तथा निश्चित विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिरपर तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है—देव-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण।

देव-ऋण

ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है। मनुष्य तथा प्राणियोंको सुख, जीवन और सुविधा देनेके लिये ईश्वरने जल, वायु प्रकाश, वनस्पति, पशु, पक्षी, नदी, ताल, निर्झर, मेघ आदिकी सृष्टि की है। इन सबके सहारे हमारा जीवन चलता और पलता है। यही देव-ऋण हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है। इससे उऋण होना ही चाहिए। किन्तु ईश्वरके साक्षात् दर्शन तो हो नहीं पाते इसलिये देव-शक्तियोंके निमित्त अन्न आदिका दान तथा यज्ञ करके हम इस देव-ऋणसे

उऋण हो सकते हैं। किन्तु यज्ञ करनेके लिये, उसकी विधि, कर्मकाण्ड, वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र और स्मृतिका ज्ञान भी होना चाहिए, क्योंकि मंत्र पढ़नेमें यदि तनिक सी भी गड़बड़ी हुई कि वह मंत्र ही उसे ले बीत सकता है। इसलिये इस सम्बन्धमें बड़ी सावधानीसे ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए और ब्रह्मचर्याश्रमको अवश्य ही सिद्ध करना चाहिए।

पितृऋण

हमारे माता-पिताने हमें यह शरीर दिया है। हम केवल उनकी सेवा करके इस इस पितृ-ऋणसे उऋण नहीं हो सकते। इस ऋणसे उऋण होनेके लिये हमारा यह धर्म है कि हम अच्छे कुल, गोत्र, शील, संस्कारकी कन्यासे शुद्ध विवाह करें और उससे पुत्र उत्पन्न करें। इसका तात्पर्य यह है कि हमें गृहस्थ-आश्रमका पालन करना चाहिए। इसके लिये हमें स्वस्थ शरीर तथा गृहस्थी चलानेकी योग्यता चाहिए। इसके लिये भी तदनुकूल कामशास्त्रकी आवश्यक शिक्षा मिलनी चाहिए। बहुतसे लोग कामशास्त्रके सम्बन्धमें यह धारण बनाए हुए हैं कि इसमें केवल विभिन्न मुद्राओंसे विलासके अनेक आसन-मात्र हैं। किन्तु ऐसी बात वास्तवमें है नहीं। उसमें स्पष्ट रूपसे ऐसे सब विधान और उपाय सुझाए गए हैं कि मनुष्य संयत शारीरक भोग करते हुए भी अत्यन्त दीर्घायु और स्वस्थ बना रह सकता है। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें कहा भी है कि मेरे कथनके अनुसार यदि कोई अपनी जीवन-चर्या बना ले तो—

'आषोडशात्सप्ततिपर्यन्तं कैशोरकम्।'

[सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक किशोरावस्था बनी रह सकती है।] अतः पितृ-ऋण चुकानेके लिये भी स्वस्थ शरीर, सत्संकल्प और शुद्धाचरणकी आवश्यकता है ही। उसके लिये भी शिक्षा आवश्यक है।

ऋषि-ऋण

हमारे जिन पूर्वज ऋषियोंने अपनी तपस्या, अपने अनुभव, प्रयोग तथा अध्ययनसे हमारे लिये ज्ञान संचित कर छोड़ा है उनका हमपर

बड़ा भारी ऋण है। उस ऋणसे उऋण होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उनके छोड़े हुए ज्ञानका अध्ययन करके उसका प्रचार करें अर्थात् विद्यादान या ब्रह्मदान करें। यह ज्ञानदान ब्रह्मचर्यकी अवस्थासे लेकर संन्यास-आश्रमकी अवस्थातक निरन्तर चल सकता है। इसके लिये ज्ञान-संवर्धन करना तथा अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है और यों भी अपना जीवन सफल, सरस, सुन्दर और मधुर बनानेके लिये शिक्षा तो अत्यन्त आवश्यक है ही।

अभ्युदय और तीन एषणाएँ

अभ्युदय या इहलौकिक सौख्यके रूपोंके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करके आर्योंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यकी सम्पूर्ण लौकिक चेष्टाएँ या तो धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये, या पुत्र प्राप्त करनेके लिये, या यश प्राप्त करनेके लिये होती हैं। इन तीनों प्रवृत्तियों या इच्छाओंको उन्होंने क्रमशः वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा कहा है। इन्हींको हम दूसरे शब्दोंमें अर्थप्रवृत्ति, काम-प्रवृत्ति और धर्म-प्रवृत्ति (या यशःप्रवृत्ति) कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस जीवनसे ऊबकर अलक्ष्य परमात्म-तत्त्वमें लीन हो जाना चाहते हैं या उसकी किसी व्यक्त विभूतिसे परम सान्निध्य या तन्मयत्व सिद्ध करना चाहते हैं। इसे हम मोक्षैषणा कह सकते हैं। इन्हीं चारों एषणाओंकी सिद्धिके लिये आर्योंने प्रत्येक मनुष्यके लिये यह निर्धारण किया कि सबको चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिएँ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता है, यही उसका परम लक्ष्य है, यही उसका परम पौरुष और कर्त्तव्य है। इसलिये पुरुषार्थ-साधन ही आर्योंकी जीवन-पद्धतिका लक्ष्य बन गया।

चार पुरुषार्थ

आजकलके कुछ मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका आधार भोजन और काम है। हमारे यहाँ भी एक उक्ति

प्रसिद्ध है—

काव्येन हन्यते शास्त्रं, काव्यं गीतेन हन्यते ।
गीतञ्च स्त्रीविलासेन, स्त्रीविलासो बुभुक्षया ॥

[शास्त्रको काव्य मार डालता है, काव्यको गीत, गीतको स्त्री-विलास, और स्त्री-विलासको भूख मार डालती है । यहाँतक तो कोई दोष नहीं कि भूख और काम बड़े बली होते हैं पर मनोवैज्ञानिक लोग तो लोकैषणाको भी इसीके अन्तर्गत लेना चाहते हैं । वे यह नहीं समझते कि कभी-कभी मनुष्य जलते हुए भवनमें रोते हुए बच्चोंको निकाल लानेके लिये अपने प्राण संकटमें डालता है, डूबते हुए अपरिचित व्यक्तिको बचा लानेके लिये जलमें कूद जाता है, अनुभव मात्र प्राप्त करके संसारको उसका परिचय देनेके लिये हिमालयपर चढ़ जाता है और अपने देशकी रक्षाके लिये तोपके मुँहमें कूद पड़ता है, फाँसीपर झूल जाता है, यातनाएँ सहता है यहाँतक कि अनशन करके प्राण भी दे डालता है । इसमें भोजन और कामकी भावना कहाँसे आ टपकी । निश्चय ही इन प्रवृत्तियोंका आधार लोकोत्तर कार्य करके यश पाना या धर्म-निर्वाह ही है ।

मानव-प्रवृत्तिका आधार

यह सत्य है कि साधारण मनुष्यकी अत्यन्त साधारण प्रवृत्ति भोजन और मैथुनकी ही होती है । पर अत्यन्त साधारण प्रवृत्तियोंमें निद्रा (आलस्य या कामचोरी) और भय भी तो है । इसीलिये किसी नीतिज्ञने कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

[भोजन, नींद, डर और मैथुन, ये चारों ही प्रवृत्तियाँ पशुओं और मनुष्योंमें एक-सी होती हैं, किन्तु मनुष्यमें एक धर्म-प्रवृत्ति अधिक

होती है। जिस मनुष्यमें यह धर्म-प्रवृत्ति नहीं होती, वह पशुओंके ही समान है।] पर यह सूची पूरी नहीं है क्योंकि जब गौ अपने बछड़ेको बचानेके लिये, हिरनी अपने छौनेकी रक्षाके लिये और बाघिन अपने बचौटोंकी आड़के लिये जूझ पड़ती है तो निश्चय ही मनुष्यकी एक और भी विशेष प्रवृत्ति होती है जिसे हम भोजन और मैथुनके अन्तर्गत नहीं, वरन् धर्मके भीतर रख सकते हैं या अधिकसे अधिक एक नई प्रवृत्ति मान सकते हैं—मोह या स्नेह-प्रवृत्ति। किन्तु भारतीय सिद्धान्तकी काम-प्रवृत्तिके अन्तर्गत यह सब आ जाता है। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि आजकल बहुत लोगोंकी कामप्रवृत्तिका लक्ष्य सुन्दर मनचाही स्त्री या मनचाहा पति पाना ही है, पुत्र हों या न हों। इसलिये हम अपनी एषणाओंमेंसे पुत्रैषणाको बदलकर कलत्रैषणा कह सकते हैं।

यही बात भोजनके सम्बन्धमें भी है। मनुष्य केवल भोजनसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसे सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन चाहिए। भोजनके पश्चात् विश्रामके लिये आवास, शय्या, बयार, वस्त्र सभी कुछ चाहिए। इन सबको भी वह जितना सुन्दर बना सकता है, उतना बनानेका प्रयत्न करता है। इन सबको मिलाकर उसकी काम-प्रवृत्ति बनती है। इसलिये केवल भोजन और मैथुन मात्रको मूल प्रवृत्ति कहना या मानना नहीं चाहिए।

धर्म-प्रवृत्ति

'धारणाद्धर्ममित्याहुः' के अनुसार जो सबकी रक्षा करे वही धर्म है। भगवान् व्यासने दो श्लोकोंमें बड़े सुन्दर ढंगसे धर्मकी व्याख्या की है। वे कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभव-संयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[प्राणियोंके कल्याणके लिये ही धर्मका बखान किया गया है। जिस कर्मसे प्राणियोंका कल्याण होता हो उसीको धर्म कहते हैं। अहिंसाके लिये धर्मका बखान हुआ है। जिन कामोंसे हिंसा न होती हो (दूसरेको मानसिक या शारीरिक कष्ट न होता हो) वही धर्म है।] गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीको इस प्रकार समझाया है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे सब काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरोंको सुख मिलता हो, शान्ति मिलती हो, लोक-कल्याण होता हो, किसीका जी न दुखता हो, किसीको किसी प्रकारका कष्ट न होता हो। इस प्रकारके कर्मोंसे सुख पानेवाले लोग निश्चय ही ऐसे कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा करेंगे, गुण गावेंगे, बड़ाई करेंगे और यही वास्तवमें लोकैषणाकी तृप्ति है, यश प्राप्त करके सुखी होनेकी भावना है और यही धर्म-प्रवृत्ति है।

काम-प्रवृत्ति

हम ऊपर समझा आए हैं कामका अर्थ केवल मैथुन मात्र नहीं है क्योंकि यह भी भूख और प्यासके समान ही एक साधारण-सी शारीरिक उत्प्रेरणा है जो पशुमें भी होती है। किन्तु मनुष्यका 'काम' पशुओंके समान क्षणिक सम्पर्क मात्रसे समाप्त नहीं हो जाता। वह परिवार जोड़ता है। उसे प्रसन्न, सुखी, स्वस्थ और सुस्थिर रखनेके लिये भवन बनाता, निश्चित वृत्ति ग्रहण करता, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ जोड़ता और सब प्रकारके अनिष्टों, उपद्रवों और आघातोंसे अपनी और अपने परिवारकी रक्षा करता है। ये सब बातें मिलकर उसकी काम-प्रवृत्तिका निर्माण करती हैं। यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक तृप्त होती चलती है, उतनी ही अधिक बढ़ती भी चलती है। इसलिये इसके सम्बन्धमें इत्यलम् नहीं कहा जा सकता।

अर्थ-प्रवृत्ति

जैसे काम-प्रवृत्तिकी कोई सीमा नहीं होती वैसे ही अर्थ-प्रवृत्तिकी

भी कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। किन्तु यही प्रवृत्ति वास्तवमें धर्म प्रवृत्ति और काम-प्रवृत्तिकी पोषिका है। यदि यह प्रवृत्ति कम हो या पूर्णतः न हो तो न धर्म सध सकता है न काम। इसलिये अर्थ-प्रवृत्तिकी साधना अवश्य करनी चाहिए अर्थात् प्रयत्नपूर्वक इतना धन, इतनी सम्पत्ति अर्जित कर लेनी चाहिए कि हम अपनी धर्म और काम-प्रवृत्तियोंको तृप्त और तुष्ट कर सकें। किन्तु इसमें एक सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि यह अर्थार्जन या धन प्राप्त करना धर्म-मार्गसे, अच्छी आजीविकासे, सच्चाईसे तथा दूसरोंको बिना कष्ट दिए होना चाहिए। यदि इस अर्थार्जनमें तनिक भी पाप-संग हुआ कि धन भी नष्ट हो जाता है और काम भी समाप्त हो जाता है।

मोक्ष-प्रवृत्ति

मोक्ष-वृत्ति दो प्रकारसे उद्दीप्त होती है—या तो धर्म, अर्थ और कामकी अतृप्तिसे, या धर्म, अर्थ और कामकी अति तृप्तिसे। अतृप्तिसे जो मोक्ष-वृत्ति उद्दीप्त होती है वह अस्थिर और चंचल होती है। उसमें यदि कभी उपर्युक्त तीनों वृत्तियोंकी तुष्टिके साधन निकल आते हैं तो वह तत्काल समाप्त हो जाती है। किन्तु अति तृप्तिसे जो मोक्ष-वृत्ति उद्दीप्त होती है वह स्थिर रहती है और निश्चित रूपसे सफल भी होती है क्योंकि वह ऐसी विराग-दशामें उत्पन्न होती है जब किसी प्रकारकी कोई लौकिक इच्छा शेष नहीं रह जाती और सांसारिक भोगोंसे भली प्रकार जी ऊब चुका रहता है।

सिद्धिकी व्यवस्था

इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक है कि मनुष्यका शरीर स्वस्थ और सशक्त हो, उसकी बुद्धि ज्ञान-विज्ञानसे इतनी विवेकयुक्त हो कि वह कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित, अच्छा और बुरा सबका भली प्रकार निर्णय कर सके, उसका मन इतना सध जाय कि वह सब जीवोंमें आत्मभाव स्थापित कर सके, दूसरेके दुःखसे दुखी और सुखसे सुखी होना जान सके। इसी उद्देश्यको

स्थिर करनेके लिये आर्योंने वर्णाश्रमकी व्यवस्था की और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ सिद्ध करना ही जीवनका लक्ष्य स्थिर किया।

शिक्षा-विधान

शिक्षाके द्वारा यह इहलौकिक और पारलौकिक सौख्य प्राप्त करनेके लिये आर्योंने जो शिक्षा-विधान बनाया उसमें उन्होंने शिक्षाके सम्बन्धमें इतनी बातें निश्चय कर दीं—

१. बालकका शिक्षा-संस्कार गर्भसे ही प्रारम्भ कर दिया जाय।
२. प्रारम्भमें माता उसे नित्य-कर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचारका अभ्यास करावे।
३. उसके पश्चात् पिता उसे अक्षर-ज्ञान कराकर अपने कुल-शील, आचरण तथा लोक-व्यवहारका ज्ञान करावे। यदि पिता अक्षर-ज्ञान न करा सके तो कुल-पुरोहित या गाँवके उपाध्यायको बुलाकर अक्षरारम्भ करा दे और लिखना, बाँचना, बोलना और समझना सिखा देनेकी व्यवस्था करे।
४. इतने ज्ञानके पश्चात् उसे गुरुकुलमें भेज दिया जाय।
५. गुरुकुलमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्र ही भर्ती किए जायँ।
६. गुरुकुलोंमें प्रत्येक वर्णके कर्त्तव्योंके अनुकूल निःशुल्क विद्या-दान दिया जाय।
७. गुरुकुलोंकी व्यवस्थामें कोई राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करे।
८. केवल बालकोंको गुरुकुलोंमें शिक्षा दी जाय।
९. बालिकाओंको घरपर माता और ससुरालमें सास ही शिक्षा दें।
१०. शूद्र अपने व्यवसायकी शिक्षा अपने पिता या सहकर्मी शिल्पीसे लें।

२

संस्कार और वर्णाश्रम-व्यवस्था

वैदिक शिक्षा-शास्त्रियोंने आजके शिक्षा-शास्त्रियोंके समान लम्बा-चौड़ा शिक्षाकी योजना बनाकर ही इत्यलम् नहीं कर दिया। उनका स्पष्ट सिद्धान्त था कि बाहरी सिखाने-पढ़ाने और अनेक विषयोंका ज्ञान करा देने मात्रसे ही शिक्षा पूरी नहीं हो जाती। वे मानते थे कि शिक्षाकी पूर्णता आन्तरिक संस्कारसे होती है और वह आन्तरिक संस्कार गर्भमें जीवके आनेके साथ-साथ प्रारम्भ हो जाता है। हमारे यहाँ इसीलिये कहा गया है कि प्रारम्भसे ही अर्थात् जीवको गर्भमें निमन्त्रण देनेसे पूर्व ही माता-पिताको एक विशेष प्रकारके आचार-विचार और व्यवहारसे अपना जीवन संयत करना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया तो सुसंस्कारी जीवके बदले गर्भमें ऐसा कुसंस्कारी जीव भी आ सकता है जो परिवार और राष्ट्र दोनोंके लिये भयंकर सिद्ध हो सकता है। इसीलिये हमारे यहाँ इन दस संस्कारोंका विधान किया गया—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. निष्क्रमण, ६. नामकरण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकरण, ९. उपनयन, और १०. विवाह। इन्हींके साथ-साथ कुछ लोग समावर्त्तनको भी संस्कार मानते हैं किन्तु वह तो उपनयनका ही उत्तराङ्ग है।

गर्भाधान और गर्भाचार

सभी शास्त्रकारोंने गर्भाधान-संस्कारका अत्यन्त महत्त्व बताया है और उसीके साथ यह कहा है कि विवाह-कर्म विलासके लिये नहीं होता, वह केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये होता है। अतः गर्भाधानके समय पति-पत्नी दोनोंको अत्यन्त पवित्रताके साथ, मंगल संकल्पोंके साथ गर्भाधान करना चाहिए।

आयुर्वैदिक ग्रन्थोंमें गर्भिणीके लिये बड़े नियम बना दिए हैं और यह भी बता दिया गया है कि किस प्रकारके आहार और विहारसे गर्भ-स्थित बालकमें क्या गुण-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। उन्होंने कहा है कि गर्भिणीको हाथी-घोड़े, अटारी और गाड़ीपर नहीं चढ़ना चाहिए, व्यायाम नहीं करना चाहिए, रोना-पीटना नहीं चाहिए, जिन दृश्यों या कार्योंसे भयकी आशंका हो उनसे दूर रहना चाहिए, दिनमें सोना नहीं चाहिए, रातमें जागना नहीं चाहिए और पति-संग नहीं करना चाहिए। उसे सदा हल्दी, कुंकुम, सिन्दूर, काजल, सुन्दर रंगीन वस्त्र और आभूषणका प्रयोग करना चाहिए, चोटियाँ गूँथकर केशोंका संस्कार करना चाहिए, ताम्बूल खाना चाहिए और सदा प्रसन्न, हँसमुख मृदुभाषी, दयालु, उदार, परोपकारी और पर-हितकारी बनना चाहिए। गर्भिणीको जो कुछ खानेकी इच्छा हो वह तत्काल खा लेना चाहिए। वह प्राप्त होनेसे गुणवान् पुत्र उत्पन्न होता है।

गर्भका शिक्षा-संस्कार

वैदिक शास्त्रकारोंका यह विश्वास है कि बालककी शिक्षा गर्भ-स्थित अवस्थासे ही प्रारम्भ हो जाती है। जीवको गर्भमें पिछले जन्मकी पूरी स्मृति बनी रहती है और उस अवस्थामें उसमें जितनी बौद्धिक चेतनता रहती है उतनी जन्मके बाद नहीं रह जाती। इसलिये यदि उस गर्भकालमें ध्यान देकर माता कोई ज्ञान प्राप्त करे तो वह ज्ञान बालकको भी प्राप्त हो जाता है। महाभारतमें अभिमन्यु इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जिसने चक्रव्यूह-भेदन की समस्त क्रिया उसी समय गर्भमें सीख ली थी जब अभिमन्युकी माता सुभद्राको अर्जुन वह विद्या सुना रहे थे।

जीवन-संस्कार

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन-संस्कार भी गर्भस्थित बालकके कल्याणके लिये ही किये जाते थे। बालकका जन्म होनेके पश्चात् जातकर्म-निष्क्रमण, नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन और चूड़ाकर्मतक साधारण रूपसे बालकके प्रारम्भिक जीवनके संस्कार किए जाते थे।

वर्ण-व्यवस्था

जैसे सिर, हाथ, उदर, पैर आदि विभिन्न अंगोंसे शरीर बना हुआ है और ये सब अंग पूरे शरीरकी रक्षाके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं, उसी प्रकार आर्योंने पूरी सृष्टिको, सब प्रकारके जड़-चेतन पदार्थोंको, उनके गुण (सत्त्व, रज, तम), (पिछले जन्मके) कर्म और स्वभावके अनुसार उन्हें चार भाग या वर्णोंमें विभक्त कर दिया। इसके अनुसार केवल मनुष्य ही चार वर्णके नहीं हुए वरन् पशु, वृक्ष, जल, भूमि, रत्न, काष्ठ, सब चार वर्णके हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि कोई मनुष्य हाथके दुर्बल रह जानेसे या कट जानेसे हाथका काम पैरसे करने लगे तो उसके पैरको केवल हाथका काम करने मात्रसे हम हाथ नहीं कहने लगते। इसी प्रकार यदि किसी वर्णका पुरुष किसी दूसरे वर्णके योग्य काम करने लगे तो उससे उसका वर्ण नहीं बदल जाता क्योंकि पारम्परिक संस्कारके कारण उसकी जो मानसिक वृत्ति बन जाती है, वही वर्ण-व्यवस्थामें प्रधान समझी जाती है, केवल बाह्य आचरण और व्यवसायसे उसमें अन्तर नहीं आ जाता। यदि घोड़ेसे बोझ ढोनेका काम लिया जाय तो वह गधा नहीं कहला सकता और यदि गधे या खच्चरको टमटममें जोत दिया जाय तो वह घोड़ा नहीं कहला सकता। घोड़ेका घोड़ापन उसके जन्म-संस्कार-पर अवलम्बित है, भले ही वह गधेसे भी अधिक दुर्बल और अशक्त क्यों न हो गया हो।

कार्य-विभाजन

इस प्रकारकी व्यवस्थासे गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार मानव समाजकी चार मुख्य आवश्यकताएँ मान ली गईं—बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक और सेवात्मक। इस प्रकार काम बँट जानेसे सब लोग अपनी जन्मजात रुचि, समर्थता और प्रवृत्तिके अनुसार, पारस्परिक संघर्षके बिना, लोक-कल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। आजका मनोविज्ञान गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा है कि मनुष्यकी रुचि, और समर्थताका परीक्षण

करके उसके योग्य कार्य उसे दिया जाय किन्तु आर्योंने यह कार्य न जाने कितने सहस्र वर्ष पहले ही कर दिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक उन लोगोंपर व्यर्थ पढ़नेका भार नहीं डाला जो अनेक प्रकारके शिल्पों और कलाओंका पोषण करके समाजकी रक्षा कर रहे थे, क्योंकि यदि वे भी गुरुकुलोंमें जानेके लिये विवश किए जाते तो उनकी निकुलीनिका (कुल या घरकी व्यावसाय-कला) ठण्डी पड़ जाती। अतः गुरुकुलमें पढ़नेकी अनिवार्यता केवल उन तीन वर्णोंके लिये रक्खी गई जिनका काम बिना गुरुकुलमें अध्ययन किए चल ही नहीं सकता था। शेष लोगों, अर्थात् शूद्रोंके लिये यह विधान किया गया कि वे अपने पिता या शिल्प-गुरुसे आवश्यक अध्ययन कर लें जहाँ उन्हें शास्त्र, यान, सेतु तथा भवन-निर्माण आदि उच्चतम शिल्पोंकी भी शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। सच पूछिए तो वैज्ञानिक शिक्षा पूर्णतः केवल शूद्र वर्गके हाथमें ही थी।

चारों वर्णोंके कर्तव्य

ब्राह्मणोंका काम था पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियका काम था प्रजा, आश्रित या आर्तजनोंका रक्षण और पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा भोग-विलाससे दूर रहना। वैश्यका काम था ढोर पालना, दान देना यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, महाजनी करना और खेती करना। शूद्रका काम था निश्छल भावसे सब वर्णोंके कामकी वस्तुएँ बनाना, जुटाना और सेवा करना अर्थात् ब्राह्मणोंके यज्ञके लिये कुण्ड, पात्र, खड़ाऊँ, दण्ड, कुटी आदि बनाना तथा मृगछाला आदि एकत्र करना; क्षत्रियोंके लिये रथ, यन्त्र, पुल, भवन, दुर्ग और अस्त्र-शस्त्र बनाना तथा वैश्योंके लिये हल, गाड़ी, रथ, रस्सी आदि बनाना। सेवाका तात्पर्य सात्त्विक सहयोग था, नौकरी करना या दूसरोंके घरके छोटे-मोटे काम-धन्धे करना नहीं। भृत्य या दास शब्द नौकरके लिये था। शूद्रके लिये कहीं भी 'दास' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया,

वरन् 'सेवक' शब्दका प्रयोग हुआ है, जो अत्यन्त आदरणीय पदका बोधक था—

सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

[सेवाका धर्म इतना बड़ा है कि योगी लोग भी इसे नहीं निबाह पा सकते ।]

ब्राह्मणका कठोर जीवन

जहाँ ब्राह्मणको इतना ऊँचा पद दिया गया था वहाँ उसके लिये नियम भी बड़े कठोर बना दिए गए थे । अपनी जीविका चलानेके लिये ब्राह्मण लोग यज्ञ कराते, अध्यापनका कर्म करते और केवल उसीसे दान लेते थे जिसने सचाई और अच्छे कर्मसे धन कमाया हो । ब्राह्मणका काम यह था कि वह सदा प्राणिमात्रके उपकारमें लगा रहे, किसी प्रकार भी किसीका अहित न करे । उसका यह भी धर्म था कि वह सब प्राणियोंसे दया और मित्रताका व्यवहार करे; कभी भूलकर भी धनका लोभ न करे तथा सन्तोषका जीवन बितावे । उसका यह भी काम था कि वह वेद पढ़े, तीर्थाटन करे, पृथ्वी-दर्शनके लिये सारे भूमण्डलपर भ्रमण करे और ज्ञानका प्रसार करे । अच्छा ब्राह्मण वही समझा जाता था जो जीवव भर अध्ययन करता रहे—

यावज्जीवमधीते विप्रः ।

आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार समाजको पूर्णाङ्ग व्यवस्थित करनेके लिये वर्ण-व्यवस्थाका विधान किया गया, वैसे ही मनुष्य-जीवनको पूर्ण संयत करनेके लिये आश्रम-व्यवस्था स्थापित की गई । हम भली प्रकार जानते हैं कि सब देशोंमें जितनी शिक्षा-व्यवस्थाएँ चलीं उन सभीमें या तो व्यक्ति प्रधान रहा या समाज । किन्तु भारतीय वैदिक जीवनकी यह विशेषता रही कि उसमें व्यक्ति और समाज दोनों समान रूपसे प्रधान बने रहे । यही कारण है कि हमारा समाज आजतक सुस्थिर बना चला आया

और संसार के अन्य सभी देश अपनी एकांगी संस्कृतिको लिए-दिए संसारसे बिदा हो गए ।

आश्रम-धर्म

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके लिये ज्ञान भी आवश्यक है और बुद्धि भी । इसी कारण यह निर्देश किया गया कि सौ वर्षकी मानवीय परमायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययनके लिये सुरक्षित कर दिया जाय अर्थात् पच्चीस वर्षकी अवस्था-तक छात्र पढ़ते रहें । पच्चीस वर्षकी अवस्थातक केवल ब्राह्मणके पुत्रको ही नहीं, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्रोंको भी विद्यालयमें अध्ययन करना पड़ता था । प्रत्येक वर्णके लिये जितनी विद्या अपेक्षित होती थी उतना ज्ञान देकर ही उसे छुट्टी दी जाती थी । इसका तात्पर्य यह है कि पाठ्य-क्रमके निर्णयमें वर्णका भी विचार किया जाता था । इस अध्ययनकी अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे ।

इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम आता है । ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था पार करते ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये विवाह करके, गृहस्थ होकर, गृहस्थ-जीवनमें धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना आवश्यक था ।

पच्चीस वर्षतक गृहस्थ-धर्मका निर्वाह करके, पचास वर्षकी अवस्थामें अपने पुत्रादिको घरका भार सौंपकर लोग तपस्याके लिये वनमें चले जाते थे और वहाँ शरीरको इस प्रकार साध लेते थे कि वह मोक्षकी सिद्धिके निमित्त तपस्या करनेको तैयार हो जाय ।

फिर पचहत्तर वर्षकी अवस्था पार करते ही मनुष्य सांसारिक बन्धनोंसे पूर्णतः विरक्त होकर संन्यास ले लेता था, एवं जीवित ही मोक्ष प्राप्त कर लेता था ।

आश्रम-धर्मकी सार्थकता

यह आश्रमधर्म पूर्णतः मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है । आरम्भमें अध्ययन करना, फिर गृहस्थाश्रममें सचाईसे धन कमाकर

लोक-सेवा करना, धर्म करके यश कमाना, गृहस्थीका सुख भोगना और पुत्रैषणा तृप्त करना; वानप्रस्थमें धीरे-धीरे संसारसे विरक्त होनेका अभ्यास करना और अन्तमें पूर्णतः मुक्त हो जाना। इस क्रमसे मनुष्य इस लोक और परलोकका सुख एक साथ साध सकता है। इसमें कहीं संघर्ष नहीं, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि प्रधान है। आजकलकी भाँति यह नहीं है कि अन्त समयतक अपनी सम्पत्तिसे लिपटे रहें और अपने पुत्र-पौत्र तथा बन्धुजनोंके ईर्ष्या-भाजन बने रहें।

चारों आश्रमोंकी योग्यता और कर्त्तव्य

ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमोंका पालन करना पड़ता था। क्षत्रियों और वैश्योंको संन्यास नहीं लेना पड़ता था, केवल तीन ही आश्रमोंमें रहना पड़ता था। शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमका ही विधान था।

ब्रह्मचर्याश्रम

उपनयनके पश्चात् जितेन्द्रिय होकर गुरु-गृहमें रहते हुए वेद और वेदाङ्ग पढ़ना ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है। इस अवस्थामें उपनयन हो चुकनेपर ब्रह्मचारीका कर्तव्य है कि वह मन लगाकर गुरुके घरको ही अपना घर समझे, वहाँ वेद पढ़े, अत्यन्त पवित्र तथा निरालस भावसे गुरुकी सेवा करे, दोनों समय सन्ध्या करे, सूर्यकी उपासना करे, गुरुजीका अभिवादन करे, गुरु खड़े हों तो खड़ा रहे, बैठें तो गुरुसे नीचे आसनपर बैठा जाय, सदा गुरुकी आज्ञा माने, गुरुकी आज्ञासे उनकी ओर मुँह करके मन लगाकर विद्या सीखे, उनकी आज्ञा लेकर ही भिक्षासे प्राप्त किया हुआ अन्न ग्रहण करे, गुरुके स्नान कर लेनेपर स्नान करे, नित्य समिधा, जल, आरने (कंडे), कुशा, पत्तल आदि सामग्री प्रातः लाया करे और पढ़ाई पूरी कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा लेकर गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

गृहस्थाश्रम

पच्चीस वर्षकी अवस्थामें विवाह कर चुकनेपर गृहस्थका धर्म है कि वह श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञादिके द्वारा देवताओंको, अन्न-भोजनादि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, सन्तान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फलादिकी बलि देकर प्राणियोंको तथा दया और स्नेह-भावके द्वारा सारे संसारको तृप्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट और सुखी करता रहे ; भिक्षा-भोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक, सायंगृह तथा साधुजनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल, शैया और भोजन दे, कभी द्वेष, क्रोध, अहंकार तथा पाखण्ड न करे, किसी प्रकार भी किसीका अपमान या अहित न करे, धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविका कमावे, सन्तान उत्पन्न करे और परिवारका पालन करे।

वानप्रस्थाश्रम

पचासकी अवस्था पार कर चुकनेपर अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने और पुत्र-पुत्रियोंको शिक्षा देकर, उनका विवाह करके, उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठित करके अपनी भार्याको पुत्रोंके सहारे छोड़कर या साथ लेकर वनमें कुटिया बनाकर रहे। यही वानप्रस्थ आश्रम है। वानप्रस्थीका कर्तव्य है कि मूँछ, दाढ़ी और जटा बढ़ाए रहे, धरतीपर शयन करे, गिरे हुए ही फल खाकर रहे, आए हुए अतिथिका सत्कार करे, मृगचर्म या कुशासनसे शरीर ढके, तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) संध्या तथा देवताओंकी अर्चना करे, हवन और अतिथि-पूजन करे, भिक्षाटन करे, बलि दे, निरन्तर ईश्वरकी आराधना करते हुए तपस्या करे और तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख सहन करनेकी शक्ति) साधे।

संन्यास

पचहत्तर वर्षकी अवस्था हो जानेपर या इससे पूर्व ही वानप्रस्थाश्रममें मन सध जानेपर सिर मुँड़ाकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर, दण्ड-कमण्डलु

लेकर विरक्त हो जाना संन्यास कहलाता है। संन्यासीका कर्तव्य है कि सब प्रकारका लोभ, मोह, मद, मत्सर छोड़कर, अपने पुत्र-पौत्र-धन-सम्पत्तिकी ममता छोड़कर वैराग्य ले ले; प्राणिमात्रसे मित्रता करे; मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे; पाँच रात्रिसे अधिक एक बस्तीमें न ठहरे; जब गृहस्थके चूल्हे ठंडे हो चुकें, सब खा-पी चुकें, उसी समय उच्च वर्णके गृहस्थोंके घर जाकर केवल शरीर चलाने भरके योग्य भिक्षा ले; सबका कल्याण करता हुआ निर्भय और निःस्पृह भावसे विचरण करे और ईश्वराराधन तथा योग-साधनके द्वारा मोक्ष प्राप्त करे।

इस प्रकारके आश्रम-जीवनको व्यवस्थित रूपसे वहन करनेके निमित्त भारतीय ऋषियोंने शिक्षाकी ऐसी क्रमिक और पूर्ण व्यवस्था कर दी थी कि उस क्रमके अनुसार नियमित शिक्षा ग्रहण करनेवाला व्यक्ति निश्चित रूपसे समाजका ऐसा रत्न बनकर निकलता था जो अपना कल्याण तो करता ही था, साथ ही अपने समाज, धर्म और राष्ट्रके अभ्युत्थानमें भी सक्रिय सहयोग देता था।

परा और अपरा विद्या

पीछे बताया जा चुका है कि आर्य वैदिक जीवन केवल इहलौकिक समृद्धिके लिये ही शिक्षा नहीं देता था। उसका उद्देश्य था कि यह जीवन भी सुखमय बीते और साथ-साथ मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष भी सिद्ध हो। इसी आधारपर विद्या दो प्रकारकी मानी गई— अपरा और परा। अपरा विद्याके अन्तर्गत वे सब विद्याएँ, कलाएँ और ज्ञानवृत्तियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य सब प्रकारकी इहलौकिक उन्नति कर सकता है। वेदोंकी विद्या, यज्ञ, कला, शिल्प आदि सांसारिक विद्याएँ तथा आजके सम्पूर्ण विज्ञान, शिल्प, साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र आदिको अपरा विद्या ही समझना चाहिए। परा-विद्याका अर्थ अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है, जिसके द्वारा मनुष्य परम तत्त्वको प्राप्त करता है। उपनिषद् आदि वे सब शास्त्र परा विद्याके अन्तर्गत हैं जिनके

अध्ययनसे मनुष्यके हृदयमें संसारसे विरक्ति हो और आत्मज्ञानका उदय हो। इसी परा विद्याकी वास्तविक विद्या और अपरा विद्याको अविद्या कहा गया है। ईशोपनिषद्में बताया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते॥
ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रताः॥

[जो लोग विद्या (अध्यात्मविद्या या परा विद्या) और अविद्या भौतिक विद्या या अपरा विद्या) दोनोंको साथ-साथ जानते हैं, वे ही भौतिक विद्याके सहारे सुखपूर्वक इस मृत्युलोक संसारको पारकर अध्यात्मविद्याके सहारे अमृत या मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो लोग केवल अविद्या या भौतिक शास्त्रोंकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें पड़े हुए हैं। किन्तु उनसे भी घने अन्धकारमें वे लोग हैं जो संसारकी चिन्ता न करके केवल अध्यात्मविद्यामें ही लीन रहते हैं।] इसीलिये हमारे यहाँ भोग और योग दोनोंका सामञ्जस्य ही शिक्षाका आधार बताया गया और तदनुसार शिक्षाका विधान भी बनाया गया।

३

शिक्षाकी व्यवस्था

माताकी पाठशाला

हमारे यहाँ बालकका पहला विद्यापीठ माताका गर्भ माना जाता है। इसीलिये गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारोंमें गर्भस्थ बालकके कल्याणके साथ-साथ उसके तेज, पराक्रम, मेधा आदिके संवर्द्धनकी कामना की जाती है। चरकने स्पष्ट रूपसे गर्भिणी माताके आहार-विहारका विवरण देकर समझाया है कि अमुक प्रकारके आहार-विहारसे अमुक प्रकारका बालक उत्पन्न होता है। वे मानते हैं कि गर्भकालमें बालक सीखता भी है जैसे अभिमन्युने व्यूह-भेदनकी कला गर्भमें ही सीख ली थी। उत्पन्न होनेके पश्चात् भी माता ही बालककी प्रथम शिक्षका होती है। उसे चाहिए कि नित्य समयसे उठने, सबको अभिवादन करने, बड़ोंके प्रति आदर दिखाने तथा उचित संस्कारके साथ उठने, बैठने, बोलनेका अभ्यास करा दे और इस शिष्टाचारकी शिक्षा दो या तीन वर्षतक देती रहे।

पिता-गुरु

माताके पश्चात् बालकका दूसरा गुरु पिता होता है जिसका धर्म है कि पाँच वर्षकी अवस्थातक बालकमें सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहार, पास-पड़ोसियोंके प्रति सद्भाव और आदर तथा अपने पैतृक व्यवसाय और कर्मका प्रारम्भिक संस्कार डाल दे जिससे बालकको सामाजिक जीवनमें सज्जनोचित व्यवहार करने तथा अपने पिताके व्यवसायका ऊपरी परिचय प्राप्त हो जाय। इसी अवस्थामें या तो पिता ही अक्षर-ज्ञान और अंक-ज्ञान करा दे अथवा बालकको चटशालामें भेजकर अक्षर-ज्ञान करवा दे जहाँ वह अपने गुरुके प्रति आदर

और साथियोंके प्रति स्नेह, सहयोग, सेवा तथा सद्भावनाका अभ्यास करता हुआ लिखना, पढ़ना गणित और भाषा सीखता चले ।

विद्यारम्भ-संस्कार

विद्यारम्भ-संस्कारसे पहले ही यद्यपि माता-पिताको बहुत-सी शिक्षा-दे चुकनी चाहिए किन्तु बाह्य दृष्टिसे विद्यारम्भ ही शिक्षाका प्रथम संस्कार है। विद्यारम्भ, अक्षर-स्वीकरण या अक्षरारम्भ संस्कार प्रायः पाँचवें वर्षमें किया जाना चाहिए, किन्तु कभी-कभी उपनयनके साथ भी कर दिया जाता है ।

इस संस्कारके लिये उत्तरायणमें किसी शुभ-दिन बालकसे उसके कुल-देवता, इष्ट-देवता, सूत्रकार, सरस्वती और गणेशजीकी पूजा कराई जाती है। देवताओंकी पूजाके पश्चात् गुरु अर्थात् खण्डिकोपाध्याय (पाधाजी) की पूजा की जाती थी। प्रायः इतना काम कुल-पुरोहित ही निपटा लेते थे। ये गुरुजी, चावल बिछाकर, बालकका हाथ पकड़-कर, चावलके ऊपर सोने या चाँदीकी लेखनीसे 'श्रीगणेशाय नमः' से प्रारम्भ करके पूरी वर्णमाला लिखवा जाते थे और फिर शिक्षक तथा निमन्त्रित ब्राह्मणोंको यथाशक्ति दक्षिणा देकर संस्कार पूर्ण किया जाता था। विद्यारम्भकी यह प्रथा पौराणिक कालमें अधिक चली। जैनोंमें भी ऐसी ही प्रथा है, किन्तु वहाँ 'श्रीगणेशाय नमः'के बदले 'ॐ नमः सिद्धम्' लिखवाया जाता है। वैदिक कालमें तो इस संस्कारकी पूर्ति उपनयनमें ही हो जाती थी।

चटशाला (प्रारम्भिक पाठशाला)

जिस प्रकार आजकल राज्यकी ओरसे व्यवस्थित प्रारम्भिक पाठशालाएँ (प्राइमरी स्कूल) हैं, उस प्रकारकी राज्य-चालित प्रारम्भिक पाठशालाएँ भारतमें नहीं थी किन्तु जिन नगरों तथा गाँवोंमें उच्च वर्णोंके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) रहते थे उनमें पाधाजी (ब्राह्मण अध्यापक, जिसे पतञ्जलिने खंडिकोपाध्याय कहा है), चटशाला

खोलकर तीनों वर्णोंके बालकोंको अक्षर-ज्ञान और संस्कार-ज्ञान कराते थे। ललितविस्तरमें विस्तारसे लिखा है कि विक्रमसे छः शताब्दी पूर्व गौतम बुद्धने प्रारम्भिक शिक्षाके लिये चटशालामें जाकर नीतिज्ञान, लिखना, पढ़ना और गणित सीखा था। भागवत पुराणमें भी लिखा है कि हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको गुरु षण्डामर्ककी चटशालामें पढ़ने भेजा था जहाँ अन्य बालक भी पढ़ते थे। पुराणों, इतिहासों और कथाओंमें स्थान-स्थानपर ऐसी चटशालाओं (चटसारों) का बहुत विस्तृत विवरण मिलता है। इन्हीं पाठशालाओंमें शिक्षा पा चुकने पर बालकोंको गुरुकुलमें और गुरुकुलके अभावमें नगर या तीर्थस्थित पाठशालामें अथवा काशी, कश्मीर, उज्जैन, तक्षशिला जैसे विद्या-नगरोंमें भेज दिया जाता था। ये चटशालाएँ खुले वायुमें, वृक्षोंके तले या वर्षा-धूपमें मड़ैयोंमें लगती थीं।

चटशालाओंकी पाठन-प्रणाली

इन चटशालाओंमें पढ़ानेका ढंग प्रायः वही था जो आजकल है। प्रारम्भमें वर्णमालाके वर्ण-क्रमसे सब अक्षर रटा दिए जाते थे और उस अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाले शब्दसे उसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाता था जैसे—**अ से अनार, आ से आम, इ से इमली** आदि। शिक्षाकी आर्थिक समस्याका समाधान करते हुए उन्होंने यह विधि अपनाई कि धरतीपर बालू बिछाकर बालककी उँगली पकड़कर या हाथमें छोटी-सी पतली लकड़ी देकर बालूपर लिखवाते चलते थे। आगे चलकर खड़ियासे लकड़ीकी पटरीपर लिखवाने लगे क्योंकि पटरीके प्रयोगका उल्लेख उपनयन-संस्कारके प्रसङ्गमें भी मिलता है। इसके पश्चात् वह घुली हुई खड़िया या कालिखमें सरकण्डे या नरकुलका कलम डुबोकर या तो काली या मुलतानी मिट्टी पुती हुई पटरीपर लिखता था या ताड़पत्रपर गोल नोकवाले लोहेके तकुएसे अध्यापक अक्षर बना देता था तब छात्र नरकुलके कलमसे उसपर स्याही फेरता था। अन्तमें जब उसका लिखनेका अभ्यास पक्का हो जाता था तब वह स्वयं या तो पटरीपर लिखता था या बाँसके

फरेटों और ताड़के पत्तोंपर लोहेके कलमसे लिखकर उसपर कालिख या नागफनीकी पकी फलीका लाल रस फेर देता था जिससे खुदे हुए अक्षर काले या लाल होकर चमक उठते थे। अलग-अलग अक्षरोंका अभ्यास करके वह संयुक्ताक्षरोंका अभ्यास करता था और तब क्रमशः शब्द और वाक्य सीख लेता था। इन सब चटसारोंमें एक ही अध्यापक होता था जो अवसर और आवश्यकता पड़नेपर बड़ी कक्षाके अग्रणी (विशेष छात्र या मौनीटर) की सहायता भी ले लेता था। यह शिष्याध्यापक-प्रणाली छात्रोंमें विनय-स्थापनकी दृष्टिसे तथा आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त हितकर और उपयोगी सिद्ध हुई इसीलिये डा० एण्ड्रू बेलने इसका प्रचार इंग्लैंडमें सफलतापूर्वक किया।

टोल

इसीसे मिलती-जुलती बंगालकी टोलें थीं। टोलकी रचना इस प्रकार की जाती थी कि एक क्षेत्रके बीच एक खुली मड़ैया डाल ली जाती थी जिसमें पण्डितजी अपने शिष्योंको पढ़ाते थे। उस मड़ैयाके तीन ओर फूससे छाई हुई लम्बी-लम्बी मिट्टीकी दीवारोंकी झोपड़ियाँ
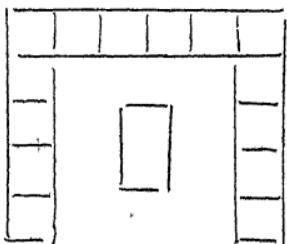
होती थीं जिनमें अत्यन्त सरलताके साथ अत्यल्प सामग्री लेकर सब छात्र अलग अलग कोठरीमें रहते थे जिनके पास लोटा, चटाई, कंबल, अँगोछे और लँगोटेके अतिरिक्त कोई परीवाप (बिस्तर-चौकी या फ़र्नीचर) नहीं होता था। अतः ये सावास-विद्यालय (रेजिडेंशल स्कूल) ही थे। गृहस्थ पण्डित प्रायः वहाँ रहते तो नहीं थे किन्तु पूरे दिनभर वे टोलमें ही आकर पढ़ाते-लिखाते और वहाँकी देखरेख करते थे।

इन टोलोंमें किसी छात्रसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। साधारणतः आस-पासके गाँववाले इन छात्रोंको अन्न-वस्त्र देते रहते थे किन्तु कभी-कभी पण्डितजीको ही अपने शिष्योंके लिये अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करनी पड़ती थी। उस समय तत्तत्स्थानीय धनिक तथा भूमिपति स्वयं उनके पास आकर अन्न और धन दे जाते थे और इसे अत्यन्त पुण्य समझते थे क्योंकि पण्डित लोग किसी पापी या क्रूरका अन्न-धन नहीं स्वीकार करते थे। प्रायः प्रत्येक टोलमें लगभग पच्चीस छात्र रहते और पढ़ते थे। अँगरेज़ोंके अमंगल पदार्पणसे पूर्व केवल बंगालमें ऐसी अस्सी सहस्र (८००००) टोलें थीं जिन्हें अँगरेज थोड़े ही समयमें हड़प गए।

पाठशाला

चटशालाओं और टोलोंसे कुछ ऊँचे मानके विद्यालयोंको पाठशाला कहते थे जो वर्त्तमान हाइ स्कूलके समकक्ष होती थीं। कोई लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक स्वयं अथवा किसी विद्या-प्रेमी शासककी प्रार्थना-पर सर्वसाधारणके बालकोंको उच्चतर शिक्षा देनेके लिये पाठशाला खोल देता था जिसमें व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्यौतिष, दर्शन, वेद तथा आयुर्वेदके साथ साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा धनुर्वेद आदि विषय भी अध्यापककी योग्यताके अनुसार पढ़ाए जाते थे। जो आचार्य जिस विषयका विद्वान् होता था वह उसी या उन्हीं विषयोंको पढ़ाता था। ऐसे ही विभिन्न विद्याओं, शास्त्रों और कलाओंके विद्वानोंने एकत्र होकर, काशी, तक्षशिला, उज्जयिनी, धार, नवद्वीप (नदिया) आदि स्थानोंको विद्या-केन्द्र बना दिया था जहाँ दूर दूरसे छात्र आकर अनेक विद्वानोंसे अनेक विद्याएँ सीखते थे। ये पाठशालाएँ गुरुओंके घर ही लगती थीं और ये गुरु अपने शिष्योंको विद्याके साथ अन्न-वस्त्र भी देते थे। प्रारम्भकी ऐसी वैदिक पाठशालाओंमें विभिन्न शास्त्र (षड्दर्शन) और आयुर्वेद आदि विज्ञान सिखाए जाने लगे और फिर धीरे-धीरे पौरोहित्य, कर्मकांड (यज्ञ करानेकी विधि), व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा स्मृति (धर्म-नीति) और ज्यौतिष भी पढ़ाया जाने लगा। श्रावणकी पूर्णिमासे

फाल्गुनकी पूर्णिमातक इनका वर्षसत्र चलता था। विनय इतना व्यापक था कि दंडका पूर्ण अभाव था।

राजसी विद्यालय

जैसे योरोपमें सम्राट् शार्ल माग्नेने प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री अलकूयिनकी सहायतासे प्रासाद-विद्यालय खोल दिए थे वैसे ही कुछ विद्या-व्यसनी शासक किसी प्रतिष्ठित विद्वान्को बुलाकर राजपुत्रोंको शिक्षा दिलानेके लिये प्रासाद-विद्यालय भी खोल देते थे जैसे धृतराष्ट्रने अपने पुत्रों और भतीजोंके लिये द्रोणाचार्यको नियुक्त किया था। किन्तु इनमें भी प्रथा यही थी कि राजपुत्र शिष्य भी गुरुके पास ही जाकर पढ़ते थे, गुरु उनके घर जाकर नहीं पढ़ाता था। कहीं-कहीं राजपुरोहित ही राजगुरु होते थे जैसे वशिष्ठजी थे। वहाँ भी राजपुत्रको ही गुरुके घर जाकर पढ़ना पड़ता था।

परिषद् या सावास विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतमें विद्याकी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था परिषद् थी। ये परिषदें इने-गिने विशिष्ट विद्वानोंकी गोष्ठियाँ थीं जो समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओंपर विचार करके समय, नीति, धर्म और औचित्यके अनुसार व्यवस्था या निर्णय देतीं थी और इनकी दी हुई व्यवस्था समान रूपसे राजा और प्रजा दोनोंको मान्य होती थीं। जब भी कोई धार्मिक या सामाजिक समस्या या अड़चन उपस्थित होती थी तभी परिषद्की बैठक होती थी और विद्वान् लोग अपनी व्यवस्था दे देते थे। इन परिषदोंके सब सदस्य विशिष्ट विद्वान् अध्यापक ही होते थे और जैसे यूनानमें अध्यापक (पैदागौग) ही राजनीतिज्ञ (दैमागोग) भी होते थे वैसे ही ये भी धर्म, समाज और राजनीतिपर शासन करते थे। धीरे-धीरे इन विशिष्ट विद्वानोंकी विद्वत्ता, निरीहता, आत्मत्याग और सुशीलतासे आकृष्ट होकर अनेक विद्वान् और छात्र इनके पास अध्ययन करने या शंका-समाधान करने

आने लगे और धीरे धीरे इन परिषदोंने महागुरुकुलों या सावास विश्वविद्यालयोंका रूप धारण कर लिया।

इन परिषदोंमें प्रायः इक्कीस ब्राह्मण सदस्य होते थे जो वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र और नीतिके प्रकाण्ड पण्डित होते थे। किन्तु यह कोई बँधी हुई संख्या नहीं थीं। आदर्श संख्या तो दस थी पर वह आवश्यकताके अनुसार घटकर चारतक भी आ गई थी। परिषद्के सदस्योंमेंसे चार तो सब वेदोंके ज्ञाता होते थे, शेष विभिन्न शास्त्रों तथा धर्मशास्त्रोंके पण्डित होते थे। कभी-कभी तो विभिन्न आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के प्रतिनिधि ही परिषद्के सदस्य होते थे और इस प्रकार विद्वानोंके साथ ब्रह्मचारी भी यह सम्मान प्राप्त करके अपने आश्रमकी समस्याओंपर अपना स्पष्ट मत देता था। इस श्रेणीका विद्याकेन्द्र एक काशी और दूसरा गांधारकी राजधानी तक्षशिला नगर था जो वर्त्तमान रावलपिंडी नगरके पास समवस्थित था और अपने समयमें ब्राह्मण-विद्या या वैदिक विद्याका वैसा ही सर्वप्रमुख गढ़ था, जैसा ज्यौतिषके लिये उज्जैन और बौद्ध शिक्षाके लिये नालन्दा।

शिक्षागुरु और दीक्षागुरु

इन गुरुओंमें आगे चलकर दो भेद हो गए—एक शिक्षा-गुरु दूसरे दीक्षागुरु। जो केवल विभिन्न शास्त्र पढ़ाता था वह शिक्षा-गुरु कहलाता था और जो उपनयनके पश्चात् छात्रको अपने साथ रखकर उसे आचार-विचार सिखाता था वह दीक्षागुरु कहलाता था।

गुरु

हमारे यहाँ गुरुका अत्यन्त महत्त्व बताया गया है। उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म, ब्रह्मका दर्शन करानेवाला और अज्ञान नष्ट करनेवाला बताया गया है। उन दिनों प्रत्येक व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता था। यह अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही था, यहाँतक कि शस्त्रविद्या,

युद्धविद्या तथा अर्थविद्या भी वे ही पढ़ाते थे। विश्वामित्र और परशुराम जैसे कुछ तपस्वियोंने ब्राह्मणत्व सिद्ध करके अध्यापन-कार्य अवश्य किया था अन्यथा सान्दीपनि तथा द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण आचार्य ही धनुर्वेदकी शिक्षा भी देते थे। हाँ, इतनी छूट अवश्य थी कि जबतक ब्राह्मण शिक्षक न मिले तबतक क्षत्रिय गुरुसे भी विद्या प्राप्त की जा सकती थी और ब्रह्मज्ञान तो किसी भी वर्णके अधिकारीसे प्राप्त किया जा सकता था।

आदर्श गुरु

इस प्रकारके वातावरणमें गुरुकुलोंकी उदात्त परम्परासे पुष्ट जो विद्वान् निकलते थे वे सार्वजनिक संस्थाओं या व्यक्तियोंके सेवक होकर नहीं वरन् अपने व्यक्तिगत तेजसे ज्ञानदान करते थे। यद्यपि विद्वत्परिषद्का विधान उस युगमें था किन्तु बौद्धसंघोंके समान ब्राह्मणोंने अपना कभी कोई संघ नहीं बनाया और इसीलिये आजकल विश्व-विद्यालयका जो अर्थ माना जाता है उस अर्थमें काशी या तक्षशिलाके विश्वविद्यालय नहीं थे। उन नगरोंके विद्वान् स्वतः प्रेरणासे अध्यापन करते थे, किसीके सेवक या आश्रित होकर नहीं। उन आचार्योंमें इतनी उदारता भी थी कि वे अपने यहाँ पढ़नेवाले छात्रोंको रहनेके लिये स्थान भी देते थे और उनके भोजनकी भी व्यवस्था करते थे। यहींतक नहीं, यदि उनके शिष्य किसी अन्य आचार्यसे कोई दूसरी विद्या पढ़ना चाहते तो उन्हें दूसरे गुरुसे पढ़नेकी सुविधा भी देते थे।

चार प्रकारके शिक्षक

स्मृतियोंने चार प्रकारके शिक्षक माने हैं—क—कुलपति। ख—आचार्य। ग—गुरु। घ—उपाध्याय।

जो विद्वान् ब्रह्मर्षि एक साथ दस सहस्र मुनियों (विद्याका मनन करनेवाले ब्रह्मचारियों) को अन्न-वस्त्र देकर पढ़ाता था वह कुलपति

कहलाता था। जो विद्वान् अपने छात्रोंको कल्प (यज्ञकी क्रिया), रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता था वह आचार्य कहलाता था। जो विद्वान् ब्राह्मण, मन्त्र, और वेदांग पढ़ाता था वह उपाध्याय कहलाता था और जो विद्वान् अपने छात्रोंको भोजन देकर वेद-वेदांग पढ़ाता था वह गुरु कहलाता था। उस समय यह विश्वास था कि विद्या-दान्से बढ़कर कोई दान नहीं है क्योंकि विद्या पढ़ानेसे एक जीवकी मुक्ति हो जाती है। इसीलिये कहा गया है—'सब दानोंमें विद्याका ही दान सर्वश्रेष्ठ है' क्योंकि विद्यासे अमृतत्व प्राप्त होता है और विद्या वही है जो जीवको मुक्त कर दे। इसीलिये अनेक त्यागी, निर्लोभी ब्राह्मण अत्यन्त यत्नपूर्वक, सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर, लोक-कल्याणकी कामनासे छात्रोंको विद्या पढ़ाते थे और उनके पुनीत चरित्रसे प्रभावित होकर लोग अपने बालकोंको उनके पास ले जाते थे।

गुरुका सम्मान

गुरुका इतना सम्मान था कि राजाओंतकके पुत्र भी गुरुके घर, गुरुके पास रहकर पढ़ते थे। इसीलिये गुरुकुल-वासका अधिक महत्त्व माना जाता था क्योंकि गुरुके पास पहुँचकर विद्यार्थी अपने घरका सुख और वैभव भूलकर अपने गुरुके घरका प्राणी बनकर रहता था। यही गुरुकुल-वास कहलाता था।

जाति-स्वभाव

वर्णाश्रम-धर्मकी व्याख्या करते हुए बताया जा चुका है कि प्रत्येक द्विजाति-बालकको जीवनके प्रथम पच्चीस वर्ष गुरुकुलमें बिताने पड़ते थे। श्रीमद्भागवत्के एकादश स्कन्धमें बताया गया है कि विभिन्न वर्णोंके कुछ निश्चित स्वभाव हैं जो उचित विकासका अवसर प्राप्त करनेपर ही उचित रूपसे खिल पाते हैं। उसमें बताया गया है कि शम (इच्छाओंको शान्त करना), दम (इन्द्रियोंको वशमें रखना), तप (शरीरको सहनशील बनाकर जीवात्माकी शुद्धि

करना), शौच (शारीरिक और मानसिक शुद्धि), सन्तोष, क्षमा, सरलता (निश्छल होना), ईश्वर-भक्ति, दया और सत्य-व्यवहार, ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं; अर्थात् ब्राह्मणको इस प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा दी जाय कि वह इस स्वभावको पूर्णतः अपना ले । तेज (प्रताप), बल, धैर्य, शूरता, सहनशीलता, उदारता, उद्यम, दृढ़ता, ब्राह्मणोंमें भक्ति और ऐश्वर्य, ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं। क्षत्रियोंकी शिक्षा इस प्रकारकी होनी चाहिए कि उनमें उपर्युक्त संस्कार स्थिर हो सकें। आस्तिकता (ईश्वरमें विश्वास), दानशीलता, दम्भहीनता, तन-मन-धनसे ब्राह्मणोंकी सेवा, धन-संचय करनेकी निरन्तर प्रवृत्ति; ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं। वैश्योंको ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे अपने जातिगत स्वभावसे सम्पन्न हो सकें। निश्छल भावसे गौ, देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा करना तथा जो मिले उसमें सन्तुष्ट रहना शूद्रका स्वभाव है। अशुद्ध रहना, झूठ बोलना, चोरी करना, नास्तिकता, अकारण कलह करना, काम, क्रोध और लोभ करना, ये चाण्डाल, श्वपच तथा अन्त्यज वर्णसंकर जातियोंके स्वभाव हैं। अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, काम और लोभसे दूर रहना, प्राणियोंका प्रिय और हित करनेकी चेष्टा करना; ये सब वर्णोंके लिये आवश्यक हैं।

उपनयनकी महिमा

इसी प्रसंगमें यह आदेश दिया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके छात्रोंको चाहिए कि गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारोंके उपरान्त यज्ञोपवीत या उपनयन नामक दूसरा जन्म होनेपर जितेन्द्रिय और नम्र होकर गुरुकुलमें वास करे। स्मृतियोंमें भी उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रमकी बड़ी महिमा बताई गई है। उपनयनका सीधा अर्थ है पास ले जाना अर्थात् गुरुके पास ले जाना। शूद्रोंको पंचम वेद (इतिहास पुराण तथा नाट्य) सुनने-पढ़नेका अधिकार था अतः उनके लिये न तो गुरुकुल जानेकी आवश्यकता थी न उपनयनकी।

गुरुकुल-आश्रम

गुरुकुल-आश्रम किसी नदी या विस्तृत स्वच्छ जलवाले सरोवरके पास, नगरके कोलाहलसे दूर किसी ऐसे वन या उपवनमें स्थापित किया जाता था जहाँ आश्रमकी गौओंके चरने, कुश और समिधा प्राप्त करने तथा विद्यार्थियोंके निवास, अध्ययन, व्यायाम और धनुर्विद्याके अभ्यास् आदिके लिये पर्याप्त स्थान तथा स्वच्छ जलवायु प्राप्त होता था।

प्रवेश

ब्राह्मणके पुत्रको गर्भसे आठवें वर्ष, क्षत्रियके पुत्रको गर्भसे ग्यारहवें वर्ष और वैश्यके पुत्रको गर्भसे बारहवें वर्ष गुरुकुल पहुँचा दिया जाता था। यह संस्कार उपनयन या 'गुरुके पास पहुँचानेका संस्कार' कहलाता था। गुरुकुलमें शुल्क नहीं लिया जाता था। बालकसे गुरु पूछते थे— 'कस्य ब्रह्मचारी असि' (तुम किसके ब्रह्मचारी हो?)। वह कहता था—'भवतः' (आपका)। फिर उसका नाम पूछा जाता था और वह भर्ती कर लिया जाता था।

उपनयनका काल

धर्मशास्त्रमें बताया गया है कि साधारणतः गर्भाधानके आठवें वर्षमें ब्राह्मणका, ग्यारहवेंमें क्षत्रियका और बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करना चाहिए। किन्तु यदि ब्राह्मण अपने पुत्रको ब्रह्म-तेजसे युक्त बनाना चाहे तो पाँचवें वर्षमें, यदि क्षत्रिय अपने पुत्रको बल-शाली बनाना चाहे तो छठे वर्षमें, यदि वैश्य अपने पुत्रको अत्यन्त धनी बनाना चाहे तो आठवें वर्षमें अपने पुत्रका उपनयन करे अर्थात् उसे गुरुके पास पहुँचा दे।

उपनयनकी विधि

उपनयनके समय आए हुए बालकका नाम पूछकर गुरु उसे दीक्षित कर लेता है और वर्णके अनुसार उसे ओढ़नेको मृगछाला, धारण करनेको दण्ड, यज्ञोपवीत और मेखला देता है। इसके लिये विधान है कि

ब्राह्मणको कृष्णसार मृगका, क्षत्रियको रुरु मृगका और वैश्यको बकरेके चर्मका उत्तरीय (ऊपरका ओढ़ना) ओढ़नेको देना चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मणको सनका, क्षत्रियको रेशमका और वैश्यको भेड़के बालका लँगोटा या अचला (अधोवस्त्र) पहननेको देना चाहिए। ब्राह्मणको मूँजकी, क्षत्रियको ताँतकी (कुछ लोगोंके मतसे मुरवा नामक लताकी) और वैश्यको सनकी बनी मेखला देनी चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मणको कपासका, क्षत्रियको सनका और वैश्यको मेढ़ेके बालका उपवीत पहनाया जाता था। ब्राह्मणको उसकी चोटीके बराबर ऊँचा बेल या पलाशका दण्ड, क्षत्रियको उसके ललाटतक ऊँचा बट या खैरका दण्ड और वैश्यको उसकी नाकके बराबर ऊँचा पीलू या गूलरका दण्ड दिया जाता था।

ब्रह्मचारीको उपदेश

यज्ञोपवीतके समय ब्रह्मचारीको ये उपदेश दिए जाते थे—

"धरतीपर सोओ। खाँड़ और नमकीन पदार्थ न खाओ। दण्ड और मृग-चर्म धारण करो। स्वयं गिरी हुई समिधा (पलाशकी लकड़ी) जंगलसे लाओ। सायं-प्रातः सन्ध्या-उपासना-हवन करो। गुरुकी सेवा करो। भोजनके लिये सायं-प्रातः गाँव-नगरमें जाकर अलग-अलग घरोंसे दो बार भिक्षा माँगकर लाओ। मधु-मांस कभी न खाओ। डुबकी लगाकर कभी न स्नान करो, किसी पात्रसे जल निकालकर नहाओ। कुशके आसनपर तकिया लगाकर न बैठो। स्त्रियोंके बीच कभी न बैठो। कभी झूठ न बोलो। बिना दी हुई कोई वस्तु किसीसे न लो। यम (अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) का पालन करो। पहननेके वस्त्रोंको बिना धोए न धारण करो। फटे-पुराने वस्त्र न पहनो। किसीकी बुराई न करो। बासी अन्न, मिठाई और पान न खाओ। तेल, आँजन, जूता, छतरी और दर्पणका प्रयोग न करो।"

शिक्षामें शिष्टाचार

तात्पर्य यह है कि गुरुकुलमें छात्रोंके संयत विकासके लिये जहाँ सात्त्विक भोजन, सादा कठोर जीवन नियमित नित्यक्रियाका विधान था वहाँ आचार-विचार अर्थात् शिष्टाचारपर भी बड़ा ध्यान दिया जाता था। गुरुकुलमें पहुँचनेके पश्चात् शिष्यको पहले शिष्टाचारकी ही शिक्षा दी जाती थी—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिष्टाचारांश्च शिक्षयेत्।

[गुरुका धर्म था कि उपनयन करके शिष्यको शिष्टाचारकी शिक्षा दे।] इस शिष्टाचारके अन्तर्गत उठना-बैठना, बातचीत करना, अभिवादन करना, सहपाठियोंके साथ बर्ताव, व्यवहार, अतिथिके साथ व्यवहार, गुरुपत्नीका आदर, गुरुपुत्रों तथा गुरुपुत्रियोंके प्रति भाई-बहनका-सा व्यवहार आदि कार्य थे।

इस शिष्टाचारके साथ-साथ गुरुकुलकी परिपाटीके अनुसार नियमित नित्य कर्म, सन्ध्या-वन्दन, हवन, गुरु-शुश्रूषा तथा अपनेसे बड़े अन्तेवासी छात्रोंके प्रति आदर-भावकी प्रेरणासे छात्रोंका आचरण और स्वभाव व्यवस्थित होता चलता था और जब वह छात्र बाह्य शिष्टाचारमें भली प्रकार सिद्ध हो चुकता था तभी उसे विद्याध्ययन प्रारम्भ कराया जाता था।

पाठ्य-क्रम

प्रत्येक बालकको सांस्कारिक, नैतिक, शारीरिक, व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा दी जाती थी। सांस्कारिक शिक्षाके अन्तर्गत तीन वेद (ऋक्, यजुः और साम), वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द और व्याकरण), दर्शन तथा नीतिशास्त्र पढ़ाया जाता था जो सभीको पढ़ना पड़ता था। अलग-अलग वर्णके छात्रोंके लिये वेद और उन वेदोंकी अलग-अलग शाखाओंके अध्ययनका विधान था। उसीके अनुसार सबको वेद और वेदांग पढ़ाए जाते थे। नैतिक शिक्षा कुछ तो उपदेशसे और कुछ आश्रममें पारस्परिक

सेवा, स्नेह और सहयोगके वातावरणसे ही प्राप्त हो जाती थी जिसमें छात्र यह सीखते थे कि स्वयं असुविधा और कष्ट झेलकर भी दूसरेको सुख पहुँचाना चाहिए और सहनशीलताका व्यवहार करना चाहिए। शारीरिक शिक्षाके लिये प्राणायाम और व्यायामका विधान था। क्षत्रिय बालकोंको शारीरिक संपन्नताके लिये धनुष-बाण, करवाल आदिके संचालन तथा अश्वारोहणकी शिक्षा भी दी जाती थी। इसके अतिरिक्त जंगलसे लकड़ी लाना, नदीसे जल लाना, कुश, आरने और समिधा एकत्र करना आदि तो स्वतः अनेक प्रकारकी व्यायाम-क्रियाएँ थीं।

व्यावहारिक शिक्षाके निमित्त संध्याको सायं-हवनके पश्चात् सब अन्तेवासियोंको इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, कथावार्त्ता, भौगोलिक वर्णन तथा नए समाचार सुना या बता दिए जाते थे जिससे छात्रोंका व्यावहारिक ज्ञान अभिनव बना रहता था। व्यावसायिक शिक्षा वर्णोंके अनुकूल दी जाती थी। ब्राह्मणोंको पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषय पढ़ाए जाते थे। क्षत्रियको दण्ड-नीति, राजनीति, सैन्य-शास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि विषय पढ़ाए जाते थे और वैश्यको पशु-पालन, कृषि-शास्त्र व्यवसाय-शास्त्र पढ़ाया जाता था। इन विषयोंके अतिरिक्त आयुर्वेद आदि विषयोंको सीखनेकी स्वतन्त्रता सभीको थी। भागवत पुराणमें लिखा है कि श्रीकृष्णने चौंसठ दिनोंमें चौंसठ कलाएँ सीखी थीं। अतः अनिवार्य विषयोंके अतिरिक्त सबको कोई भी विद्या सीखनेकी छूट थी। ललितविस्तरमें गौतमके सम्बन्धमें भी ऐसा ही विवरण है कि उन्होंने भी अनेक विद्याएँ गुरुसे सीखी थीं। पच्चीस वर्षकी अवस्थातक तीनों वर्णोंकी विद्याएँ पूर्ण हो जाती थीं किन्तु ब्राह्मणोंको यह छूट थी कि वे चाहें तो जीवन भर विद्यार्जन कर सकते थे—'यावज्जीवमधीते विप्रः।'

विद्याओंके चार भाग

ऊपर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामके जो चार पुरुषार्थ गिनाए

गए हैं इनकी सिद्धिके निमित्त सब विद्याओंको चार भागोंमें बाँट दिया गया था जिन्हें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र कहते हैं। वेदोंका कर्मकाण्ड और तदन्तर्गत तदधीन सम्पूर्ण साहित्य 'धर्मशास्त्र' के अन्तर्गत आता है। 'अर्थशास्त्र' या 'अर्थवेद' स्वयं एक उपवेद ही है जो अथर्ववेदके अधीन है और जिसके अन्तर्गत तथा अधीन सम्पूर्ण अर्थशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य है। 'कामशास्त्र' या 'कला-शास्त्र'के अन्तर्गत सामवेद, गान्धर्व-वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य और तदन्तर्गत सम्पूर्ण कला-साहित्य है। मोक्षशास्त्रके अन्तर्गत वेदोंका ज्ञान-काण्ड, उपासना-काण्ड समस्त दर्शन तथा सम्पूर्ण मोक्ष-साहित्य है।

यद्यपि अट्ठारह विद्याओंमें इन चारों रूपोंका समावेश हो जाता है तथापि कामशास्त्रमें कुछ विशेष विद्याएँ बताई गई हैं जिन्हें चौंसठ कलाएँ या महाविद्याएँ कहते हैं। यद्यपि इन चौंसठोंमेंसे अनेकका समावेश इन अठारहोंमें भी यत्र-तत्र होता है तथापि किसी एक स्थानपर विशेष रूपसे इनकी सूची नहीं दी गई है। इनमें विनय और शिष्टाचार, अभिधान-कोश और छन्दोंका ज्ञान, काव्यकला, अनेक भाषाओंका ज्ञान इत्यादिका भी समावेश हुआ है। गुरुकुलोंमें कामशास्त्र तथा तत्संबद्ध किसी विषयकी शिक्षा नहीं दी जाती थी क्योंकि इस शास्त्रको गृहस्थाश्रममें गृहस्थ स्वयं सीखता था।

दैनिक कार्य-क्रम

ब्राह्ममुहूर्त्त (पौ फटनेके समय) में उठना, नित्यकर्म (शौच, स्नान, संध्या) से निवृत्त होकर आश्रमके लिये कुश, जल, समिधा लाना, आश्रम बुहारना, गौएँ दूहना, हवन करना, दूध पीकर गुरुजीके पास जाकर दाहिने हाथसे गुरुजीका दायाँ पैर और बाएँ हाथसे बायाँ पैर छूकर झुककर उन्हें प्रणाम करना, चुपचाप बैठकर गुरुजीका पढ़ाया हुआ पाठ सुनना, पाठ पूर्ण हो जानेपर गुरुजीकी आज्ञासे शंका-समाधान करना, मध्याह्नमें पासके नगर या ग्राममें जाकर सिद्धान्न (पका हुआ शुद्ध अन्न) भिक्षामें लेना जिसमें कोई तामसी पदार्थ (प्याज़, लहसुन,

मांस, मदिरा आदि) न हो, भिक्षान्न लाकर गुरुजीको देना, उनका दिया हुआ भक्ष्य लेकर मौन होकर भोजन करना, भोजनके पश्चात् विश्राम करके प्रातःकाल पढ़े हुए पाठको आपसमें बैठकर विचारना, सन्ध्याको व्यायाम करना, गौ चराना, आश्रम शुद्ध करना, कुश, लकड़ी, समिधा, फल और जल लाना, सायंकालकी नित्य-क्रिया, शौच-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर गौ दूहना, हवन करना और सायंकाल गुरुजीसे अथवा किसी अभ्यागत ऋषि-मुनि या साधु-विद्वान्से इतिहास, पुराण, कथा-वार्त्ता सुनना, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध और वयोवृद्ध जनोंका एक पहर रात गए सो जाना और दो ही पहर सोकर उठ जाना।

शिक्षण-विधि

प्रायः प्रश्नोत्तरी-प्रणालीसे ही प्रधानतः शिक्षा दी जाती थी अर्थात् पढ़ा चुकनेके पश्चात् शिष्य प्रश्न करते थे और गुरुजी उत्तर देते थे। सब ज्ञान कंठस्थ कर लिया जाता था। शुद्ध उच्चारणका बड़ा महत्त्व था और यह महत्त्व साधारण ग्रामोपाध्याय या खण्डिकोपाध्याय भी समझते थे— [उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तः करोति, खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।—महाभाष्य] जो उदात्तके बदले अनुदात्त कर देता था, उसे खण्डिकोपाध्याय चाँटा जड़ देते थे।

व्याख्या-प्रणाली

स्वयं अनुभवके लिये भी कभी-कभी छात्रोंको निर्देश कर दिया जाता था और गुरुके निर्देशानुसार छात्र अभ्यास करता हुआ ज्ञान प्राप्त करता चलता था। अधिकांश शिक्षा व्याख्या-प्रणाली-द्वारा गुरुमुखसे ही दी जाती थी अर्थात् गुरु ही स्वयं किसी शास्त्र या विषय लेकर उसकी स्वयं व्याख्या करते थे और छात्र केवल मूक और मौन श्रोता बनकर बैठे रहते थे। पाठ समाप्त हो चुकनेपर छात्र प्रश्न करते थे। जिन विषयोंकी व्यावहारिक शिक्षा अपेक्षित होती थी उनके लिये प्रायोगिक शिक्षणकी भी व्यवस्था की जाती थी। हमारे यहाँ यह माना जाता

था कि गुरुसे चौथाई ज्ञान मिलता है, दूसरा चौथाई स्वयं छात्र अपनी मेधासे पूरा करता है, तीसरा चौथाई वह साथियोंके साथ विचार करके सीखता है और शेष चौथाई अपने आप समय-समयपर पूरा होता चलता है—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया ।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण तु ॥

शंका-समाधान और कंठाग्रीकरण

शिक्षण-पद्धतिमें इस बातपर विशेष ध्यान दिया जाता था कि अध्यापक या गुरु जो कुछ सिखावे या पढ़ावे उसे छात्र कण्ठ कर लें। इसीलिये पुस्तकोंके सहारे पढ़नेका क्रम ही बुरा समझा जाता था। शंका-समाधानकी प्रणालीसे यह अवसर ही नहीं रह पाता था कि छात्रके मनमें किसी प्रकारके ज्ञानमें कोई भी भ्रम अवशेष रह जाय। इस शिक्षणके साथ-साथ, पारस्परिक पाठ-विचार और मनन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद्में कथा आई है कि वरुणने जब अपने पुत्र भृगुको अध्यात्म-सम्बन्धी विशेष ज्ञान दे दिया तब उससे कहा कि अब तुम स्वयं इसपर विचार करके, मनन करके इस विद्याको आत्मसात् करो।

छिद्रान्वेषणका-निषेध

इस प्रकारके मनन, शंका-समाधान और पारस्परिक विवेचनकी पूर्ण स्वतन्त्रता होते हुए भी अनावश्यक आलोचना, छिद्रान्वेषण, निरर्थक हठ-पूर्ण वाद-विवाद अथवा कुतर्कके लिये शिष्योंको कभी प्रोत्साहित नहीं किया जाता था क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य ही था—जिज्ञासाको जागरित करना और विवेकका परिष्कार करना। यास्कने स्पष्ट रूपसे आज्ञा दी है कि जो शिष्य अपने गुरुमें दोष ढूँढे और अपने सहपाठियोंसे विद्वेष करे उसे शास्त्र कभी नहीं पढ़ाना चाहिए। स्मृतियोंमें ऐसे विद्यार्थियोंके लिये दण्ड और प्रायश्चित्तका विधान भी किया गया है।

पाठनक्रम

उशनस् सूक्त (८१–८२) में बताया गया है कि व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, पैल और जैमिनिको वेदकी शिक्षा देते हुए अपना पाठन-क्रम यह रक्खा था कि पहले वे पाठके विषयका परिचय दे देते थे, फिर उसकी व्याख्या करते थे, तदनन्तर उसका उपसंहार होता था। इसीको क्रमशः पाठ, विधि और अर्थवाद कहते थे। उस समय व्याख्या और अर्थका बड़ा महत्त्व समझा जाता था। जो विद्यार्थी केवल विद्या कण्ठ कर लेते थे और उसका अर्थ नहीं जानते थे वे भारवाही पशु समझे जाते थे। दक्षस्मृतिमें भी वेदाध्ययनका क्रम पाँच प्रकारका बताया गया है—(१) वेदोंका महत्त्व स्वीकार करना, (२) ऊहापोह (तर्क-वितर्क करना), (३) अध्ययन, (४) सस्वर उच्चारण और (५) मनन। वाचस्पति मिश्रने दर्शनके अध्ययनका क्रम बताया है—(१) अध्ययन (शब्द सुनना), (२) शब्द (अर्थका बोध करना), (३) ऊह (तर्क-वितर्क) (४) सुहृत्प्राप्ति (मित्र अथवा अध्यापक-द्वारा समर्थन) और (५) दान (प्रयोग)। अपनी पुस्तक 'किस प्रकार सोचना चाहिए' (हाउ टु थिंक) में ड्यूईने भी लगभग यही क्रम दिया है—(१) प्रश्न और उसका स्थान, (२) व्यंजना और निर्वचन तथा (३) प्रयोग। कामन्दकने विस्तारसे अध्ययनका ढंग यह बतलाया है—

शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थ-विज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः॥

अर्थात् (१) शुश्रूषा (सुननेकी इच्छा), (२) श्रवण (सुनना), (३) ग्रहण (स्वीकार), (४) धारणा, (५) ऊहापोह (तर्क-वितर्क), (६) अर्थ-विज्ञान (ठीक अर्थको समझना), और (७) तत्त्वज्ञान (यथार्थ-बोध)।

शिष्य-गुरु प्रणाली (मौनिटोरियल सिस्टम)

आचार्य या गुरु तो सबसे ऊपरके वर्गके छात्रोंको ही पढ़ाते थे। ऊपरके छात्र अपनेसे नीचेके छात्रको पढ़ाते थे और वे अपनेसे नीचे-

वालोंको। इस प्रकार वहाँ सब गुरु ही गुरु रहते थे और वही सचमुच गुरुकुल होता था क्योंकि केवल सबसे नीचेके वर्गमें ही छात्र रह जाते थे।

विनय और शील

उपर्युक्त व्यवस्थासे सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि पूरे गुरुकुलमें व्यापक रूपसे विनय और शीलकी भावना व्याप्त रहती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको गुरु समझकर मर्यादाका पालन करता था और शिष्य समझकर अपनेसे बड़ोंमें गुरु-भाव स्थापित करके अत्यन्त शील और शिष्टाचारका व्यवहार करता था। यही कारण था कि दुःशीलता, अविनय, दुष्टता, मारपीट, कलह आदिकी घटनाएँ वहाँ सुननेको भी नहीं मिलती थीं।

गुरुका शिष्यके प्रति कर्त्तव्य

गुरुका कार्य केवल पढ़ाना भर नहीं था। उसका यह भी धर्म था कि वह छात्रोंके आचरणकी रक्षा करे, उनमें सदाचारकी भावना भरे, उनकी योग्यताके संवर्धनमें योग दे, उनके कौशल और उनकी प्रतिभाकी सराहना करके उनकी सर्वांगीण अभिवृद्धिमें सहायता करे, वात्सल्य-भावसे उनकी देखरेख करे, उनके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध करे, छात्रोंके रोगी होनेपर उनकी सेवा करे, जब वे विद्या प्राप्त करने या शंका मिटाने आवें उसी समय उनकी शंकाका समाधान करे, उन्हें अपने घरका अपना बालक समझे अर्थात् उनमें शुद्ध पुत्र-भाव स्थापित करे और यदि वे बुद्धि-कौशलमें अपनेसे बढ़ जायँ तो इसे अपना गौरव समझे क्योंकि 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्राच्छिष्यात् पराजयः।' [सबसे विजयकी कामना करे किन्तु पुत्र और शिष्यसे पराजयकी ही इच्छा करे।] अर्थात् यह इच्छा करे की पुत्र या शिष्य हमसे आगे बढ़ जाय।

शिष्यका गुरुके प्रति कर्त्तव्य

छात्र भी गुरुको पिता और देवता समझते थे। 'आचार्यदेवो भव' की उन्हें शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी सब समान भावसे रहते थे। उनमें छोटे-बड़े, राजा-रंक, धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं होता था। गुरुके एक-एक वाक्यको छात्र अपने लिये अमृत-वाक्य समझता था, उनकी सेवा करनेमें वह सात्विक गौरव मानता था। वह सब प्रकारसे गुरुकी कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था। यही कारण था कि उस समयके सब छात्र एकसे एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे। गुरुकुलके छात्र अपने गुरुओंके पैर दाबते थे, उनके बर्तन माँजते थे, उनके लिये जल लाते थे, उनके इंगितपर सब सेवा-कार्य करते थे, उनका आदर करते थे। वे सदा गुरुजीके पीछे रहते थे। गुरु यदि पास बुलाते तो बाईं ओर खड़े होकर बात सुनते थे, वे यदि हाथमें कुछ लेकर चलते तो शिष्य उनके हाथसे ले लेते थे अर्थात् जितने प्रकारसे भी हो सकता, वे सेवा करते थे और अपने सामने गुरुजीको किसी प्रकारका कष्ट या किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होने देते थे। अध्ययनके समय गुरुके दोनों पैर धोकर, आचमन करके गुरुके सामने बैठकर अध्ययन करते थे।

अनध्याय (छुट्टी)

सब विद्यार्थी गुरुकुलमें ही रहते थे और तबतक घर नहीं लौटते थे जबतक पूरी विद्या नहीं प्राप्त कर लेते थे, इसलिये जिस प्रकारकी छुट्टी आजकल होती है ऐसी कोई छुट्टी वहाँ नहीं होती थी। वहाँ विशेष अवसरोंपर अनध्याय होता था अर्थात् पढ़ाई बन्द कर दी जाती थी। किसी विशेष अतिथिके आ जानेपर, अष्टमी, चतुर्दशी, प्रतिपद्, अमावास्या, पूर्णिमा, महामरणीको पढ़ाई नहीं होती थी और यह माना जाता था कि—

'अष्टमी गुरुहन्ता च शिष्यहन्ता चतुर्दशी।'

[अष्टमीको पढ़ानेवाले गुरुकी मृत्यु हो जाती है और चतुर्दशीको पढ़नेवाले शिष्यकी ।'] इसके अतिरिक्त चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, संक्रान्ति, वर्षा, विशिष्ट पर्वोत्सव, राजाका अभिषेक, राजा या किसी विशिष्ट पुरुष का अवसान, अन्तेवासीकी मृत्यु अथवा अन्य ऐसे अवसरोंपर ही अनध्याय होता था। इसके अतिरिक्त वर्षा, बिजली, मेघगर्जन, 'भूकंप आदि प्राकृतिक विषमताओं और उपद्रवोंपर भी अनध्याय होता था।

ब्रह्मचारीकी जीवन-चर्या

गुरुकुलमें ब्रह्मचारीका धर्म था कि "गुरुके बुलानेपर निकट जाकर उनसे वेदाध्ययन करे और मनमें मननपूर्वक वेदका अर्थ विचारे। मौंजी, मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु धारण करे। शिर न मलनेके कारण स्वयं बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, दन्तधावन करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुश धारण करे, स्नान, भोजन, हवन, जप और मलमूत्र-त्यागके समय मौन रहे, नख न काटे और कक्ष तथा उपस्थके ऊपरके भी रोम न बनावे—वैसे ही बढ़े रहने दे। ब्रह्मचारी भूलकर भी कभी वीर्यपात न करे। यदि स्वप्नावस्थामें असावधानतावश कभी आप-ही-आप वीर्यपात हो भी जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्री मन्त्रका जप करे। पवित्र और एकाग्र होकर प्रातःकाल और सायंकाल दोनों संध्याओंमें मौनावलम्बनपूर्वक गायत्री जपता हुआ, अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़े और देवताओंकी उपासना एवं सन्ध्यावन्दन करे। आचार्यको साक्षात् ईश्वर-रूप समझे, साधारण मनुष्य मानकर गुरुकी उपेक्षा या अपमान न करे और न उनकी किसी बात या व्यवहारका बुरा माने क्योंकि गुरु सर्वदेवमय हैं। सायंकाल और प्रातःकाल जो कुछ भिक्षा मिले एवं और भी जो कुछ मिले वह सब लाकर गुरुके आगे धर दे और गुरुके भोजन कर चुकनेपर, गुरुकी आज्ञा पाकर संयत भावसे उसमेंसे आप भी भोजन करे। नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर

गुरुके निकट ही रहकर सब समय गुरुकी सेवा करे। गुरु चलें तो आप पीछे-पीछे चले, गुरु सोवें तभी सोवे, गुरु लेटें तो आप पास बैठकर पैर दबाता रहे। जबतक पढ़ना समाप्त न हो तब-तक अस्खलित ब्रह्मचर्य-व्रतको पालता हुआ पूर्णतः भोग-त्याग पूर्वक गुरुकुलमें रहे। यदि महर्लोक, जनलोक, तपलोक, अथवा जहाँ सब वेद मूर्तिमान होकर रहते हैं उस ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य) धारण करके अपना शरीर गुरुको अर्पण कर दे, अर्थात् जबतक जीवित रहेतबतक गुरुकी सेवामें रहकर अधिकाधिक अध्ययन करे और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे। ब्रह्मतेज-सम्पन्न, निष्पाप बालब्रह्मचारी-को चाहिए कि अग्नि, गुरु, आत्मा और सब प्राणियोंमें परमेश्वरकी भावना करे और भेदभावको छोड़ दे। गृहस्थाश्रममें न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि स्त्रियोंको न देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न उनसे हँसी-ठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्र स्त्री-पुरुषोंको देखे। शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, अर्चना, तीर्थसेवा तथा जप करे, अभक्ष्य पदार्थ न खावे, जिनसे बात नहीं करनी चाहिए और जिनको छूना नहीं चाहिए उनसे न मिले, न बोले और न उनका स्पर्श करे, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखे और मन, वाणी और कायाका संयम पाले। ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं विशेषतः ब्रह्मचारीको इनका पालन अवश्य करना चाहिए। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय और वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होता है। ऐसे निष्काम नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्मवासनाएँ तीव्र तापसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह ईश्वर-भक्त होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

वर्षसत्र

गुरुकुलका वर्षारम्भ श्रावणसे समझा जाता था, यद्यपि जिस प्रकार आजकल जुलाईसे वर्षका आरम्भ होता है और मार्च अप्रैल या मईतक

चलता है वैसा उस समय नहीं था। केवल औपचारिक रूपसे गणना-मात्र करनेके लिये श्रावणसे शिक्षा-वर्ष प्रारम्भ किया जाता था।

दण्ड और ताडना

जहाँ विनय और शीलका इतना भव्य और उदात्त वातावरण हो वहाँ दण्डका प्रश्न ही कहाँ उठता है। फिर भी ग्राम-पाठशालाओंमें कपड़े-के कोड़े, फटे हुए बाँसके टुकड़े या हाथसे पीठपर मारनेका विधान था और यह ताड़न बुरा नहीं समझा जाता था। बहुतसे छात्र ऐसे आ जाते थे जिनका कुल-शील-संस्कार बहुत अच्छा नहीं होता था और वे आकर विद्यालय और गुरुकुलकी शान्तिमें विघ्न डालते थे, इसलिये कभी-कभी दण्डका प्रयोग आवश्यक हो जाता था। वैदिक आर्य लोग ताड़नाको आवश्यक समझते थे। उनका निश्चित मत था—

लालयेत्पञ्च - वर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं (शिष्यं) मित्रवदाचरेत्॥

[पाँच वर्षतक पुत्रका लाड़-प्यार करे, दस बरसतक उसकी ताड़ना करे उसे डाँट-फटकारमें रक्खे पर जब वह सोलह वर्षका हो जाय तो पुत्रसे (या शिष्यसे) मित्रका-सा व्यवहार करे।]

किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं, दण्डके अवसर बहुत कम आते थे। फिर भी यह सिद्धान्त माना जाता था—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्नतु लालयेत्॥

[लाड़ करनेमें बहुत दोष हैं और ताड़ना करनेमें बहुत गुण हैं। इसलिये पुत्र और शिष्यको लाड़ न करके उसे ताड़ना करनी चाहिए।]

प्रायश्चित्त

गुरुकुलोंमें बहुतसे अपराधोंके प्रायश्चित्तोंका भी विधान था। अनेक प्रकारके सज्ञान और अज्ञान अपराधोंके लिये अनेक प्रकारके प्रायश्चित्त करके छात्रगण आत्मशुद्धि करते रहते थे।

वातावरण

इस प्रकार गुरुकुलोंका वातावरण अत्यन्त शुद्ध सात्त्विक जीवनसे ओत-प्रोत था। पारस्परिक स्नेह, सेवा, सहानुभूति, सत्संकल्प, तपस्या, ज्ञानार्जन, विद्यार्जन, आत्मत्याग, सहिष्णुता तथा विवेक-शीलतासे भरा हुआ था। वहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, राजा-रंक, धनी-निर्धन किसी प्रकारका कोई भेद नहीं था। सब मिलकर समान भावसे रहते थे। सबका रहनसहन अत्यन्त सरल होता था। सबके पास कुशासन, कम्बल मृगचर्म, दण्ड, मेखला (ब्राह्मणके पास मूँजकी, क्षत्रियके पास ताँतकी और वैश्यके पास सूतकी), जलपात्र और खड़ाऊँके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होती थी। सारा जीवन खुले स्वच्छ प्राकृतिक वातावरणमें सक्रिय होकर व्यतीत करनेसे शरीरमें स्फूर्त्ति और दृढता आती थी। प्राणायाम, हवन और तपस्यासे मुखपर तेज और शरीरमें कान्ति आती थी। सेवा तथा सहिष्णुतासे मनमें उदारता, आत्मत्याग और सत्संकल्पकी सृष्टि होती थी तथा वेद-शास्त्र आदिके अध्ययनसे बुद्धिमें विवेक प्रस्फुरित होता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि छात्र सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होकर अध्ययन करता था।

परीक्षा

उन गुरुकुलोंमें आजकल जैसी परीक्षा नहीं होती थी। प्रतिदिन जो कुछ गुरुजी पढ़ाते थे उसे वे अगले दिन सुनकर ही आगेका पाठ पढ़ाते थे अतः परीक्षा तो नित्य ही चलती रहती थी। इसके अतिरिक्त स्वयं छात्र ही आपसमें पाठ विचार करके अपनी-अपनी परीक्षा करते चलते थे और जहाँ कमी होती थी वहाँ पूरा करते चलते थे। शास्त्रार्थके रूपमें सामूहिक परीक्षा भी होती थी जिनमें एक ही गुरुकुलके छात्र दो श्रेणियोंमें विभक्त होकर एक पूर्व-पक्ष ग्रहण कर लेता था, दूसरा उत्तर पक्ष। इसमें एक गुरुजी मध्यस्थ हो जाते थे और शास्त्रार्थ हो जानेपर वे निर्णय देते थे कि किसका पक्ष प्रबल है और किसका निर्बल। जिसका पक्ष निर्बल होता था वह और भी उत्साह और लगनसे अध्ययन

करनेमें लग जाता था और इस प्रकार उनमें सात्त्विक तथा स्वस्थ प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धिताका भाव उद्दीप्त होता था। कभी-कभी दो गुरुकुलोंके छात्रोंमें भी शास्त्रार्थ हुआ करता था। आज भी नागपंचमीके दिन काशीमें अनेक स्थानोंपर उसी प्रकार शास्त्रार्थ होते रहते हैं। इन परीक्षाओंके अतिरिक्त कौशल-परीक्षाएँ और बुद्धि-परीक्षाएँ भी होती थीं जैसे द्रोणाचार्यने वृक्षपर काठकी चिड़िया टाँगकर अपने राजसी शिष्योंको उसकी आँख बेधनेको कहा था किन्तु केवल अर्जुन ही उसमें सफल हो पाए।

समावर्त्तन तथा गुरुदक्षिणा

विद्या प्राप्त कर चुकनेपर प्रत्येक छात्र स्नातक हो जाता था और वह विशिष्ट उपदेश लेकर विद्यालयसे विदा लेता था। इस विदाके संस्कारको समावर्त्तन अर्थात् 'अच्छे ढंगसे लौटना' कहते थे। इस समावर्त्तनके समय गुरु-दक्षिणा देनेकी भी परिपाटी थी अर्थात् प्रत्येक शिष्य अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार गुरुको कुछ देनेका संकल्प करता था। यदि गुरु ही कुछ माँग बैठें जैसे एक गुरुने बहुतसे श्यामकर्ण घोड़े माँगे थे तो शिष्य उसे पूरा करना अपना अपना धर्म समझता था और जैसे भी सम्भव हो सकता, उस गुरुदक्षिणाके ऋणसे मुक्त होता था। यह गुरुदक्षिणा धनके रूपमें भी दी जाती थी और प्रतिज्ञाके रूपमें भी कि मैं अमुक काम करूँगा। कौत्सने दक्षिणामें साठ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ गुरु वरतन्तुको दी थीं और कृष्णने गुरु सान्दीपनिके मृत पुत्रको जीवित किया था। उस समय साधारणतः किसी छात्रसे किसी प्रकार शुल्क नहीं लिया जाता था किन्तु फिर भी ऐसे कुछ छात्र अवश्य थे जो मासिक या वार्षिक शुल्कके रूपमें तो नहीं किन्तु गुरुको तुष्ट करनेके लिये प्रचुर धन देते थे क्यों कि हमारे यहाँ विद्या प्राप्त करनेके चार ही उपाय बतलाए गए हैं—

गुरु-शुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नैव विद्यते॥

[गुरुकी सेवासे, भरपूर धन देकर या एक विद्याके बदले दूसरी विद्या सिखाकर विद्या सीखी जाती है, चौथा मार्ग ही नहीं ।]

ब्रह्मचर्याश्रमके पश्चात्

ब्रह्मचर्यके अनन्तर यदि आवश्यक विद्या पढ़ चुकनेपर गृहस्थाश्रममें जानेकी इच्छा हो, तो वेदके तात्पर्यको यथार्थ जान लेनेपर, गुरुको दक्षिणा देकर और गुरुकी आज्ञा लेकर अर्थात् समावर्तन-संस्कारपूर्वक ब्रह्मचर्य समाप्त करे। यदि सकाम हो तो ब्रह्मचर्यके उपरान्त गृहस्थ बने और यदि अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण निष्काम हो तो वानप्रस्थ होकर वनमें बसे। यदि शुद्ध-चित्त, विरक्त ब्राह्मण चाहे तो ब्रह्मचर्यके पश्चात् संन्यास ले सकता है। यदि ईश्वर-भक्त हो तो उसके लिये अवश्य आश्रमी होनेका कोई विशेष नियम नहीं है; किन्तु यदि ईश्वरका अनन्य भक्त न हो, तो उसे अवश्य किसी न किसी आश्रमका अवलंब लेना चाहिए। किसी आश्रममें न रहनेसे अथवा पहले वानप्रस्थ फिर गृहस्थ, या पहिले गृहस्थ फिर ब्रह्मचर्य, इस प्रकार विपरीत आचरणसे मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है—कहींका नहीं रहता। जो गृहस्थ होना चाहे उसे उचित है कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके अपने समान रूप, गुण और विद्यावाली, निष्कलंक कुलकी, शुभ लक्षणोंसे युक्त, अवस्थामें छोटी और अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे।

स्नातक-धर्म

ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करनेके पश्चात् समावर्तन संस्कार करके स्नातक बन जाता था अर्थात् इस संस्कारमें उसे एक विशेष विधिसे अष्टकुम्भ (आठ घड़े) और सहस्रधारासे स्नान करना पड़ता था। आठ घड़ोंमें रक्खे हुए अभिमंत्रित जलको अपने ऊपर डालनेके साथ-साथ वह एक-एक मंत्र पढ़ता था जिसका भाव यह होता था कि 'मैं श्रीवृद्धिके लिये, यशके लिये, वेदार्थ-ज्ञानके लिये और ब्रह्मतेजके लिये इस मंगलमय जलसे स्नान करता हूँ। हे अश्विनो! आप वेदमन्त्रोंसे पवित्र जिस मंगलमय जलके प्रभावसे

देवताओंकी श्री बनाए रहते हो, जिसके प्रभावसे देवताओंको अमर बनाए हुए हो, जिस जलसे आप लोगोंने उपमन्युकी आँखें धोकर स्वच्छ की हैं और जो जल आप लोगोंके लिये पवित्र यशःस्वरूप है उससे आज मैं स्नान करता हूँ।' उसी स्नानके कारण गुरुकुलका ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था।

तीन प्रकारके स्नातक

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके स्नातक बताए गए हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्या-व्रत-स्नातक। जिस ब्रह्मचारीने नियमपूर्वक सब विद्याएँ पढ़ ली हों किन्तु यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रमकी अवस्था पूरी न की हो, उसे विद्यास्नातक कहते हैं। जिसने ब्रह्मचर्याश्रमके नियम तो पूरे पालन किए हों पर सब विद्याएँ न पढ़ पाई हों, उसे व्रतस्नातक कहते हैं और जिसने अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करके क्रमशः सब विद्याएँ अध्ययन कर ली हों उसे विद्याव्रत-स्नातक कहते हैं।

स्नातक होनेके अवसरपर गुरु शिष्यसे कहता है—"हे स्नातक! तुम दृढ़व्रती बनना, आत्मघातसे अपनी रक्षा करना, प्राणिमात्रके साथ मित्रताका व्यवहार करना, देश, काल और सदाचारके विरुद्ध वस्त्र मत पहनना, दीन, अनाथ, यती तथा विद्यार्थी आदि जो अपना भोजन न बना सकते हों उन्हें निरन्तर अन्नका भाग देना, गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य-व्रतका लोप मत करना, नग्न होकर स्नान न करना, संध्याके समय भोजन और शयन न करना, जलाशयोंमें विष्ठा, थूक, रुधिर, अपवित्र वस्तु और विष आदि पदार्थ न छोड़ना, जंघापर रखकर भोजन न करना, वृथा नृत्य-गीत न करना और ताली न बजाना, सी-सी करके गधे या सियारोंकी बोली न बोलना, दाँतोंसे नख न काटना, जुआ न खेलना, पलँगपर बैठकर, लेटकर तथा एक हाथमें रखकर भोजन न करना, जूठे मुँह इधर-उधर उठकर न जाना, नंगे न सोना, पैर धोकर भोजन करना, गीले पाँव कभी न सोना, ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्म, अर्थ तथा देशकालादिकी चिन्ता करना, अर्धरात्रिमें या भोजनके पश्चात् या बहुत कपड़े पहनकर

स्नान न करना, पर-स्त्रीको माता समझना, उद्योग करनेपर भी धन न प्राप्त हो तो यह दैन्यपूर्ण आत्मग्लानि न करना कि मैं दरिद्र हूँ या अभागा हूँ वरन् साहस-पूर्वक अन्त समयतक समृद्धिके लिये उद्योग करना, व्यर्थका बैर-विवाद न करना, काने, कुबड़े, लँगड़े, लूले, कुरूप, दरिद्री, और जातिहीनको न चिढ़ाना न उनकी हँसी करना, अपना श्रुति-स्मृति-विहित धर्म तथा सदाचार कभी न छोड़ना क्योंकि आचारसे ही धन, पुत्र और आयुकी प्राप्ति होती है और सदाचारी मनुष्य सदा शतायु और श्रद्धेय होता है। कभी पराधीनताका कर्म न करना और प्रयत्न-पूर्वक स्वावलम्बी होकर कार्य करना; अपने माता-पिता और गुरुजनोंके विरुद्ध कोई कार्य न करना, वेदनिन्दा, ईश्वर-निन्दा और देव-निन्दा न करना, यम और नियमका पालन करना, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंको देवता मानना, स्वाध्यायमें ढील न करना और बुरे कार्योंका अनुकरण कभी न करना, केवल अच्छोंको ही ग्रहण करना।

समावर्त्तन

विद्याध्ययन हो चुनेपर सामावर्त्तनके समय गुरु अपने शिष्यको कुछ शिक्षाएँ देता था जिनका पालन करना सब धर्म समझते थे। शिक्षासे पूर्ण ब्रह्मचारीके हृदयको छूते हुए आचार्य कहता था कि 'मैं तुम्हारे हृदयको अपने व्रत (कर्त्तव्य या नियम) में लगाता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्तके साथ चले। मेरी वाणीको तुम एकमन होकर पालन करो, बृहस्पति तुम्हें मेरी ओर प्रेरित करें।' इसके पश्चात् जब ब्रह्मचारी स्वीकार कर लेता था कि मैं आपका ब्रह्मचारी हूँगा और व्रत पालूँगा (व्रतोस्मि), तब उसे ये उपदेश दिए जाते थे—'अस्पृश्यको नहीं छूना चाहिए। नाच-गाना-बजाना जहाँ होता हो उधर नहीं जाना चाहिए। स्वयं नहीं गाना चाहिए। यदि दूसरे अच्छा गीत गाते हों तो सुन लेना चाहिए। अगर कोई अघटित घटना न घटे तो रातको दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिए। जलाशय या कुएँ में नहीं झाँकना चाहिए। वृक्षपर चढ़ना, फल तोड़ना, सन्ध्या समय (प्रातः-सायं)

सोना, बुरे मार्गसे जाना, नंगे नहाना, पर्वत या गढ़ेको लाँघना, अश्लील, अमंगल और दुःख पहुँचानेवाली बात कहना और उदय या अस्त होते हुए सूर्यको देखना आदि अनुचित कार्य नहीं करने चाहिएँ। वर्षामें अपनेको ढँककर चलना चाहिए। रातको तेल या घीका दीपक जलाकर भोजन करना चाहिए। जलमें परछाईं नहीं देखनी चाहिए। गंजी, पागल, पुरुष जैसी, नपुंसक, गर्भिणी आदि स्त्रियोंकी हँसी नहीं उड़ानी चाहिए।

गुरुकुलका पोषण

इतना सब विवरण प्राप्त करनेके पश्चात् स्वभावतः यह पूछा जा सकता है कि भोजनका प्रबन्ध तो भिक्षासे हो जाता होगा किन्तु इतने छात्रोंके वस्त्र और निवासका काम कैसे चलता होगा। इस सम्बन्धमें पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि इन गुरुकुलोंमें पक्के भवन नहीं होते थे। जंगलसे कुश, काँस, बाँस लकड़ीसे ही बड़े सुन्दर और दृढ़ आवास बना लिए जाते थे और यह सब काम भी छात्रगण स्वयं करते थे। फिर भी गुरुकुलके लिये गौएँ और उनकी सेवाका प्रबन्ध चाहिए, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्र चाहिएँ और उनके लिये बाहर आने-जानेकी भी व्यवस्था होनी चाहिए। इन सबकी सुविधाके लिये राजा और धनी लोग आकर धन दे जाया करते थे और बहुत-सा द्रव्य दानके रूपमें भी मिल जाता था। इस प्रकार अत्यन्त निष्काम भावसे जीवन बितानेवाले विद्या-वयोवृद्ध गुरुजन प्राचीन गुरुकुल चलाते थे, जिनका मान राजा भी करते थे।

सार्वजनिक संस्थाएँ

सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओंका प्रारम्भ बौद्ध संघोंसे ही समझना चाहिए। बौद्ध मठपति अपने यहाँ नवप्रविष्ट भिक्खुओंको विहारमें ही सम्मिलित रूपसे शिक्षा देने लगे थे। इसलिये तृतीय शताब्दीसे पूर्व वर्तमान ढंगके सार्वजनिक समझे जानेवाले विद्यालय भारतमें नहीं थे।

प्रारम्भमें तो राजधानियाँ, तीर्थ, मठ, देवालय और अग्रहार ग्राम ही शिक्षण-केन्द्र बनते थे क्योंकि ऐसे स्थानोंमें योगक्षेमकी व्यवस्था सरलतासे हो जाती थी। वाराणसी, काञ्ची और नासिक आदि तीर्थ इसीलिये प्रसिद्ध हुए कि वहाँ अनेक ब्राह्मण सरलतासे जीविका पानेके कारण निरन्तर निवास करते रहते थे किन्तु तक्षशिला, पैठण, कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जयिनी आदि नगर तो राजधानी होनेके कारण प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र बन पाए और नालन्दा, विक्रमशिला आदि स्थान बौद्धोंके प्रसिद्ध विहार होनेके कारण विद्या-केन्द्र बने।

४

कन्याओंकी शिक्षा

वैदिक कालमें स्त्रियोंका यज्ञोपवीत तो होता था किन्तु जिस प्रकारके गुरुकुल बालकोंके लिये थे वैसे गुरुकुल कन्याओंके लिये नहीं थे। आचार्योंकी कन्याएँ स्वयं अपने पिताके साथ रहकर पढ़ लिख लेती थीं जैसे गार्गीने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया था। कन्याओंके लिये यही विधान था कि वे अपनी मातासे, बड़ी बहनसे, साससे और पतिसे विद्या पढ़ सकती थीं।

कन्याके लिये शिक्षा आवश्यक

वैदिक आचार-सूत्रोंमें स्थान-स्थानपर यह विवरण आया है कि यह मन्त्र स्त्रीको पढ़ना चाहिए। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१–११) में लिखा है

इमं मंत्रं पत्नी पठेत्, वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्।

[इस मन्त्रको पत्नी पढ़े। पत्नीके हाथमें वेद देकर उससे बँचवावे।]

गोभिलने स्पष्ट कहा है—

पत्नीमध्यापयेत् कस्मात् पत्नी जुहुयादिति वचनात्।
न हि खल्वनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुमिति॥

[स्त्रीको पढ़ाना चाहिए, क्योंकि बिना अध्ययन किए वह अग्निहोत्र नहीं कर सकती।]

पातञ्जल महाभाष्यमें 'अनुपसर्जनात्' सूत्रके पश्चात् लिखा है—

काशकृत्स्नेन प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी।
काशकृत्स्नीमीमांसामधीते सा काशकृत्स्ना ब्राह्मणी॥

[काशकृत्स्न द्वारा कही गई मीमांसाको काशकृत्स्नी और उसे पढ़नेवाली ब्राह्मणीको काशकृत्स्ना कहते हैं।]

यमस्मृतिमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें कुमारियोंका उपनयन, वेदाध्ययन और गायत्री-ग्रहण संस्कार होता था—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री-वचनं तथा ॥

हारीत स्मृतिमें विवरण आया है कि सब स्त्रियोंके लिये वैदिक व्रत और शिक्षा अनिवार्य नहीं है । कुछ कन्याएँ अध्ययन और ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करती थीं किन्तु वे भिक्षाचरणके लिये घरसे बाहर नहीं जाती थीं—

द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनां उपनयनं, वेदाध्ययनं, स्वगृहे भिक्षाचर्या इति ।

हेमाद्रिने आदेश दिया है—

"कुमारीको विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए और धर्म तथा नीतिमें उसे निष्णात कर देना चाहिए क्योंकि विदुषी कन्या अपने और अपने पतिके लिये कल्याणकारिणी होती है । इसलिये केवल पढ़ी लिखी कन्याका ही कन्या-दान करना चाहिए । यही सनातन मार्ग है । अपने पिता तथा पतिकी मर्यादा न जाननेवाली, पति-सेवाका ज्ञान न रखनेवाली तथा धर्माचरणसे अनभिज्ञ कन्याका विवाह नहीं करना चाहिए ।"

विदुषी नारियाँ

हमारे इतिहासमें विश्ववारा, लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, आत्रेयी, पौलोमी, गोधा, प्रजाया आदि मन्त्रद्रष्टी महिलाओं, गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी देवियों, सरस्वतीकी उपाधि धारण करनेवाली पथ्यावस्ति जैसी विदुषियों तथा बड़वा, प्रतिथेयी, सुलभा आदि विचक्षण बुद्धि-सम्पन्न नारियोंका विस्तृत विवरण मिलता है । रामायणमें वाल्मीकिने लिखा है कि रामचन्द्रजीके अभिषेकके समय कौशल्याजी मन्त्र पढ़-पढ़कर हवन कर रही थीं; वालि-सुग्रीव-युद्धके समय तारा भी मन्त्रके साथ स्वस्त्ययन कर रही थीं तथा दण्डकारण्यमें सीताजीने रामके साथ

इतिहास और धर्म-नीतिपर विचार-विमर्श किया था। महाभारतके शान्ति-पर्वमें लिखा है कि राजा जनकको जब विराग हुआ तब उनकी पत्नीने उन्हें वेद शास्त्रके आधारपर गार्हस्थ्य धर्मकी विशेषता समझाई थी। उसी पर्वमें जनकके साथ संवाद करते हुए सुलभाने योग, समाधि और मोक्षपर अत्यन्त विद्वत्ता-पूर्ण प्रवचन दिया है। इन उदाहरणोंसे प्रतीत होता है कि स्त्रियोंको अत्यन्त उच्च श्रेणीकी उदार शिक्षा दी जाती थी।

बौद्ध युगमें स्त्री-शिक्षा

बौद्ध युगतक स्त्री-शिक्षाका महत्त्व अधिक बढ़ चुका था। ललित-विस्तरमें लिखा है कि बुद्धने यह प्रण किया था कि मैं उसी कन्यासे विवाह करूँगा जो लेखन, काव्य और संगीत-कलामें निपुण हो, सर्वगुण-सम्पन्न हो और शास्त्रज्ञ हो। बौद्धोंकी थेरी-गाथामें बहुत-सी विदुषी अध्यापिकाओंका वर्णन आता है जिनमें धम्म-दिन्ना, मैत्रेयी, किसा गौतमी, थेरी सोमा (बिम्बिसारकी पुत्री), खेमा (बिम्बिसारकी रानी) अनुपमा, सुजाता और नंदाका विशेष उल्लेख है।

स्त्री-शिक्षाका विरोध

मीमांसाकार जैमिनीके समय ही आचार्य ऐतिशायनने स्त्रियोंके वैदिक अधिकारोंका विरोध किया था और यह विरोध स्मृतिकालतक इतना बढ़ गया कि विवाह ही उनका एक मात्र संस्कार समझा जाने लगा, शेष सब संस्कार समाप्त हो गए और यह व्यवस्था दी गई कि विवाह ही स्त्रियोंका उपनयन है, पति-सेवा ही गुरु-कुलवास है और घरेलू धन्धे ही अग्निकर्म हैं।

स्त्री शिक्षाका पाठ्यक्रम

वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें स्त्रियोंके पाठ्य-क्रमका विस्तारसे वर्णन किया है। विवाहित स्त्रियोंके कर्त्तव्योंका वर्णन करते हुए उन्होंने बताया है कि स्त्रीको फुलवारी लगाना, जड़ी-बूटी और शाक उपजाना,

मक्खन और तेल निकालना, कताई बुनाई करना, रस्सी बटना, नौकर-चाकरोंसे लेन-देन रखना, पशु पालना, बेचना-मोल लेना, अनेक प्रकारके भोजन-व्यंजन बनाना और श्रृंगार करना जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त स्त्रियोंको चौंसठ कलाएँ या महाविद्याएँ भी जाननी चाहिएँ। राजकुमारियोंको विशेष रूपसे शासन-संबंधी ज्ञान और सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार हमारे प्राचीन कालमें स्त्रियोंकी शिक्षाके लिये बड़ा विस्तृत और महत्त्वपूर्ण विधान था।

कन्या-शिक्षाका विधान

कामशास्त्रके रचयिता वात्स्यायनने लिखा है कि कन्याओंको विवाहित मौसी, बड़ी बहन, सखी अथवा भुक्त साधुनी आदिसे निम्नलिखित चौसठ कलाओं या महाविद्याओंका अभ्यास करके सिद्ध तथा सफल गृहिणी बनना चाहिए—

१. गीत (गाना)।

२. वाद्य (बाजा बजाना)।

३. नृत्य (गीतके साथ अंग-संचालन द्वारा भाव-प्रदर्शन)।

४. नाट्य (अभिनय)।

५. आलेख्य (चित्रकारी)।

६. विशेषकच्छेद्य (तिलकके साँचे बनाना)।

७. तण्डुलकुसुमावलि-विकार (चावल और फूलोंसे चौक पूरना)।

८. पुष्पास्तरण (फूलोंकी सेज सजाना या बनाना)।

९. दशन-वसनाङ्गराग (दाँतों, कपड़ों और अंगोंको रँगना, दाँतोंके लिये मंजन-मिस्सी आदि, वस्त्रोंके लिये रंग और रँगनेकी सामग्री तथा अंगोंमें लगानेके लिये चन्दन, केसर, मेहँदी, महावर आदि बनाना और उनके बनाने तथा कलापूर्ण ढंगसे रचानेकी विधिका ज्ञान)।

१०. मणि-भूमिका-कर्म (ऋतुके अनुकूल घर सजाना)।

११. शयन-रचना (बिछावन या पलँग बुनना, सजाना और बिछाना)।

१२. उदकवाद्य (जलतरंग बजाना)।

१३. उदकघात (जलक्रीड़ा या पानीकी चोटसे काम लेना जैसे पनचक्की या पिचकारी आदिसे काम लेनेकी विद्या)।

१४. चित्रयोग (अवस्था परिवर्त्तन करना अर्थात् जवानको बूढ़ा या बूढ़ेको जवान करना या रूप बदलना)।

१५. माल्यग्रन्थ-विकल्प (देव-पूजनके लिये या पहननेके लिये माला गूँथना)।

१६. केशशेखरापीड-योजन (सिरपर फूलोंसे अनेक प्रकारकी रचना करना या सिरके बालमें फूल गूँथना या मुकुट बनाना)।

१७. नेपथ्ययोग (देशकालके अनुसार वस्त्र या आभूषण पहनना)।

१८. कर्ण-पत्रभंग (पत्तों और फूलोंसे कानोंके लिये कर्णफूल आदि आभूषण बनाना)।

१९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ जैसे गुलाब, केवड़ा आदिसे फुलेल बनाना)।

२०. भूषण-योजन (सोने तथा रत्नके आभूषण सजाकर पहनना)।

२१. इन्द्रजाल।

२२. कौचुमारयोग (कुरूपको सुन्दर करना या मुँहमें और शरीरमें मलनेके लिये ऐसे उबटन बनाना जिनसे कुरूप भी सुन्दर हो जायँ)।

२३. हस्तलाघव—हाथकी सफ़ाई, फुर्ती या लाग।

२४. चित्रशाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकारकी तरकारियाँ, पूप और खानेके पकवान बनाना या सूप-कर्म)।

२५. पानक-रस-रागासव-योजन (पीनेके लिये अनेक प्रकारके शर्बत, अर्क और मद्य आदि बनाना)।

२६. सूचीकर्म (सीना-पिरोना)।

२७. सूत्रकर्म (अनेक प्रकारके कपड़े बुनना, रफूगरी, कसीदा काढ़ना तथा तागेसे अनेक प्रकारके बेल-बूटे बनाना)।

२८. प्रहेलिका (पहेली-बुझौवल और कहानी-कहौवल)।

२९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी अर्थात् श्लोकका अन्तिम अक्षर लेकर उसी अक्षरसे आरम्भ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना)।

३०. दुर्वाचयोग (कठिन पदों या शब्दोंका अर्थ निकालना)।

३१. पुस्तक-वाचन (उपयुक्त रीतिसे पुस्तक बाँचना)।

३२. नाटिकाख्यायिका-दर्शन (नाटक देखना या दिखलाना)।

३३. काव्य समस्यापूर्ति।

३४. पट्टिका-वेत्र-वाण-विकल्प (नेवाड़,बेंत या बाधसे चारपाई बुनना)।

३५. तर्कुकर्म (तकुआ-सम्बन्धी सारे काम जैसे तकली, चर्खा)।

३६. तक्षण (बढ़ई, संगतराश आदिका काम करना)।

३७. वास्तुविद्या (घर बनाना, इंजीनियरिंग)।

३८. रूप्य-रत्न परीक्षा (सोना-चाँदी आदि धातु और रत्न परखना)।

३९. धातुवाद (कच्चे धातुओंको साफ़ करना या मिले धातुओंको अलग-अलग करना)।

४०. मणिराग-ज्ञान (रत्नोंके रंग जानना)।

४१. आकर-ज्ञान (खानोंकी विद्या ।

४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षोंका ज्ञान, चिकित्सा तथा उन्हें रोपनेकी विधि)।

४३. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि (मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि लड़ानेकी विधि)।

४४. शुक-सारिका प्रलापन (तोता-मैना पढ़ाना)।

४५. उत्सादन (उबटन लगाना, मालिश करना, हाथ-पैर, सिर आदि दबाना)।

४६. केश-मार्जन-कौशल (सिरके बाल सँवारना और तेल लगाना)।

४७. अक्षर-मुष्टिका-कथन (करपलई)।

४८. म्लेच्छित-कला-विकल्प (म्लेच्छ या विदेशी भाषा जानना)।

४९. देश-भाषा ज्ञान (प्राकृत बोलियाँ जानना)।

५०. पुष्पशकटिका-निमित्त-ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादलकी गरज, बिजलीकी चमक इत्यादि देखकर आगामी घटनाके लिये भविष्यवाणी करना)।

५१. यन्त्रमातृका—(सब प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण करना)।

५२. धारण-मातृका—(स्मरण-शक्ति बढ़ाना)।

५३. सम्पाठ्य—(दूसरेको कुछ पढ़ाते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार दुहरा देना)।

५४. मानसी काव्यक्रिया—(दूसरे का अभिप्राय समझकर उसके अनुसार तुरन्त कविता करना या मनमें काव्य करके शीघ्र कहते जाना)।

५५. क्रिया-विकल्प—(क्रियाके प्रभावको पलटना)।

५६. छलिक योग (छल या ऐयारी करना)।

५७. अभिधानकोष, छन्दोज्ञान (शब्दका अर्थ और छन्दोंका ज्ञान।)

५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रचना करना तथा फटे कपड़े इस प्रकार पहनना कि वे फटे न प्रतीत हों)।

५९. द्यूत-विशेष (जूआ खेलना)।

६०. आकर्षण-क्रीड़ा (खींचने-फेंकनेवाले सारे खेल)।

६१. बालक्रीड़ा-कर्म (लड़का खेलाना)

६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय, सभाजन और शिष्टाचार)।

६३. वैजयिकी विद्याज्ञान (दूसरोंपर विजय पानेका कौशल)।

६४. व्यायामिकी विद्याज्ञान (खेल, कसरत, योगासन, प्राणायाम आदि व्यायाम)।

———

भारतके प्रसिद्ध वैदिक विद्याकेन्द्र

पीछे विस्तारसे बताया जा चुका है कि शिल्प तथा अन्य उद्योग कौशलोंके लिये शिल्पी लोग अपने-अपने घर ही शिक्षार्थियोंको या अपने घरके बालकोंको शिक्षा दे लिया करते थे। शेष व्याकरण-दर्शन आदिकी शिक्षा आश्रमों या गुरुकुलोंमें होती थी और इस शिक्षाक्रममें राजा या राजसत्ताका तनिक भी हस्तक्षेप नहीं होता था। गुरुकुलोंके प्रबन्धमें हस्तक्षेप न करते हुए भी ऐसे गुरुकुलों या आश्रमोंको सहायता देना, उनका संरक्षण करना प्रत्येक राजा अपना धर्म समझता था क्योंकि ये अरण्याश्रम ही भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृतिके प्रधान केन्द्र होनेके साथ साथ राज्य-व्यवस्थाके आधार-स्तम्भ थे।

अग्रहार

ये शासक गुरुकुलोंके लिये भूमि दान तो देते ही थे, साथ-साथ उनके दैनिक पोषणके लिये कुछ गाँव भी लगा देते थे। कभी-कभी तो गाँवका गाँव ही विद्वान् ब्राह्मणोंको दे दिया जाता था और उन्हें करके भारसे मुक्त कर दिया जाता था। ब्राह्मणोंकी ऐसी बस्तीको ब्रह्मपुरी या अग्रहार तथा इस प्रकारके दानको भट्ट-वृत्ति कहते थे। विचित्र बात यह है कि इस प्रकारकी भट्टवृत्तिसे प्राप्त अग्रहारोंका सम्मान सभी राजा निरन्तर करते आए।

विद्यानगर या गुरुनगर

गुरुकुलोंके अतिरिक्त काशी, उज्जैन, नवद्वीप आदि नगर तथा कश्मीर जैसे कुछ प्रदेश भी ऐसे थे जहाँ घर-घरमें प्रतिष्ठित विद्वान्

आचार्य ज्ञान-प्रदीप बनकर दिनरात ज्ञान-ज्योतिका वितरण करते रहते थे। तीर्थोंपर विद्वानोंको आर्थिक सहायता अनायास मिल जाती थी अतः वहाँ विद्वान् लोग व्यक्तिगत रूपसे अपने विद्याकेन्द्र खोल लेते थे। इनमें काशी, कांची, नासिक, कर्णाटक आदि स्थान प्रारंभसे ही प्रसिद्ध विद्याक्षेत्र रहे हैं। भारतकी एक और भी विचित्र परम्परा रही है कि यहाँके राजा लोग अपनी राजसभामें विद्वानों और पंडितोंको आश्रय देना अपनी शोभा समझते थे। यही कारण है कि उत्तर भारतमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कन्नौज, मिथिला और धारा तथा दक्षिणमें मालखेड, कल्याणी और तंजोर नगर प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र बन गए थे। उज्जयिनीके अधिपति विक्रमादित्यके नवरत्नोंकी कथा तो लोकविश्रुत ही है जिनके यहाँ धन्वन्तरि जैसे वैद्य, क्षपणक जैसे दार्शनिक, अमरसिंह और शंकु जैसे काव्यशास्त्रके पंडित, वेतालभट्ट जैसे कथाकार, घटखर्पर जैसे आशु-कवि, कालिदास जैसे महाकवि और वराहमिहिर जैसे ज्यौतिषशास्त्रके पंडित थे। यह परम्परा लगभग आजतक भी राजाओंमें बनी चली आई। इनके अतिरिक्त अनेक मन्दिर तथा शंकर, रामानुज, मध्व तथा वीरशैव आदि आचार्योंके मठ भी ज्ञानकेन्द्र बन गए थे जहाँ प्रायः अपने-अपने मतानुसार साम्प्रदायिक, शास्त्रीय तथा व्यापक शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकारके विद्याकेन्द्र बौद्ध विहारोंमें भी खुल गए थे जिनका विवरण बौद्ध शिक्षा-प्रणालीके प्रसंगमें दिया जायगा।

तक्षशिला

यों तो राजाश्रयसे राजधानियोंमें तथा तीर्थोंमें विद्याओंका पोषण, संवर्धन और प्रसार हो ही रहा था किन्तु व्यवस्थित रूपसे विद्यानगरके रूपमें यदि कोई वैदिक ब्राह्मण-विद्याओंका प्रधान गढ़ था तो वह था तक्षशिला। भरतके पुत्र तक्ष-द्वारा बसाया हुआ तक्षशिला (वर्तमान टैक्सिला) नगर, गान्धार राज्यकी राजधानी बना हुआ भारतकी उत्तर-

पश्चिम सीमापर समवस्थित था जहाँ जनमेजयने प्रसिद्ध नागयज्ञ किया था और जिसके भग्नावशेष वर्तमान रावलपिंडीके पास आज भी प्राप्त होते हैं। यह देशका दुर्भाग्य है कि भारतीय संस्कृतिका प्रमुख जन्मस्थल और वैदिक ब्राह्मण-विद्याका केन्द्र तक्षशिला भी आज पाकिस्तानकी सीमामें पड़ गया है।

विक्रम संवत्से सात सौ वर्ष पहलेसे लेकर तीसरी विक्रम शताब्दी-तक तक्षशिलाके विभिन्न आचार्योंके घर सोलह कला, शास्त्र, चित्रकला, मूर्तिकला तथा हाथीदाँत आदिकी अनेक प्रकारकी कारीगरीकी शिक्षा दी जानेका विवरण मिलता है जहाँ राजगृह, काशी, उज्जैन और मिथिला-तकसे इतने राजकुमार और छात्र पढ़ने आते थे कि एक-एक आचार्यके पास पाँच पाँच सौ छात्र पढ़ते थे। इन सब विद्याओंके अतिरिक्त तीन वेद (ऋग्, यजुः और साम), व्याकरण, शल्यशास्त्र, धनुर्विद्या, युद्धविद्या, ज्यौतिष (गणित और फलित), गणित, वाणिज्य, कृषि, यानविद्या, तन्त्र, यातु (जादू), गारुड़ी विद्या, गुप्तधन-प्राप्ति-विद्या, संगीत, नृत्य तथा चित्रकला आदि विषय वहाँ पढ़ाए जाते थे। इतना अध्ययनाध्यापन होते हुए भी तक्षशिलाकी प्रसिद्धि दर्शन और आयुर्वेदके लिये अधिक थी। उन दिनों आयुर्वेदके सबसे बड़े आचार्य आत्रेय ऋषि वहीं आयुर्वेदका अध्यापन करते थे। राजवैद्य जीवकने सात वर्षतक उनसे शिक्षा प्राप्त करके वह विकट परीक्षा दी थी जिसमें जीवकसे कहा गया था कि चार दिनके भीतर तक्षशिलाके चारों ओर पन्द्रह मीलके घेरेमें जितनी वनस्पति, जड़ी-बूटियाँ हों सबको एकत्र करके सबका गुण वर्णन करो और जीवक इस परीक्षामें सफल भी हुआ था। उन दिनों आयुर्वेदके आचार्य अपने छात्रोंको पेड़-पत्तोंका प्रत्यक्ष संप्रेक्षण भी कराते थे और रोगोंपर उनका प्रयोग करके प्रत्यक्ष प्रायोगिक ज्ञान भी कराते थे। तक्षशिला उन दिनों व्याकरण और राजशास्त्रकी भी केन्द्रनगरी थी। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि मुनि और राजनीतिके जनक, विचक्षण

कूटनीतिज्ञ चाणक्य या कौटिल्यने यहीं शिक्षा पाकर अपने ज्ञान और अपनी मेधावितासे विश्वके इतिहासमें अमरता अर्जित की है। उच्च वर्णों, धनिकों और राजपरिवारोंके पुत्र अपरिमित संख्यामें यहाँ आते रहते थे और यह नगरी ज्ञान-पिपासुओंकी विशाल ज्ञानवापी बन गई थी। एक धनुर्विद्याके आचार्य भी वहाँ थे जिनके पास एक सौ तीन राजकुमार धनुर्विद्या सीखते थे। उस युगमें भारतकी ब्राह्मण-विद्या का या वैदिक ज्ञान-विज्ञानका यह वैसा ही बड़ा पश्चिमी ज्ञानकेन्द्र था जैसा पूर्वमें काशी।

इस नगरीके कुछ छात्र तो अपने गुरुओंके घर रहकर ही पढ़ते थे, कुछ छात्र दिनमें सेवाकार्य करते थे और उसके बदले रातको गुरुओंसे पढ़ते थे, कुछ ऐसे थे जो गुरुओंको पर्याप्त धन देकर उन्हें प्रसन्न करके विद्या प्राप्त करते थे, उन्हें सेवाकार्य नहीं करना पड़ता था, कुछ धनी छात्र किरायेपर भवन लेकर भी वहाँ रहते थे। वहाँ चारों ओर दिन-रात छात्रों के समूहके समूह अध्ययन करते, परस्पर पाठ विचारते और शास्त्रार्थ करते दिखाई पड़ते थे। किन्तु पीछे चलकर वहाँ बौद्धोंके भी विहार बनने लगे किन्तु विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें उत्तर-पश्चिमसे आनेवाले हूणोंके सर्दार तोरमाणके पुत्र मिहिरकुलने इस ज्ञानपुरी तक्षशिलाको लूटकर, जलाकर इस ज्ञानदीपका सदाके लिये निर्वाण कर दिया। इस घटनासे सबसे बड़ा पाठ तो यह मिला कि सीमान्तपर अपना ज्ञान-केन्द्र तथा संस्कृति-केन्द्र स्थापित ही नहीं करना चाहिए।

काशी

तक्षशिलाके अतिरिक्त भारतीय वैदिक ज्ञानका दूसरा केन्द्र थी काशी जो उपनिषद् कालसे ही भारतीय ज्ञान-विज्ञानका प्रधान केन्द्र बनी हुई थी। उपनिषद्में काशीके प्रसिद्ध दार्शनिक राजा अजातशत्रुका विवरण मिलता है जो मिथिलाके राजा जनकके समान विद्याके पोषक और स्वयं दार्शनिक रहे हैं। यद्यपि काशीके भी बहुतसे छात्र सुदूर तक्षशिलामें

अध्ययन करने जाते थे और काशीके राजा भी अपने राजपुत्रोंको तक्षशिलामें अध्ययनार्थ भेजते थे किन्तु उसका तात्पर्य यही था कि धनुर्विद्या आदि राजसी विद्याओंके लिये तो तक्षशिला महान् केन्द्र था और आध्यात्मिक विद्याओंके लिये काशी प्रसिद्ध थी। हमारे यहाँ यज्ञोपवीत संस्कारके अवसरपर अब भी प्रथा है कि नया माणवक काशी जानेके लिये आग्रह करता है। इस परम्पराका अर्थ ही यह है कि प्राचीन समयसे ही सब गृहस्थ अपने पुत्रोंको काशी भेजते थे और प्रत्येक ज्ञान-पिपासु काशी जानेके लिये लालायित रहता था। धीरे-धीरे काशीकी महिमा यहाँतक बढ़ी कि दूर-दूर देशोंसे भी यहाँ लोग अध्ययन करनेके लिये आने लगे। बौद्ध जातकोंमें कथा आई है कि काशीके विद्वान् ब्राह्मणोंके घर वेदत्रयी और अठारह शिल्प पढ़ानेके लिये विद्यालय खुले हुए थे और प्रायः सोलह वर्षकी अवस्थाके बालक उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये काशी जाया करते थे।

सातवीं शताब्दी वि० पू० में काशी इतना बड़ा विद्याकेन्द्र था कि बुद्धको भी अपने धर्म-चक्र-प्रवर्त्तनके लिये काशीको ही केन्द्र बनाना पड़ा जो धीरे धीरे अशोकके समयतक बौद्ध-विद्याकी भी केन्द्रस्थली बन गई थी। सातवीं शताब्दि विक्रमीयमें इस बौद्ध इसिपतन (सारनाथ) विहारमें सुन्दर प्रासादों और शिक्षा-भवनोंकी इतनी पंक्तियाँ स्थापित हो गई थीं कि वहाँ लगभग डेढ़ सहस्र भिक्खु छात्र अध्ययन करते थे। यह प्रणाली बारहवीं शताब्दि विक्रमीय-तक निरन्तर चलती रही और इस प्रकार काशीने अपनी ज्ञानज्योति निरंतर बनाए रक्खी यहाँतक कि मुस्लिम कालमें भी काशीकी परम्परा चलती रही क्योंकि काशीकी एक विशेषता यह थी कि यहाँ नालंदा आदिके समान विहारोंके रूपमें या वर्तमान विश्वविद्यालयोंके रूपमें शिक्षा नहीं दी जाती थी। यहाँ तो विद्वान् संतोषी ब्राह्मण अपने घरपर ही छात्रोंको बुलाकर शिक्षा देते थे। सत्रहवीं शताब्दिमें बर्नियरने काशीकी शिक्षा-प्रणालीका परिचय देते हुए

लिखा है—'काशी ऐसा विश्वविद्यालय है जहाँ हमारे विश्वविद्यालयोंके समान न तो विद्यालय हैं न नियमित कक्षाएं वरन् वे तो प्राचीन विद्वानोंके ज्ञान-क्षेत्रोंके समान हैं जहाँ विद्वान् आचार्य अपने घरोंपर चार-छः या बारह-पन्द्रह छात्रोंको अलग-अलग शिक्षा देते हैं। इस प्रकार काशीको हम विद्वानोंकी केन्द्रस्थली मान सकते हैं जो आजतक अपनी परम्पराका निर्वाह कर रही है।

मंदिरसे सम्बद्ध विद्यालय

काशी और तक्षशिला जैसी विशाल विद्यापुरियोंके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर देवमंदिरोंके साथ भी मंदिर-निर्माताओं, नगरके प्रतिष्ठित धनिकों अथवा जनताकी ओरसे अनेक विद्यालय स्थापित कर दिए जाते थे। इनका व्यय-भार आस-पासके लोग या व्यवसाय-संघवाले अपने सिर ले लेते थे। यद्यपि प्राचीन समयके ऐसे विद्यालयोंका तो ऐतिहासिक उल्लेख नहीं प्राप्त होता किन्तु दसवीं शताब्दीसे मंदिरोंके साथ सम्बद्ध अनेक विद्यालयोंका प्रमाण प्राप्त हुआ है।

सालोत्गी

ऐसे मन्दिर विद्यालयोंमें निःशुल्क तथा प्रसिद्ध सालोत्गी विद्यालय दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दीमें बम्बई राज्यके बीजापुर प्रदेशमें वैदिक विद्याओंका प्रधान केन्द्र था जो त्रयी-पुरुषके मन्दिरसे सम्बद्ध था। इस विद्यालयमें बाहरके इतने छात्र थे कि उनके निवासके लिये सत्ताईस छात्रावास बने हुए थे जिनके प्रकाशके व्ययके लिये बारह निवर्त्तन (लगभग साठ एकड़) भूमि, भोजनके लिये पाँच सौ निवर्त्तन भूमि और अध्यापकोंके वेतनके लिये पचास निवर्त्तन भूमि लगी हुई थी; अर्थात् वहाँ कमसे कम दो सौ छात्रोंके भोजन-वस्त्र, आवास और शिक्षाकी निःशुल्क व्यवस्था थी। इस नियमित आयके अतिरिक्त आसपासके गाँववाले भी विवाहपर

पाँच रुपये, उपनयन पर ढाई रुपये और मुंडनपर एक-एक रुपया दान भी देते थे। इसके अतिरिक्त श्रद्धालु भक्त भी समय-समयपर विद्यालयके आचार्यों और छात्रोंको निमन्त्रण देते रहते थे।

एन्नायिरम्

इसी प्रकारका एक वर्त्तमान पद्धतिका विद्यालय दक्षिण भारतके आरकोट प्रदेशमें एन्नायिरम्में था जिसमें सोलह अध्यापक पढ़ाते थे और जिसे पासके गाँवोंसे लगभग तीन सौ एकड़ भूमि मिल गई थी जिससे तीन सौ चालीस छात्रोंको निःशुल्क शिक्षा, भोजन और आवास मिलनेका प्रबन्ध हो गया था। वहाँ पर ऋक्, शुक्ल और कृष्ण यजुः, साम, अथर्व वेद, बौधायन धर्मसूत्र, वेदान्त, व्याकरण, मीमांसा तथा रूपावतार (नाट्यशास्त्र) की शिक्षा दी जाती थी। वहाँके छात्र इतने भोजनभट्ट थे कि प्रत्येक छात्रको एक सेर चावल प्रतिदिन मिलता था और वस्त्रके लिये प्रति वर्ष एक माशा सुवर्ण मिलता था। अध्यापकोंको सोलह सेर चावल प्रतिदिन मिलता था जिससे वे कुटुम्बका पालन कर सकें।

तिरुमुक्कुडल विद्यालय

ग्यारहवीं शताब्दिमें दक्षिण भारतके चिंगलपेट जनपदके तिरुमुक्कुडल नगरमें वेंकटेश पेरुयल मन्दिरसे सम्बद्ध एक विद्यालय, छात्रावास और चिकित्सालय था। विद्यालय तो ऐन्नायिरम् विद्यालयके समान ही था किन्तु वहाँ केवल साठ छात्रोंके निवास और भोजनकी व्यवस्था थी जिनमेंसे अलग-अलग वेदों और विषयोंके लिये स्थान सुरक्षित थे और प्रत्येक छात्रको प्रति शनिवारको मर्दनके लिये तेल भी दिया जाता था। इस विद्यालयके अध्यापकोंका वेतन भी कम था क्योंकि वेदके अध्यापकोंको केवल तीन सेर चावल प्रतिदिन दिया जाता था। वहाँके विवरणसे जान पड़ता है कि वेदके अध्यापक केवल अल्पकालिक होते थे क्योंकि उनको

उतना ही वेतन मिलता था जितना मन्दिरके चिकित्सालयके लिये औषधि लानेवाले भृत्योंको किन्तु अन्य विषयोंके अध्यापकोंको आठ सेर चावल नित्य मिलता था।

तिरुवर्रियूर विद्यालय

तेरहवीं शताब्दिमें चिंगिलपेट जनपदके तिरुवर्रियूर नगरमें महर्षि पाणिनिकी स्मृतिमें विशाल व्याकरण विद्यालय स्थापित हुआ था जो स्थानीय शिव मन्दिरके समीप समवस्थित था। वहाँके लोगोंका विश्वास था कि इसी मन्दिरमें भगवान् शिवने चौदह सूत्र सिखानेके लिये निरंतर चौदह दिनोंतक पाणिनिको दर्शन दिया था। यह विद्यालय ऐन्नायिरम् विद्यालयसे बड़ा था क्योंकि इसमें लगभग साढ़े चार सौ विद्यार्थियोंके लिये प्रबन्ध था। इसमें १५-२० अध्यापक थे और यह चौदहवीं शताब्दितक चलता रहा।

मलकापुरम् विद्यालय

सन् १२६८ ई० के शिलालेखके अनुसार मलकापुरम्में एक मन्दिर, विद्यालय, छात्रावास और चिकित्सालय था। उस विद्यालयमें आठ अध्यापक थे जो व्याकरण, साहित्य, तर्क और आगम की शिक्षा देते थे। चिकित्सालयमें एक वैद्य भी थे। अनुमान किया जाता है कि वहाँ लगभग १५० छात्र निःशुल्क शिक्षा, आवास, भोजन और औषधि पाते थे। वहाँके प्रत्येक अध्यापकको २ पट्टी भूमि दी जाती थी और वहाँके आचार्यका वेतन सौ निष्क मासिक था।

अन्य विद्यालय

ऊपर जिन विद्यालयोंका परिचय दिया गया है उनके अतिरिक्त दक्षिणमें नवीं शताब्दिसे चौदहवीं शताब्दितक इस प्रकारके अनेक मन्दिर-सम्बद्ध विद्यालय थे जिनमें धारवाड़ जनपदके हेब्बल स्थानपर भुजब्वेश्वर-

के मठमें एक विद्यालय था जिसे २०० एकड़ भूमि छात्रोंको निःशुल्क शिक्षा और भोजनके लिये मिली हुई थी, जहाँ लगभग दो सौ छात्र शिक्षा पाते थे। हैदराबाद राज्यमें नगईमें ग्यारहवीं शताब्दिमें विशाल मन्दिर विद्यालय था जिसमें २०० छात्र वेद पढ़ते थे, २०० स्मृति, १०७ पुराण और ५२ छात्र दर्शन पढ़ते थे। उसका पुस्तकालय इतना बड़ा था कि उन्हें छः पुस्तकाध्यक्ष रखने पड़े थे। इसी प्रकार १०७५ में बीजापुरके एक मन्दिरको १२०० एकड़ भूमि मिली हुई थी जहाँ योगेश्वर पंडितके निःशुल्क मीमांसा-विद्यालयमें छात्रों और साधुओंको निःशुल्क भोजन-वस्त्र आदिकी व्यवस्था थी। इस प्रकार बीजापुर जनपदके मनगोली स्थानमें बारहवीं शताब्दिमें व्याकरण विद्यालय था जिसे २० एकड़ भूमि मिली हुई थी। उसी समय कर्नाटकमें बेलगाँवके दक्षिणेश्वर मन्दिरमें अध्ययन करनेवाले छात्रोंके लिये निःशुल्क भोजनकी व्यवस्था थी। सन् ११५८में शिमोगा जनपदमें तालगुंड स्थानके प्राणेश्वर मंदिरमें संस्कृत विद्यालय था जहाँ वेद, दर्शन, भाषाशास्त्र और कन्नड़ पढ़नेवाले ४८ छात्रोंको निःशुल्क भोजन और शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार तंजोर जनपदके पुन्नवयिल स्थानमें तत्स्थानीय मंदिरका एक व्याकरण विद्यालय था जिसे ४०० एकड़ भूमि मिली हुई थी जहाँ लगभग ५०० छात्र निःशुल्क शिक्षा और भोजन पाते होंगे। तमिलके अनेक मंदिर-विद्यालयोंके अध्यापकों और छात्रोंको इस प्रकारकी सहायता मिलनेके अनेक लेख स्थान-स्थान-पर प्राप्त हुए हैं जिनमेंसे एक लेखमें कहा गया है कि तिनेवेल्ली जनपदके मंदिर-विद्यालयके सरस्वती-भवन अर्थात् पुस्तकालयको दान दिया गया है। यह तो कुछ थोड़ेसे विद्यालयोंका विवरण दिया गया है किन्तु दक्षिण भारतमें यह एक साधारण-सी प्रथा हो गई थी कि प्रत्येक मंदिर या धार्मिक मठके साथ एक विद्यालय खोल दिया जाय जिनका विवरण अंग्रेज़ोंके अमंगल पदार्पणके पूर्व अट्ठारहवीं शताब्दितक निरंतर मिलता है।

उत्तर भारतके मंदिर-विद्यालय

जिस प्रकार दक्षिण भारतमें मंदिरोंके साथ विद्यालय लगे हुए थे वैसे ही उत्तर भारतमें भी मंदिरोंके साथ विद्यालय लगे हुए हैं। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थस्थानोंके मंदिरोंके साथ अब भी पाठशालाएँ लगी हुई हैं। किन्तु उत्तर भारतके साथ एक बड़ा दैव-दुर्योग यह हुआ है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्तसे होनेवाले अनवरत आक्रमणोंके कारण बर्बर दस्युयोंने अपनी धर्मान्धताके कारण यहाँकी पाठशालाओंको न तो पनपने दिया न रहने दिया। औरंगजेबने तो हिन्दू मंदिर इसी आधार-पर नष्ट ही किए कि उनके साथ पाठशालाएँ लगी हुई थीं विशेषतः सिन्ध, मुल्तान और काशीमें।

अग्रहार विद्याकेन्द्र

हम ऊपर विवरण दे आए हैं कि देशके अनेक राजा तथा धनी-मानी लोग विद्वान् ब्राह्मणोंको बुलाकर उन्हें गाँव दे देते थे। ब्राह्मणोंके ऐसे गाँवको अग्रहार कहते थे जो उन विद्वान् ब्राह्मणोंके निवासके कारण विद्याकेन्द्र बन जाते थे। ऐसे विद्याकेन्द्रोंमेंसे कर्नाटकके धारवाड़ जनपदमें वर्तमान कलासका कदियूर अग्रहार है दसवीं शताब्दिमें राष्ट्रकूट राजाओंने २२० ब्राह्मणोंको दिया था जो वेद, व्याकरण, पुराण, तर्क, राजनीति और काव्यके पंडित तथा टीकाकार थे। इन अग्रहार-केन्द्रोंमें दीन विद्यार्थियोंके लिये भोजनकी भी व्यवस्था थी। मैसूरके हसन जनपदके अरसीकेरी स्थानमें सर्वज्ञपुर नामका अग्रहार ग्राम विद्याकेन्द्रके लिये प्रसिद्ध था जहाँ अनेक विद्वान् ब्राह्मण वेद, शास्त्र आदिका अध्ययन कराते थे और दिन रात अध्ययन-अध्यापनमें लगे रहते थे।

इन दो अग्रहार-ग्रामोंके अतिरिक्त और भी असंख्य अग्रहार ग्राम थे जहाँ राज्य या समाजकी ओरसे दी हुई सहायताके आधारपर वहाँके ब्राह्मण अनेक विद्यार्थियोंको निःशुल्क शिक्षा देते थे।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान विद्याकेन्द्र बन गए थे जो अग्रहार नहीं थे जैसे पांडेचिरीसे १५ मील दूरस्थित बाहुरका केन्द्र, जिसे कई गाँवोंका कर प्राप्त होता था क्योंकि वहाँ दूर-दूरसे विद्वान् आकर निवास करते थे। इन सब विवरणोंसे प्रतीत होता है कि मुसलमानोंके आगमनसे पूर्व देश भरमें ऐसे विद्यालयोंकी भरमार थी जहाँ विद्यार्थियोंकी सुविधा और विद्वानोंके पोषणके लिये अनेक केन्द्र खुले हुए थे और यही कारण है कि भारतवर्ष निरंतर संसारका विद्यागुरु बना रहा।

भारतीय वैदिक शिक्षा-पद्धतिकी विशेषताएँ

भारतीय गुरुकुल विद्या-प्रणालीकी इस गौरवपूर्ण गाथाके पश्चात् यह समझना अत्यन्त सरल हो जायगा कि भारतीय आर्य शिक्षा-प्रणालीकी क्या विशेषताएँ थीं। सूत्र रूपमें हम इस प्रकार वर्णित कर सकते हैं कि—

१. वैदिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य थी; ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यके लिये गुरुकुलमें; स्त्रियोंके लिये पिता या श्वसुरके घर; और शूद्रके लिये अपने घर या शिल्पीके यहाँ।

२. निःशुल्क थी।

३. सावास प्रणाली (रेज़ीडेन्शल सिस्टम) के अनुसार थी, जहाँ गुरु और शिष्य साथ साथ रहते थे।

४. गुरुको महत्ता प्रदान की गई थी और शिष्य उन्हें देवस्वरूप मानकर उनकी सेवा करके, उनकी कृपा पाना अपना ध्येय समझता था।

५. छात्रोंको भोजन-वस्त्र आदिकी चिन्ता नहीं थी।

६. सदाचार प्रधान समझा जाता था।

७. गुरु अपने शिष्यको पुत्रके समान मानकर उसके भोजन-वस्त्रका प्रबंध करते थे और उसके चारित्र्यिक विकासका ध्यान रखते थे।

८. अनेक विषयोंके अध्ययनकी सुविधा थी किन्तु किसी एक शास्त्रमें पारंगत होना आवश्यक समझा जाता था।

९. जातिक्रमके अनुसार शिक्षाक्रमका निर्धारण होता था।

१०. राजाओं या शासकोंकी ओरसे गुरुकुलकी व्यवस्थामें किसी प्रकारका कोई हस्तक्षेप नहीं होने पाता था।

११. इहलोक और परलोक दोनोंकी सिद्धिके लिये शिक्षाका विधान था।

१२. शिक्षा अधिकांश मौखिक होती थी।

१३. अध्यापक स्वतन्त्र और स्वावलम्बी थे।

१४. नीच ऊँच, राजा-रंकका कोई भेद नहीं था।

१५. विद्याके साथ तपस्यापर अधिक ध्यान दिया जाता था।

१६. शिष्याध्यापक प्रणाली थी अर्थात् ऊपरके वर्गके छात्र अपनेसे नीचेके वर्गके छात्रोंको पढ़ाते रहते थे जिससे कम अध्यापकोंसे ही काम चल जाता था और पढ़ानेवाले छात्रोंका ज्ञान पक्का हो जाता था।

यही कारण है कि भारतीय शिक्षासे बढ़कर संसारकी कोई शिक्षा पद्धति आजतक पूर्णतः सफल नहीं हो पाई।

———

बौद्ध शिक्षा-प्रणाली

वैदिक कालके भारतमें जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी वह स्मृति-कालतक ज्योंकी त्यों सुरक्षित चली आई, अर्थात् गुरु या आचार्यके प्रति छात्रों, अभिभावकों तथा राज्याधिकारियोंकी अखण्ड श्रद्धा, पूर्ण विश्वास और अद्वितीय आदर बना रहा। धनी नागरिक तथा व्यावसायिक-वर्ग स्वतः प्रेरणासे छात्रोंके भरण-पोषणकी व्यवस्था करते थे। शिक्षा-व्यवस्थामें राज्यकी ओरसे तनिक भी हस्तक्षेप नहीं होता था। विद्यार्थी अपने गुरुको ईश्वरतुल्य मानते थे, उनकी आज्ञाका आग्रहपूर्वक पालन करते थे; सब प्रकारसे अपने गुरुओंको प्रसन्न और सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करते थे, गुरुकी सब प्रकारसे सेवा करना अपना धर्म समझते थे, अपने सहपाठियों तथा अन्तेवासियोंके साथ गुरु और शिष्य अत्यन्त आत्मीयता और सद्भावका व्यवहार करते थे। राजा लोग भी छात्रोंके सामने अपने यानसे उतरकर उनका सत्कार करते थे और विद्यार्थीको भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ अपने लिये गौरवपूर्ण और श्रेयस्कर समझता था।

कन्याओंकी शिक्षामें परिवर्त्तन

जहाँ वैदिक कालमें गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी हुईं, घोषा और लोपामुद्रा जैसी मंत्रद्रष्टी ऋषि कन्याएँ हुईं, अरुन्धती जैसी ऋषि-कल्प देवियाँ हुईं, वहाँ स्मृति तथा पुराण-कालमें सहसा शिक्षिता देवियोंका अभाव हो गया क्योंकि यज्ञोपवीत संस्कार तथा वेदाध्ययन आदिकी जो सुविधाएँ वैदिक कालमें थीं वे इस कारण हटा ली गईं कि गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारियोंके सात्त्विक जीवनके लिये आश्रमकी कन्याओंका

सम्पर्क बाधक सिद्ध होने लगा। अतः आगे चलकर वात्स्यायन (चाणक्यका दूसरा नाम) ने स्त्रियोंके लिये चौंसठ कलाओंकी शिक्षाका विधान किया और यह व्यवस्था दी कि कन्याओंको अपनी बड़ी विवाहिता बहन, भाभी, विवाहिता सखी अथवा गृहस्थिनसे संन्यासिनी बनी हुई परिव्राजिकाओंसे यह शिक्षा लेनी चाहिए। इतने सब परिवर्त्तनोंका कारण मुख्यतः यह था कि नैतिक दृष्टिसे गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारियोंके साथ कन्याओंको रखना उचित नहीं था। दूसरे, बौद्ध धर्मने सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था शिथिल कर दी थी। इसलिये जैसे यवनोंके आक्रमण-कालमें हिन्दुओंको बाध्य होकर बाल-विवाह और घूँघट-प्रथाका प्रवर्त्तन करना पड़ा, वैसे ही बौद्धोंकी विहार-व्यवस्था और भिक्षु-भिक्षुणी-सम्पर्ककी अनेक घटनाओंसे त्रस्त होकर समाजको यह मार्ग अपनाना पड़ा।

बौद्ध-धर्म

बहुतसे इतिहासकारोंने अँगरेज़ लेखकोंकी देखा-देखी भ्रमसे यह लिख डाला है कि बुद्धने वैदिक कर्मकाण्डमें होनेवाली जीवहिंसासे ही विरक्त और द्रवित होकर अहिंसा धर्मका प्रतिपादन किया। किन्तु जिन लोगोंको बुद्धके जीवन और उनके दर्शनका तनिक भी परिचय है वे भली-भाँति जानते हैं कि वृद्ध, रोगी और मृतक देखनेसे गौतमको यह जानकर विराग हुआ था कि संसारमें प्रत्येक व्यक्तिको जरा, रोग और मरणका आखेट बनना पड़ता है। अतः उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टिको दुःखसे मुक्त करनेका संकल्प किया। उनके दर्शनके आधार जो चार अरिय सच्च (आर्य सत्य) हैं उनमें स्पष्ट रूपसे इस व्यापक दुःख और उसके परिहारकी ही योजना है। वे आर्य सत्य ये हैं—१. दुःख, २. दुःख-समुदय (दुख उपजना), ३. दुःख-निरोध (दुःखकी रोकथाम), ४. दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (दुःख रोकनेके उपाय)। इन चारों आर्य सत्योंको सिद्ध करनेके लिये उन्होंने मज्झिमा पड़िपदा (मध्यमा

प्रतिपदा) या मध्यम मार्गका उपदेश दिया जिसमें यह बताया गया कि न तो संसारके मायामोहमें ही रहना ठीक है, न संसारसे पूर्णतः अलग रहकर तपस्याके द्वारा शरीरको कष्ट देना ही उचित है। अतः मध्यम मार्ग यही है कि सब सांसारिक ममता छोड़कर संसारमें रहकर ही निर्वाण-प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया जाय। इसके लिये उन्होंने अट्ठंग मग्ग (अष्टांग मार्ग) का विधान किया, जिसके अनुसार प्रत्येक भिक्खुको दु.ख-निरोध गामिनी-प्रतिपद् (दुःख रोकनेके उपाय) का मार्ग आठ प्रकारसे साधना चाहिए—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धने अपनी इस मध्यमा प्रतिपदाकी व्याख्या करते हुए कहा है-"हे भिक्षुओ! परिव्राजकोंको इन दो अन्तोंका सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अन्त कौनसे हैं? पहला तो काम या विषयमें सुखके लिये अनुयोग करना। यह अन्त अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थ-संहत है। दूसरा है शरीरको क्लेश देकर दुःख उठाना। यह भी अनर्थ-संहत है। हे भिक्षुओ! तथागतने (मैंने) इन दोनों अन्तोंको त्यागकर मध्यमा प्रतिपदाको (मध्यम-मार्गको) जान लिया है।"

बौद्धोंकी शिक्षा-व्यवस्था

जिस समय गौतम बुद्धने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ किया और सब अवस्था, वर्ग और जातिके लोगोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना आरम्भ किया तब इस नव-दीक्षित बौद्ध-समाजमें बड़ी अव्यवस्था और विशृंखलता व्याप्त हो गई। यहाँतक कि हत्यारे, चोर और डाकू जैसे अपराधी भी राजदण्डसे मुक्ति पानेके लिये भिक्षु बनने लगे। इस दुरवस्थाको दूर करनेके लिये गौतम बुद्धने ये नियम बनाए—

१. अट्ठारह वर्षकी अवस्थासे कमका कोई व्यक्ति दीक्षित न किया जाय।

२. छूत रोगोंसे आक्रान्त व्यक्ति संघमें न लिए जायँ।

३. राजदण्ड पाए हुए अपराधी भरती न किए जायँ।

४. माता-पिताकी आज्ञा बिना कोई युवक न प्रविष्ट किया जाय।

स्त्रियोंको भिक्षु-संघमें प्रविष्ट नहीं किया जाता था; किन्तु अपने प्रधान शिष्य आनन्दके बहुत आग्रह करनेपर बुद्धने अपनी बूआ गौतमीको दीक्षित तो कर लिया था किन्तु साथ-साथ यह भी कहा था कि यदि मेरा धर्म एक सहस्र वर्ष चलता तो अब केवल पाँच सौ वर्ष ही चलेगा।

संघाराममें भिक्खु-विनय

बुद्धने उदारताके साथ सबके लिये अपने भिक्षुसंघके द्वार खोल तो दिए किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि अनेक जाति, वर्ग, वृत्ति और अवस्थावाले लोग आ-आकर बौद्धसंघमें सम्मिलित होकर अत्यन्त भयानक रूपसे अविनय और उछृङ्खलता फैलाने लगे। कोई गुरु न होनेसे किसीको छोटे-बड़ेका संकोच न रहा। बुद्धके नीचे सभी अपनेको प्रधान समझने लगे। यह अविनय यहाँतक बढ़ा कि जब वे लोग भिक्षा माँगने जाते तो गृहस्थोंके घर जाकर कोलाहल करते, एक दूसरेके पात्रपर जूठे पात्र बढ़ा-बढ़ाकर दाल-भात-खिचड़ीकी लूट करते और आपसमें धक्कम-धुक्की और गाली-गलौज भी करते। जब गृहस्थोंने आकर गौतम बुद्धसे यह बात कही तब उन्होंने भिक्षुओंको धिक्कारते हुए आदेश दिया कि सबको अपने लिये उपाध्याय करना चाहिए अर्थात् किसीको अपना गुरु बनाना चाहिए। किन्तु उपाध्याय नियुक्त हो जानेपर भी भिक्खुओंकी उछृंखलता कम नहीं हुई और वे अनेक बार अपने उपाध्यायोंकी आज्ञाओंका भी उल्लंघन करने लगे। परिणाम यह हुआ कि गौतम बुद्धको शिष्य और उपाध्यायके कर्त्तव्य निश्चित कर देने पड़े जो प्रायः वैसे ही थे जैसे वैदिक गुरुकुल प्रणालीमें प्रचलित थे।

उपाध्यायके कर्त्तव्य—

१. वह अपने शिष्य-भिक्षुओंको शिक्षा दे।

२. उनकी जीवन-चर्याका ध्यान रक्खे।

३. यदि वे रोगी हों तो उनकी सेवा-शुश्रूषाका प्रबन्ध करे।

४. उन्हें शील और सदाचारकी शिक्षा दे।

५. सब प्रकारसे उनका संरक्षण करे।

शिष्योंके कर्त्तव्य —

शिष्योंका कर्त्तव्य था कि—

१. उपाध्यायकी सब प्रकारकी आज्ञा मानें।

२. उपाध्यायकी सब प्रकारसे सेवा करें। उनके शरीरमें तैल मलें, कोठरीमें झाड़ू दें जाले झाड़ें, चौकी बाहर निकालकर धूपमें सुखावें और बर्त्तन माँजें।

३. गुरुकी सिखाई हुई विद्या ध्यानसे सीखें।

४. जब गुरु चलने लगें तो उनके वस्त्र और पात्र लेकर उनके पीछे चलें।

५. यदि उपाध्याय रोगी हों तो सब प्रकार उनकी सेवा-शुश्रूषा करें।

पाठ्यक्रम

बौद्ध लोग संसारके त्यागका उपदेश देते थे इसलिये प्रारम्भमें उन्होंने सम्पूर्ण इहलौकिक विद्याओंको संघसे निकाल डाला और केवल बौद्ध-दर्शन और प्रज्ञा-पारमिताका ही अध्ययन करने लगे। वैदिक दर्शनोंका खण्डन करनेके लिये कुछ भिक्षु तो योग, सांख्य, पूर्व-मीमांसा, उत्तर मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, जैन और चार्वाक दर्शनोंका भी अध्ययन करते थे। व्याकरण और तर्कका अध्ययन विशेष रूपसे कराया जाता था। बौद्ध दर्शनका अध्ययन और अध्यापन पालि भाषाके द्वारा

होता था जो बुद्धने संस्कृत और मागधी मिलाकर गढ़ी थी। एक बार बुद्धके कुछ शिष्योंने यह प्रस्ताव भी किया था कि आपके सब वचन संस्कृतमें सुरक्षित कर दिए जायँ। किन्तु उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने कहा कि मैं ब्रह्मण भाषा (संस्कृत भाषा) में अपने वचन नहीं कहना चाहता। पीछे चलकर नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयोंमें अन्य इहलौकिक विषयोंके साथ-साथ मूर्त्तिकला जैसे विषय भी पढ़ाए जाने लगे।

बौद्ध विहारोंकी ज्ञानचर्या

बौद्ध विहारोंमें चौबीस घंटे पढ़ाई चलती रहती थी। साधारणतः एक-एक उपाध्याय एक-एक मंचपर बैठते थे और अनेक भिक्षु उनके तीन ओर बैठकर अत्यन्त संयमके साथ मौन होकर प्रवचन सुनते थे। यदि कहीं शंका होती या प्रश्न पूछना होता तो वे उठकर, उपाध्यायकी आज्ञा लेकर शंका उपस्थित करते और उसका समाधान सुनते। इन मंच-प्रवचनोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपाध्याय भी थे जो घूमते हुए प्रवचन करते रहते थे और उनके शिष्य पीछे-पीछे प्रवचन सुनते चलते थे।

शिक्षा-प्रणाली

बौद्धोंसे केवल तीन शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। एक तो प्रवचन या व्याख्यान-प्रणाली (लेक्चर मेथड), दूसरी व्याख्या-प्रणाली, जिसमें पाठ्य विषयके सब अंगोंका विश्लेषण करके तथा उदाहरण देकर उसे विस्तारसे समझाया जाता था। तीसरी प्रश्नोत्तर प्रणाली थी, जिसमें शिष्य प्रश्न करते थे और गुरु उत्तर देते थे। इसके अतिरिक्त भिक्षुगण आपसमें पाठ विचार या ज्ञान-विचार भी करते थे। बौद्धोंमें वैदिक गुरुकुलकी शिष्याध्यापक-प्रणाली (मौनीटोरियल सिस्टम) का प्रयोग नहीं किया गया।

दिनचर्या

सब भिक्षु प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होकर सिर और तलवेमें तैल लगाकर, यवागू (खिचड़ी या दलिया) खाकर पढ़ने बैठ जाते थे और मध्याह्नमें भिक्षा माँगने निकल पड़ते थे जहाँ उन्हें सिद्धान्न (पका हुआ भोजन) मिलता था। जिन विहारोंके भोजनका प्रबन्ध धनिकों, ग्रामों या कुलिकोंने ले लिया था उनके भिक्षु प्रायः भिक्षा माँगने नहीं जाते थे जैसे नालन्दामें। सन्ध्याको प्रवचन होता था जो प्रायः आचरण सम्बन्धी विषयोंसे ही सम्बद्ध होता था। लगभग तीन घड़ी रात गए ही सब भिक्षु सो जाते थे किन्तु जो पढ़ना चाहते उनके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

बौद्ध शिक्षाकी विशेषताएँ

१. शारीरिक शिक्षा और व्यायामका प्रायः अभाव था।

२. संघमें प्रवेश होनेके लिये अवस्थाका कोई बन्धन नहीं था।

३. बाल-शिक्षा तथा स्त्री-शिक्षाका पूर्ण अभाव था।

विद्यालयोंके प्रकार

बौद्धोंके यहाँ दो ही प्रकारके विद्यालय हुए—

१. विहार या संघाराम, जिनमें प्रवचनों-द्वारा शिक्षा दी जाती थी। वे वास्तवमें विद्यालय नहीं थे वरन् संघाचरण और सदाचरणके अभ्यास-मठ-मात्र थे।

२. नालन्दा और विक्रमशिला जैसे महाविद्यालय, जहाँ व्यवस्थित रूपसे वर्त्तमान विश्वविद्यालयोंकी भाँति बौद्ध दर्शनके अतिरिक्त अनेक विषयोंकी शिक्षा दी जाती थी।

बौद्ध शिक्षा-पद्धतिका परिणाम

इसका परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण शिक्षा अत्यन्त अव्यवस्थित हो गई और चारों ओर व्यापक रूपसे अराजकता फैल गई। कुछ

थोड़ेसे गाँवोंके अनधिकारी पण्डितोंने चटसालें खोलकर लिखाना-पढ़ाना प्रारम्भ किया किन्तु उनका न कोई महत्त्व था न कोई आदर। संघारामों (बिहारों) में भी जो शिक्षा दी जाती थी उसकी परीक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं था। इसलिये शिक्षापर जो शक्ति लगाई जा रही थी वह अधिकांश निष्फल हुई। जिस प्रकार बौद्ध धर्मने भारतीय वैदिक वर्णाश्रम धर्मको विशृंखलित किया वैसे ही गुरुकुलकी शिक्षा-प्रणाली भी उसने ऐसी ध्वस्त कर डाली कि आजतक भी वह अशिक्षाका अन्धकार ज्योंका त्यों बना है। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि नालन्दा और विक्रमशिलामें जो विश्वविद्यालय स्थापित हुए उनकी व्यवस्था वैदिक गुरुकुल-पद्धतिपर हुई इसलिये वे अत्यन्त भव्य तथा व्यवस्थित रूपमें चलते रहे। शिक्षामें अव्यवस्था होनेका कुछ यह भी कारण था कि बुद्धने निर्वाणको ही जीवनका लक्ष्य बताया, सांसारिक सुखोंके परित्यागका सम्मति दी और भिक्खु-जीवन व्यतीत करनेका विधान बनाया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हमारे देशमें अनेक शताब्दियोंसे चली आती हुई प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त हो गई, अर्थ और कामसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण लौकिक विद्याएँ लुप्त होने लगीं और जब वर्णाश्रम धर्म और समाज ही संकटमें पड़ गया तब उसके आचार-विचार और कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त विद्याएँ स्वयं उपेक्षित हो गई। भिक्षु-भिक्षुणियोंके सहनिवास और सहशिक्षाने प्रारम्भमें ही इतनी समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं कि बुद्धको स्वयं अपने जीवनकालमें ही उनके निराकरणके लिये नियम बनाने पड़ गए थे। इस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध-शिक्षा एकाङ्गी, संकुचित और दार्शनिक-मात्र बनी रह गई।

—:०:—

नालन्दा

ऊपर बताया जा चुका है कि गौतम बुद्धने अपना धर्म इतना उदार कर दिया कि सब जाति और अवस्थाके लोग उसमें प्रविष्ट हो सकते थे। बुद्धसे पूर्व अध्यापनका कार्य केवल ब्राह्मण ही करते थे किन्तु बौद्ध विहारोंमें कोई भी योग्य और विद्वान् पुरुष गुरु हो सकता था। किन्तु प्रसिद्ध थेरों (स्थविरों) का इतिहास पढ़नेपर ज्ञात होता है कि उनमें भी अधिकांश ब्राह्मण ही थे, यहाँतक कि बुद्धके जो आदि पाँच शिष्य (पंचवर्गीय भिक्षु) थे, वे भी सब ब्राह्मण ही थे, किन्तु फिर भी जो अध्यापन-कार्य ब्राह्मणोंके लिये रेखाबद्ध था, वह शिथिल होगया। बुद्धने अपने सभी शिष्य-भिक्षुओंको यह भी आज्ञा दी थी कि प्रत्येक भिक्षु अपने विहारके आसपास रहनेवाली जनताको शिक्षा दे। इसलिये प्रत्येक भिक्षुके लिये यह आवश्यक हो गया कि यह स्वयं सुशिक्षित हो। तदनुसार प्रत्येक संघाराम या बौद्ध विहार ही शिक्षा-पीठ बन गया। इन सब बौद्ध विहार-शिक्षापीठोंमें नालन्दा सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

नालन्दाके अवशेष

नालन्दा-विहारका विश्वविद्यालय बिहार राज्यमें राजगृहसे लगभग आठ मीलकी दूरीपर वर्त्तमान बड़गाँवके पास था। नालन्दा जानेके लिये पटनासे आगे बख़्तियारपुरसे सकरी पटरीकी बख़्तियारपुर-लाइट रेलवेकी गाड़ी चलती है। बख़्तियारपुर और राजगृहके बीचमें ही नालन्दा स्टेशन है जहाँसे लगभग डेढ़ मीलकी दूरीपर नालन्दा विश्वविद्यालयके भग्नावशेष विस्तृत परिक्षेत्रमें फैले पड़े हैं। बख़्तियार ख़िलजीने यहाँके सब अन्तेवासियोंको अत्यन्त निर्दयतापूर्वक तलवारके घाट उतारकर इस

विश्वविद्यालयको उजाड़ दिया था। पुरातत्त्व-विभागकी ओरसे जो खुदाई हुई है उसमें इन भग्नावशेषोंमेंसे स्तूप, मठ, विद्यालय और छात्रावासके पूरे अंश प्राप्त हुए हैं, जिनमें केवल छतें नहीं हैं। इन भवनोंमें आँगन, कुँए, भोजनालयके चूल्हे और पुस्तक पकानेके चूल्हे मिले हैं। उस समय बहुतसे भिक्षु मिट्टीके खपड़ोंपर ग्रन्थ लिखते थे और उन्हें पकाकर पक्का कर लेते थे। इनके अतिरिक्त जो बहुतसे खुदे हुए लेख, मूर्त्तियाँ और मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, वे सब पास ही राजकीय संग्रहालयमें सुरक्षित हैं।

ऐतिहासिक विवरण

प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथका कहना है कि 'यहींपर सारिपुत्रका जन्म हुआ था और यहीं अस्सी सहस्र अर्हतोंके साथ उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। उनकी स्मृतिमें एक चैत्य-मात्र बचा रह गया था जिस-पर अशोकने एक बौद्ध-विहार बनवा दिया था।' किन्तु चीनी यात्री फ़ाहियानके समयतक इसकी बहुत प्रसिद्धि नहीं थी। उसने अपने विवरणमें जिस नालो नामक गाँवका वर्णन किया है, उसीको लोग नालन्दा मान लेते हैं। नालन्दाका सर्वश्रेष्ठ तथा विस्तृत वर्णन ह्वेन्त्साङ् (ह्वेनत्सांग) ने किया है। वह लिखता है कि 'नालन्दामें बने हुए छः विहारोंमेंसे चार बालादित्यने और उससे पूर्ववर्त्ती मगधके राजा तथागत-गुप्त, बुद्धगुप्त और शक्रादित्यने निर्मित कराए थे। ये सभी गुप्त-वंशके शासक थे और इन्हींके समयमें, इन्हींकी उदारतासे नालन्दाकी श्री-वृद्धि हुई। ह्वलीने लिखा है कि 'नालन्दा विहार ह्वेनत्सांगके आगमनसे सात सौ वर्ष पहले अर्थात् ईसासे एक शताब्दि पूर्व स्थापित हुआ था। प्रारम्भमें यह बौद्ध-विहार-मात्र था किन्तु ज्यों-ज्यों इसमें बाहरसे ज्ञान-पिपासु आने लगे और विद्वान् लोग एकत्र होने लगे त्यों-त्यों इसका रूप विश्वविद्यालयका होता गया। सम्राटोंकी उदार सहिष्णुता तथा सम्राट्

हर्षका राज्याश्रय पाकर यह विश्वविद्यालय और नालन्दा नगरी इतनी प्रसिद्ध हो गई कि वहाँसे मिली हुई एक मुद्रापर यह खुदा हुआ है— 'नालन्दा हसतीव सर्वनगरीः' अर्थात् नालन्दा इतनी विशाल और सुन्दर नगरी है कि अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओंके कारण संसारकी समस्त नगरियोंपर हँसती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नगरी ढाई सहस्र वर्ष पहले महावीर स्वामीके समय तथा गौतम बुद्धके समय भी प्रसिद्ध थी। गौतम तो नालन्दाके पास प्रावारिकाम्रवनकी अमराईमें आकर ठहरते भी थे।

नालन्दा नाम क्यों पड़ा ?

इस विश्वविद्यालयका नाम नागराजा नालन्दाके नामपर नालन्दा पड़ा। किन्तु इसकी दूसरी व्याख्या भी है। वहाँ इतनी विद्या बाँटी जाती थी कि किसीको अलम् (बस) नहीं कहा जाता था (न अलम् ददाति या सा नालन्दा)। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ 'नाल' (कमलकी डंठल) बहुत निकाली जाती थी इसलिये 'नालन्दा' कहते थे।

नालन्दासे प्राप्त यशोवर्माके शिलालेखमें लिखा है—

यासावूर्जितवैरिभू-प्रविगलद्दानाम्बुपानोल्लसन्-
माद्यद्भृङ्ग-करीन्द्र कुम्भदलन-प्राप्तश्रियाम्भूभुजाम् ।
नालन्दा हसतीव सर्वनगरीः शुभ्राभ्रगौर स्फुरत्-
चैत्यांशुप्रकरैस्सदागम-कलाविख्यातविद्वज्जनाः ॥
यस्यामम्बुधरावलेहि-शिखर-श्रेणी-विहारावली—
मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः ।
नानारत्न-मयूखजालखचित प्रासाद-देवालया
सद्विद्याधर-सङ्घ-रम्यवसतिर्धत्ते सुमेरोः श्रियम् ॥

[अपने शुभ्र ऊँचे चैत्योंके किरण-समूहोंसे नालन्दा नगरी बड़े-बड़े राजाओंकी नगरियोंकी मानो हँसती है और इसके जिन ऊँचे प्रासादों एवं विहारोंकी पंक्तियोंमें प्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् लोग वास करते हैं,

वे उस सुमेरु पर्वतसी शोभावाली लगती हैं जिसमें विद्याधर निवास करते हैं।]

नालन्दाके भवन

इस विश्वविद्यालयमें छः-छः खण्ड ऊँचे छः विद्यालय थे। विश्वविद्यालयके समस्त भवनोंके चारों ओर ईंटोंका दृढ़ परकोटा बना हुआ था, जिसमें एक ही द्वार बना था। इसीके धर्मगञ्ज नामक भागमें एक अत्यन्त सम्पन्न और सुन्दर पुस्तकालय अवस्थित था जिसके रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नञ्जक नामक तीन भवन थे। इनमेंसे रत्नोदधि भवन नौ खण्ड ऊँचा था जिसमें प्रज्ञापारमिता और समाज-गुह्य आदि पवित्र तन्त्र-ग्रन्थ सुरक्षित थे। इन भवनोंके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालयके भीतर पत्थरकी सड़कें, अनेक प्रकारके कूप और जल-घड़ियाँ बनी हुई थीं। विश्वविद्यालयके चारों ओर कमलोंसे भरे हुए दस बड़े-बड़े पक्के सरोवर थे जिनमें नित्य प्रातःकाल विश्वविद्यालयके अन्तेवासी घण्टा बजते ही स्नान करनेके लिये कूद पड़ते थे। इनके अतिरिक्त आठ बड़े-बड़े शालागृह थे, जिनकी खिड़कियोंमेंसे मेघोंकी अनन्त आकृतियाँ तथा सूर्य-चन्द्रकी सन्धिके दिव्य दृश्य दिखाई देते थे और आस-पासके पद्मपुनीत सरोवरों तथा हरी-भरी अमराइयोंकी मनोहर हरीतिमा चित्त प्रसन्न करती रहती थी। इन शालागृहोंके आँगनोंके चारों ओर तथा बड़े विहारमें कई सौ कोठरियाँ थीं जहाँ तीन सहस्रसे अधिक भिक्खु तथा अध्यापक रहते थे।

प्रवेश

सम्पूर्ण एशिया-भरसे अनेक ज्ञान-पिपासु ज्ञानार्थी उसमें प्रवेश पानेके लिये लालायित होकर वहाँ आते थे। भिक्षु और अभिक्षु दोनोंको वहाँ प्रविष्ट किया जाता था किन्तु वहाँ प्रवेश होनेके लिये परीक्षाका विधान अत्यन्त कठोर था। विश्वविद्यालयके मुख्य द्वारपर

अनेक विद्याओं और शास्त्रोंके प्रकाण्ड विद्वान् द्वार-पण्डित, प्रवेशार्थी छात्रोंकी प्रारम्भिक परीक्षा लेते थे और उनके पूर्वज्ञान तथा विद्या-संस्कारका परिज्ञान करते थे। इसलिये कठिनाईसे दसमेंसे दो या तीन छात्र प्रविष्ट हो पाते थे।

विश्वविद्यालयके अधिकारी

द्वार-पण्डितोंके अतिरिक्त और भी अनेक अधिकारी होते थे जिनमें तीन बहुत प्रसिद्ध थे—१. धर्मकोष (कुलपति), २. कर्मदान (व्यवस्थापक) और ३. पीठस्थविर (आचार्य)। ह्वेनत्सांगके समयमें शीलभद्र ही वहाँके कुलपति या धर्मकोष थे।

पाठ्यक्रम

इस विश्वविद्यालयमें जो भिक्खु होकर आता था उसे जब दस शील उच्चारण करनेकी योग्यता हो जाती थी तब उसे मातृकेतुके दो सूत्र पढ़ाए जाते थे। इसके पश्चात् उसे नागार्जुनकी सुहृल्लेखा, जातक-माला, महासत्त्वचन्द्रके गान, अश्वघोषके काव्य, सूत्रालंकार-शास्त्र और बुद्धचरित पढ़ाया जाता था। बौद्ध धर्मके इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी पढ़ाए जाते थे। उक्त विषयोंके अध्ययनसे पूर्व लगभग चौदह वर्ष (यदि बालक हो तो ६ वर्षसे लेकर १४ वर्षतक) तक व्याकरणका प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। काशिकावृत्ति समाप्त कर चुकनेपर विद्यार्थीको हेतु-विद्या (तर्कशास्त्र) और अभिधम्मकोष (बौद्ध दर्शन) का अध्ययन कराया जाता था। इनके अतिरिक्त अन्य दर्शन, योग-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, तांत्रिक दर्शन, आयुर्वेद और रसायन भी पाठ्यक्रममें रक्खे गए थे। विचित्र बात यह थी कि बौद्ध होते हुए भी इस विश्वविद्यालयमें साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं थी। प्रत्येक व्यक्तिको महायान, अठारहों सम्प्रदायोंके ग्रन्थ, वेद, हेतु-विद्या, शब्द-विद्या, चिकित्सा, शिल्प-स्थान (विभिन्न कलाएँ), अभिचार और सांख्यका अध्ययन करना पड़ता

था। इस शास्त्रीय और साहित्यिक अध्ययनके अतिरिक्त विद्यार्थियोंको व्यायाम भी करना पड़ता था और दैनिक चक्र अर्थात् टहलना सबके लिये अनिवार्य था।

दिनचर्या और शील

इस विश्वविद्यालयकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें दस सहस्त्र विद्यार्थी रहते हुए भी सात शताब्दियोंमें एक भी ऐसा अवसर नहीं आया कि वहाँके किसी भी अन्तेवासीको दण्डित करना पड़ा हो। इसका कारण वहाँकी दिनचर्या थी, जिसका पालन प्रत्येक व्यक्तिको कठोरतासे करना पड़ता था। छात्रावासोंके पास ही जो दस सरोवर थे उनमें ब्राह्ममुहूर्त्तके समय ही जहाँ घंटा बजा कि सम्पूर्ण अन्तेवासी स्नानके लिये उतर जाते थे। प्रत्येक अन्तेवासीको प्रातःकाल सिरपर मलनेके लिये और संध्या समय तलवोंमें मलनेके लिये तेल दिया जाता था। सब अन्तेवासी प्रातः और सायं टहलने निकल जाते थे और प्रातः एवं सायं टहलनेके पश्चात् ही अध्ययन-अध्यापन होता था, यद्यपि वास्तवमें वहाँ चौबीसों घंटे पढ़नेका क्रम चलता रहता था। आगे चलकर इत्सिंगके समयमें छात्रोंकी संख्या घटकर तीन सहस्त्र ही रह गई थी क्योंकि बिहारमें ही विक्रमशिला नामका एक दूसरा विश्वविद्यालय खुल गया था।

अध्यापक

नालन्दामें यद्यपि महायान-सम्प्रदायके अनुयायी दस सहस्त्र भिक्खु रहते थे किन्तु वे अट्ठारहों बौद्धागमों, चारों वेदों तथा विभिन्न आगमोंका अध्ययन करते थे। इनमेंसे जो असाधारण विद्वान् होते थे वे 'विशिष्ट' पुरुष कहलाने लगते थे। नालन्दामें लगभग पन्द्रह सौ अध्यापक थे जो अपने प्रभाव, विद्वत्ता, शील और पाण्डित्यके लिये दूर-दूरतक प्रसिद्ध थे। इनमेंसे हर्षके पूर्व ३२० ई० में नागार्जुन,

आर्यदेव, आर्य असंग, वसुबंधु और धर्मपाल अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ह्वेनत्सांगके समय शीलभद्र ही वहाँके सबसे बड़े विद्वान् थे और कहा जाता है कि वे सभी विषयोंके समान रूपसे पण्डित थे। उनके अतिरिक्त एक सहस्र ऐसे विद्वान् थे जो तीस-तीस शास्त्रोंका एक साथ विवेचन कर सकते थे और दस ऐसे थे जो पचास-पचास शास्त्रोंके ज्ञाता थे। इनके लिये कहा गया है कि चन्द्रपालकी शिक्षाओंसे महात्मा बुद्धके उपदेशोंको सुगन्ध प्राप्त होती थी, गुणमति और स्थिरमतिकी बड़े-बड़े विद्वान् पूजा करते थे, प्रभामित्रकी विलक्षण तर्क-शैली प्रतिस्पर्धियोंको भी मोहित कर लेती थी, वार्त्तालाप-कलामें जिनमित्रको कोई पा नहीं सकता था तथा आदर्श चरित्र और कुशाग्र बुद्धिके लिये ज्ञानचन्द्र अद्वितीय थे। हर्षके पीछे जिन अनेक आचार्योंकी लोकव्यापी ख्याति हुई उनमें चन्द्रगोविन, शान्तरक्षित, पद्मसम्भव, विनीतदेव, कमलशील, बुद्धकीर्त्ति, कुमारश्री, कर्णश्री, सूर्यध्वज, सुमतिसेन, आचार्यदेव और प्रभाकरमित्र अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

व्यवस्था

इस विश्वविद्यालयमें पाठ्य-क्रम तो उदार था ही, साथ ही शिक्षार्थियोंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। गुरु और शिष्य दोनों इतना मर्यादित, सुसंघटित और आदर्श जीवन व्यतीत करते थे कि सात सौ वर्षोंमें एक भी अपराध किसीने नहीं किया। यद्यपि प्रतिदिन सौ मञ्चोंसे अध्यापक लोग प्रवचन करते थे और प्रत्येक विद्यार्थीके लिये इन प्रवचनोंमें उपस्थित होना अनिवार्य था किन्तु फिर भी दिनका समय पर्याप्त नहीं होता था और इसीलिये वहाँके अन्तेवासी दिन-रात एक दूसरेकी सहायता करते हुए, पाठ विचारते हुए, अध्ययन और अध्यापन करते रहते थे।

अक्षयनीवी

इतने बड़े विश्वविद्यालयकी पोषणकी व्यवस्था वहाँके राजाओंने

दो सौसे अधिक गाँवकी अक्षयनीवी (स्थिर पोषण) के रूपमें देकर सुलझा दी। इत्सिंगके समयमें दो सौ गाँवोंने इनके पोषणका भार अपने ऊपर ले रक्खा था। प्रतिदिन दो सौ किसान बहँगियोंपर चावल, दूध और मक्खन ला-लाकर वहाँ पहुँचाते थे। बाहरसे आनेवाले गुण-ग्राहक, उदार और धनिक भी समय-समयपर पर्याप्त धन दे जाते थे। यही कारण है कि वहाँके अध्यापक तथा छात्र निश्चिन्त होकर विद्याध्ययन करते थे क्योंकि उन्हें भोजन, वस्त्र, पात्र और औषधिके लिये विश्वविद्यालयकी ओरसे व्यवस्था थी। वहाँ छात्रोंके लिये निःशुल्क भोजनालय खोल दिए गए थे जहाँ विभिन्न वस्तुओंके वितरणकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था कर दी गई थी। नालन्दाका छात्र होना इतने गौरव और सम्मानकी बात थी कि वहाँका कोई भी स्नातक एशियाके किसी प्रदेशमें केवल 'नालन्दा-बन्धु' परिचय दे देनेपर आतिथ्य, सहायता और आदर प्राप्त कर सकता था।

शिक्षा-पद्धति

नालन्दामें शिक्षण-पद्धति तीन प्रकार की थी—

१. प्रवचन-पद्धति, जो दो प्रकारसे व्यवहृत होती थी—पहली उपदेश-प्रधान, जिसमें नीति और चरित्र-सम्बन्धी प्रवचन होते थे और दूसरी व्याख्या-प्रधान (एक्स्पोज़िशन मेथड), जिसमें अध्यापक लोग शास्त्रीय विषय बताते हुए उसकी व्याख्या और विवेचना करते चलते थे।

२. प्रश्नोत्तरी-पद्धति जिसमें अध्यापक और छात्र दोनों एक-दूसरेसे प्रश्न पूछकर और उत्तर देकर ज्ञान पक्का करते चलते थे।

३. शास्त्रार्थ-पद्धति जिसमें विद्यार्थी परस्पर शास्त्रार्थ करके अपना ज्ञान पक्का करते थे। इन शास्त्रार्थोंमें किसी प्रकारकी कटुता नहीं आने पाती थी और न मनोमालिन्य ही होता था। इसे हम परस्पर-परीक्षण कह सकते हैं। रटना या कण्ठाग्र करना ही ज्ञान-संग्रहका मुख्य आधार

था। छात्र परस्पर विचार-विनियम करके पाठका पारायण भी कर लेते थे तथा अध्यापकोंके पास किसी भी समय पहुँचकर अपनी शंकाका समाधान भी कर लेते थे। अध्यापक इतने उदार थे कि छात्र जिस समय भी आकर प्रश्न पूछते उसी समय उनकी शंकाका समाधान करना और समझा देना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे।

अवसान

जब तेरहवीं ईसवी शताब्दीमें बख्तियार खिलजीने नालन्दाके पास स्थित पाल राजाओंके गढ़ तथा योग-भोग-पूर्ण वज्रयानियोंके केन्द्र उद्दण्डपुरीपर आक्रमण करके वहाँके साधुओंको तलवारके घाट उतारा, उसी समय नालन्दाके भिक्खुओंको भी उन्होंने एक-एक करके काट डाला और इतना विशाल विश्वविद्यालय उन धर्मान्ध मुसलमान शासकोंने ऐसा नष्ट कर डाला कि वहाँका विशाल पुस्तकालय ही छः महीनेतक निरन्तर जलता रहा।

बलभी

काठियावाड़में वर्त्तमान वाला नगरीके समीप बलभी नामक नगर सातवीं शताब्दिमें बौद्ध विद्याका प्रसिद्ध केन्द्र था, यहाँतक कि इत्सिंगने तो इसे नालन्दाके समान प्रसिद्ध माना है। ६४० ई० में वहाँ लगभग सौ बौद्ध विहार थे जिनमें छः सहस्र भिक्खु रहते थे। सातवीं शताब्दिके मध्यमें स्थिरमति और गुणमति नामके प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वहाँ शिक्षण कर रहे थे। बौद्ध विद्या-केन्द्र होते हुए भी दूर अन्तर्वेदीसे भी ब्राह्मण छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये आया करते थे और यहाँसे निकलकर शासन-पदोंपर प्रतिष्ठित होते थे। इसका अर्थ यह है कि वहाँ राजनियम, अर्थशास्त्र और साहित्यका भी शिक्षण कराया जाता था। बौद्धिक स्वातन्त्र्य और धार्मिक उदारता वहाँ पूर्ण रूपसे व्याप्त थी। भारतके विभिन्न भागोंसे जो विद्वान् वहाँ आते थे वे दो-दो तीन-तीन

वर्षतक सत् और असत्के सिद्धान्तोंका ही विवेचन करते रहते थे क्योंकि इन सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें वलभीके आचार्योंका मत ही सर्वमान्य समझा जाता था। वहाँसे जो प्रसिद्ध विद्वान् निकलते थे उनका नाम वैसे ही वहाँके ऊँचे फाटकोंपर खड़ियासे लिखा जाता था जैसे नालन्दामें।

वलभीके समृद्ध नगरके कोटिपति व्यापारी नागरिक तो इस विद्यालयको सहायता देते ही थे किन्तु ४८० से ७७५ ई० तक वहाँ शासन करनेवाले मैत्रक राजा भी निरन्तर आर्थिक सहायता देते रहते थे, विशेषतः पुस्तकालयके लिये। ७७५ ई० में अरबोंने काठियावाड़पर जो आक्रमण किया उससे विश्वविद्यालयकी सम्पूर्ण प्रगति भी पङ्गु हो गई। किन्तु फिर भी मैत्रकोंके उत्तराधिकारियोंने पुनः सहायता देनी प्रारम्भ की जिससे यह विद्याकेन्द्र बारहवीं शताब्दितक इतना प्रसिद्ध रहा कि बङ्गालतकसे वहाँ छात्र आते थे।

विक्रमशिला

आठवीं शताब्दिमें बिहारके भागलपुर नगरसे २४ मील दूर पथरघाट पहाड़ीपर राजा धर्मपालने विक्रमशिला-विहारकी स्थापना की थी। उसने वहाँ अनेक मन्दिर, विहार, भवन तथा अध्ययन-शालाएँ बनवाकर उनके पोषणके लिये बहुत-सी सम्पत्ति लगा दी, जिसकी आय तेरहवीं शताब्दितक विहारको मिलती रही। नालन्दाके समान विक्रमशिला भी शीघ्र ही इतनी प्रसिद्ध हुई कि लगभग चार सौ वर्षोंतक तिब्बत और विक्रमशिलामें परस्पर ऐसा सम्बन्ध बना रहा कि तिब्बतके छात्रोंके लिये वहाँ एक छात्रा-वास जैसी अतिथिशाला बना दी गई थी। तिब्बतके ग्रन्थोंमें विक्रमशिलाके बुद्ध, ज्ञानपाद, वैरोचन, रक्षित, जेतारि, रत्नाकरशान्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नवज्र, अभयङ्करगुप्त तथा तथागतरक्षित आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंकी रचना की और उनमेंसे बहुतोंका अनुवाद तिब्बती भाषामें किया। विक्रमशिलाके इन विद्वानोंमें ग्यारवीं शताब्दिके

दीपङ्कर श्रीज्ञान (उपाध्याय अतिस) अधिक प्रसिद्ध हो गए हैं जिन्होंने तिब्बतमें जाकर बौद्ध धर्मका प्रचार किया और लगभग दो सौ पुस्तकें लिखीं ।

व्यवस्था

बारहवीं शताब्दिमें विक्रमशिलामें तीन सहस्र भिक्खु अध्ययन कर रहे थे। इन सब छात्रोंके लिये अत्यन्त समृद्ध और विशाल पुस्तकालय था। वहाँके प्रधान उस विहारके पीठस्थविर थे और सबके लिये अलग-अलग काम बँटे हुए थे। वहाँके बौद्ध अध्यापक इतना सरल जीवन व्यतीत करते थे कि उनका अधिकसे अधिक व्यय चार साधारण भिक्खुओंके समान होता था। वहाँकी शिक्षा-व्यवस्था छः द्वारपण्डितोंके हाथमें थी जिनका नेता वहाँका पीठस्थविर होता था। वहाँ भी नालन्दके समान कठोर परीक्षाके पश्चात् प्रवेश मिलता था। वहाँके पाठ्य विषयोंमें बौद्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, तन्त्र और कर्मकाण्डका विशेष अध्यापन होता था। शिक्षा पूर्ण कर चुकनेपर वहाँके छात्रोंको राजाओंके हाथसे उपाधिपत्र मिलते थे और वहाँके प्रमुख छात्रोंके चित्र विद्यालयोंकी दीवारोंपर बनवा दिए जाते थे।

सन् १२०३ में बख्तियार खिलजीने विक्रमशिलाको दुर्ग समझकर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तबाकाते-नासिरीमें लिखा है कि 'उस विहारमें अधिकांश ब्राह्मण पण्डित (बौद्ध भिक्खु) थे जो सब मार डाले गए। वहाँ जितनी हिन्दुओंकी धर्मपोथियाँ थीं उनका रहस्य जाननेके लिये कुछ हिन्दुओंकी खोज हुई किन्तु सभी मार डाले जा चुके थे। जब उन पुस्तकोंका रहस्य ज्ञात हुआ तब आक्रमणकारियोंको ज्ञात हुआ कि यह दुर्ग नहीं था विद्यालय था। इस प्रकार उस विद्यालयका करुण अवसान हुआ किन्तु वहाँके पीठस्थविर शाक्य श्रीभद्र कुछ बचे-खुचे साथियोंके साथ तिब्बत भाग गए।

अन्य विद्याकेन्द्र

ह्वेन्त्सांगके जीवन-चरितसे ज्ञात होता है कि नालन्दा, वलभी और विक्रमशिलाके अतिरिक्त कश्मीरमें जयेन्द्र विहार, पंजाबमें चीनापट्टी और जलन्धर विहार, बिजनौर उत्तर प्रदेश) में मतिपुर-विहार, कन्नौजमें भद्र-विहार, आन्ध्रमें अमरावती तथा हिरण्य देशके विहार आदि अनेक विद्याकेन्द्र सातवीं शताब्दिमें देशभरमें फैले हुए थे, जिनमें ठहर-ठहरकर ह्वेन्त्सांगने बौद्ध ग्रन्थोंका अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त बिहार और बङ्गालमें बारहवीं शताब्दितक ओदन्तपुरी और जगद्दल्ल-विहार जैसे बड़े विद्याकेन्द्र थे, जिससे पह परिणाम निकालनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि इन बौद्ध विद्या-केन्द्रोंने भारतीय ज्ञान-प्रसारके लिये कुछ कम कार्य नहीं किया।

मुसलिम शासन-कालमें भारतीय शिक्षा

मुसलमानोंके पैगम्बर मुहम्मद साहबने जिस इस्लाम धर्मका नेतृत्व किया वह जब धीरे-धीरे सुरिया (सीरिया) और यूनानसे सम्पर्क स्थापित करने लगा तब स्वाभाविक रूपसे मुसलमानोंने सीरिया और यूनानके दार्शनिकों, नीतिज्ञों और वैद्योंके ग्रन्थोंका अरबी भाषामें अनुवाद करना आरम्भ किया। उन दिनों अधिकांश मुसलमान यूनानी विद्या और सभ्यतासे बहुत सशंक थे। इसीलिये यूनानसे प्रभावित मुसलमानोंको कट्टरपन्थियोंने खदेड़कर उत्तरी अफ्रीका और स्पेनमें भेज दिया। इन खदेड़े हुए मूरोंने नये देशोंमें पहुँचकर कोर्दोवा, ग्रानादा, तोलेदो आदि बहुतसे स्थानोंमें अपने नये विद्यालय स्थापित करके गणित, ज्यामिति, त्रिज्यामिति, ज्यौतिष, भौतिक-विज्ञान, प्राणिशास्त्र, ओषधि-विज्ञान, शल्यचिकित्सा, तर्क और न्यायकी शिक्षा देना आरंभ किया। उनका अनुकरण करके ईसाई विद्यालयोंने भी अपनी शिक्षा-प्रणालीके पाठ्य-क्रममें नये-नये विषय जोड़ लिए। किन्तु कट्टरपन्थी मुसलमान ऐसी विद्याएँ नहीं पढ़ाना चाहते थे जिनका किसी भी रूपमें इस्लामसे विरोध हो इसलिये धीरे-धीरे यह समुन्नत मुसलमानी शिक्षा समाप्त हो गई और मुसलमान फिर जैसेके तैसे रह गए।

भारतीय शिक्षा और मुसलमान शासक

पैगम्बर मुहम्मद साहबके किसी भक्तने कहा है कि 'स्वर्णदान करनेकी अपेक्षा अपने पुत्रको पढ़ाना श्रेष्ठतर है[1]' यों भी इतिहाससे ज्ञात होता है कि उमय्यूद युगके प्रथम चार खलीफाओंने ईराक़, सूरिया (सीरिया) और ईरानके नवदीक्षित देशोंमें प्रारम्भिक शिक्षा चला दी थी। योरोपके

सर्वप्रथम स्थापित होनेवाले विश्वविद्यालयोंमें भी अन्दलूसी. उमय्यूद राजकुलने कोर्दोवामें एक विश्वविद्यालय स्थापित किया और विद्या-प्रसारमें इन प्रारम्भिक मुसलमानोंने बड़ा रस लिया। किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों मुसलमानोंमें निरंकुश राजतंत्रकी मदान्धता, धन-लोलुपता और धार्मिक-मदान्धता बढ़ती गई त्यों-त्यों उनकी शिक्षाकी प्रवृत्ति कम होती चली गई। इसीलिये जिन मुसलमान आक्रमणकारियोंने सातवीं शताब्दीसे प्रारम्भ करके चौदहवीं शताब्दीतक भारतमें प्रवेश किया उन सबकी मूल लालसा राज्य-सीमाका विस्तार और भारतका धन लूटना ही रही। पैग़म्बर मुहम्मद साहबने जो सांस्कृतिक आदर्श स्थापित किए थे वे सब शिया, सुन्नी आदि मुसलमानोंके अनेक सम्प्रदायोंके पारस्परिक कलहके कारण शिथिल पड़ गए। कुछ मुल्ला लोग मसजिदोंके साथ ऐसे मकतब खोलकर अवश्य बैठ गए जिनमें केवल कुरानका ही पारायण कराया जाता था और थोड़ी-बहुत इबादत (प्रार्थना) का ढंग सिखा दिया जाता था। जब मुसलमान शासक भारतमें राज्य बनाकर बैठ गए तब भी इससे अधिक उन्होंने कुछ नहीं किया ; यहाँतक कि जब सन् १५२६ में बाबर भारतमें आया तब उसने यहाँकी स्थितिपर यही टिप्पणी की कि 'यहाँ न तो मदर्से (महाविद्यालय या कालेज) हैं, न मसजिदें हैं, न शिष्ट समाज है।' अपने चार वर्षके संक्षिप्त राज्यकालमें वह भी कुछ सुधार करनेमें असफल रहा।

बाबरसे पूर्व मुसलिम-शिक्षा

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सातवीं सदीसे सोलहवीं सदीतक मुसलिम राज्य-कालमें शिक्षा शून्य ही रही। ग़जनीके महमूद (महमूद ग़ज़नवी) ने यद्यपि भारतमें अपना राज्य स्थापित नहीं किया किन्तु उसने अनेक भाषाओंकी विचित्र पुस्तकोंसे सम्पन्न पुस्तकालयसे युक्त एक विशाल विश्वविद्यालय ग़ज़नीमें स्थापित किया और ग़ज़नीको

एक मसजिदके पास प्राकृतिक कौतूहलपूर्ण पदार्थोंका एक संग्रहालय भी बनवाया। सन् ११९२ में ग़ोरके मुहम्मद (मुहम्मद ग़ोरी) ने दिल्ली पहुँचकर मन्दिर तोड़कर मसजिदें बनवाईं और पाठशालाएँ तोड़कर मकतब (प्रारम्भिक स्कूल) और मदर्से (महाविद्यालय) स्थापित कराए। उसके दास उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् १२०६–१२१०) ने भी बहुत-सी मसजिदें और मकतब बनवाए उसीके समयमें बिहार-स्थित विक्रमशिलाका बौद्ध विहार-विश्वविद्यालय तोड़ा गया एवं उसके आचार्य और छात्र मार भगाए गए। कुतुबुद्दीनके उत्तराधिकारी, अल्तुतमश, रज़िया, नासिरुद्दीन और बलबनने भी मसजिदोंके साथ लगे हुए मकतबों और मदर्सोंको प्रोत्साहन दिया और नये भी खुलवाए। हाँ, ख़िलजी शासकोंने शिक्षा प्रसारके लिये कुछ नहीं किया, उल्टे अलाउद्दीनने शिक्षा-कार्योंके लिये दिए जानेवाले सब परम्परागत इनाम (दान) और वक्फ़ (धार्मिक जागीर) छीनकर दूसरे कामोंमें लगा लिए। उसके उत्तराधिकारी मुबारकख़ाँने फिरसे उनका प्रचलन किया और तुग़लक शासकों (१३२५–१४१३) ने भी इस श्लाघ्य परम्पराका निर्वाह किया, यहाँतक कि फ़ीरोज़ तुग़लकने तो १३६ लाख टंक (रुपए) पुरस्कार, दान और शिक्षाकार्यमें व्यय किए थे। इतिहासकार फ़रिश्ताने लिखा है कि 'फ़ीरोज तुग़लकने मसजिदोंके साथ तीस महाविद्यालय स्थापित किए और दिल्लीमें एक ऐसा सावास विश्वविद्यालय (रेजिडेंशल युनिवर्सिटी) स्थापित किया जहाँ छात्रों और अध्यापकोंको राज्यकी ओरसे छात्रवृत्ति और पोषणवृत्ति प्राप्त होती थी। फ़ीरोजकी आँखें मुँदते ही फिर मुसलिम-शिक्षाका अन्धकार-युग प्रारम्भ हो गया। सन् १३९८ में क्रूर तैमूरने सभी विद्यालयों तथा धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाओंको लूटकर उजाड़ दिया। सैयद और लोदी शासकों (सन् १४१४–१५२६) मेंसे सिकन्दर लोदीने शिक्षाके नामपर कुछ इतना ही किया कि अपनी हिन्दू प्रजामें भी

फ़ारसीका अध्ययन प्रचलित करा दिया और इस प्रकार उस रलगड्डम बाज़ारू भाषाका सूत्रपात किया जो पीछे उर्दू बनकर चल निकली।

दक्षिण भारतमें मुसलिम-शिक्षा

जहाँ उत्तर भारतके मुसलिम शासक विद्यालय बना और तोड़ रहे थे वहीं दक्षिणमें बहमनी और फिर उसके टूटनेपर अहमदनगर, मालवा, गोलकुण्डा, बीजापुर और पश्चिममें सिन्धके छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्योंमें वहाँके मुसलमान शासक गाँव-गाँवमें मकतब और मदर्से खोलते जा रहे थे जहाँ धर्म और शिक्षण दोनों साथ-साथ चलते थे।

इतना सब करनेपर भी यह कहना न्यायसंगत न होगा कि मुसलिम शासकोंने शिक्षाकी कोई निश्चित राज्यनीति निर्धारित की थी। सर्वप्रथम हुमायूँने दिल्लीमें बाबरकी समाधिपर एक मदरसा स्थापित किया। शेरशाहने भी नारनौलमें एक मदरसा बनवाया किन्तु यह श्रेय अकबरको ही है कि उसने शिक्षा-प्रचार और व्यवस्थाके लिये एक निश्चित राज्यनीति ही निर्धारित कर दी थी।

अकबरकी शिक्षानीति

यद्यपि अकबर स्वतः लिख-पढ़ नहीं सकता था किन्तु स्वयं बुद्धिमान् होनेके कारण उसे ग्रन्थ सुनने और साहित्यिक वाद-विवादोंमें विशेष रुचि थी। इसी कारण उसने मुस्लिम छात्रोंकी सुविधाके लिये महाभारत, रामायण, अथर्ववेद, लीलावती, ताजिक (ज्यौतिष), कश्मीरका इतिहास (संभवतः राजतरंगिणी) आदि अनेक ग्रंथोंका फ़ारसीमें अनुवाद कराया। उसने अनेक विलक्षण तथा अप्राप्य पुस्तकोंका विशाल संग्रह करके मुल्ला पीर मुहम्मदको पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त करके एक विशाल पुस्तकालय स्थापित कराया जो दो भागोंमें विभक्त था—एक विज्ञान दूसरा इतिहास। इतना ही नहीं, उसने चित्रकला, संगीत और नस्तालीक (सुलेख लिपि) को प्रोत्साहन दिया और अपने पुत्रों तथा

प्रजाको शिक्षित करनेके लिये सुन्दर व्यवस्थित शिक्षाका प्रबन्ध किया। उसने जो विद्यालय (मकतैब और मदर्से) स्थापित किए उनकी विशेषता यह थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक साथ, एक ही पाठ्य-क्रम लेकर एक ही विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त करते थे। अन्तर इतना ही था कि मुस्लिम छात्र कुरान पढ़ते थे और हिन्दू छात्र व्याकरण, वेदान्त और योगपर पतञ्जलिका भाष्य पढ़ते थे।

शिक्षण-विधि

अकबरने जो मदर्से चलाए उनमें शिक्षण-विधि यह थी—

१. सबको पहले फ़ारसी वर्णमाला सीखनी पड़ती थी और तब उसका शुद्ध उच्चारण और मात्राका ज्ञान करना पड़ता था। तब वे कोई ऐसी सरल नसर (गद्य) या नज़्म (पद्य) का वाचन करते थे जिसमें कोई नैतिक या धार्मिक शिक्षा हो। प्रतिदिन प्रत्येक प्रारम्भिक छात्रको चार अभ्यास करने पड़ते थे—

क. वर्णमालाका पारायण, ख. संयुक्ताक्षरोंका अभ्यास, ग. पूरे या आधे शेर (छन्द) का पाठ पढ़ना, घ. पिछले पाठकी आवृत्ति,

जैसे-जैसे छात्रोंका भाषा-ज्ञान बढ़ता जाता था वैसे-वैसे उन्हें निम्नांकित विषयोंका क्रमशः ज्ञान कराया जाता था—

१. नीति-शास्त्र, २. गणित, ३. बही-खाता, ४. कृषि। ५. ज्यामिति, ६. ज्यौतिष, ७. अर्थशास्त्र (व्यापार-शास्त्र, लेनदेन आदि), ८. भौतिक शास्त्र, ९. तर्कशास्त्र, १०. प्राकृतिक दर्शन या तत्वज्ञान और ११. इतिहास।

ये विषय सबको इसी क्रमसे सीखने पड़ते थे। केवल धार्मिक दृष्टिसे मुसलमानोंको कुरान और हिन्दुओंको व्याकरण, वेदान्त और योग-दर्शन पढ़नेकी छूट थी।

मुग़ल शासक और नये विद्यालय

अकबरने फ़तहपुर सीकरीकी पहाड़ीपर जो अद्वितीय मदरसा

बनवाया उसके अतिरिक्त फ़तहपुर सीकरी, आगरा और गुजरातमें भी बहुतसे सावास विद्यालय (मदर्से) बनवाए किन्तु दिल्लीके मदर्सेमें नगरवासी छात्र भी पढ़ने जाते थे। इन राज्य-संचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ मुस्लिम आचार्योंने अपनी ओरसे इल्मे-मौसिक़ी (संगीत-विद्या), इल्मे तसव्वरी (चित्रकला), फ़िलौसौफ़ी (अध्यात्मतत्त्व या दर्शन) और सर्वगणितके विद्यालय खोल रक्खे थे जैसे आगरेके मीर अलीबेगने दारुलउलूम (विद्यालय) खोल रक्खा था, जिसमें तारीख बदाउनीके लेखक अब्दुलक़ादिरने अध्ययन किया था। दूसरा मदरसा दिल्लीमें सन् १५६१ में अकबरकी आया (धात्री) माहम अनागाने स्थापित किया था। इस प्रकार अकबरके राज्यमें एक ही विद्यालयमें हिन्दू और मुसलमान छात्रोंको एक साथ पढ़नेकी सुविधा दी गई; हिन्दू तथा मुस्लिम कला और साहित्यको प्रोत्साहन दिया गया; हिन्दू और मुस्लिम महाग्रन्थोंका अनुवाद कराया गया; विभिन्न देशों, धर्मों और सम्प्रदायोंके विद्वानोंको राज्याश्रय दिया गया और असंख्य शिक्षण-सस्थाओंकी स्थापना की गई।

जहाँगीरका शिक्षा-प्रेम

अकबरका पुत्र जहाँगीर स्वयं फ़ारसी और तुर्कीका विद्वान् था। उसने तीस वर्षसे उजाड़ पड़े हुए मदरसोंको फिरसे बनवाकर उन्हें छात्रों और अध्यापकोंसे परिपूर्ण करा दिया और इसके लिये उसने वे सब सम्पत्तियाँ लगादीं जिनके कोई उत्तराधिकारी न थे। उसके समयमें विभिन्न धर्मोंके माननेवाले आचार्य आगरेके मदरसेमें शिक्षा देते थे। पुस्तक और चित्रकलाका उसने अद्वितीय संग्रह किया था और फ़र्रुख़ बेग, हसन और मंसूर जैसे चित्रकारों, छतरखाँ जैसे गायकों, मिर्जा ग़यासबेग जैसे गणितज्ञों, नियामतुल्ला जैसे इतिहासकारों और बाबा तालिब इस्फ़हानी जैसे कवियोंको राज्याश्रय देकर आदृत किया

था। यह सब होते हुए भी शिक्षाके सम्बन्धमें उसकी कोई व्यवस्थित नीति न थी और उसका पुत्र शाहजहाँ तो और भी अव्यवस्थित था। फिर भी इन लोगोंने पुरानी नीति चलाए रक्खी, उसमें बाधा नहीं दी। शाहजहाँने दिल्लीकी जुमा मसजिदके पास सन् १६५० में शाही मदर्सा स्थापित किया था जो सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य-युद्धके समय अँगरेजोंके हाथसे नष्ट किया गया। शाहजहाँने दारुल-बक़ा मदरसेका भी जीर्णोद्धार कराया और वहाँ उस्तादे आज़म (आचार्य) के पदपर तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् मौलाना मुहम्मद सदरुद्दीनको नियुक्त किया।

औरंगजेबका नया रंग

हिन्दू प्रजाके संबंधमें औरंगजेबने अकबरकी शिक्षा-नीतिसे ठीक उल्टी नीति ग्रहण की। अप्रैल सन् १६६९ में उसने सब सूबेदारों (प्रान्त-पतियों) को आदेश दिया कि तुम्हारी सीमामें जितने हिन्दू विद्यालय और मन्दिर हों सबको नष्ट कर डालो। किन्तु मुस्लिम शिक्षाके लिये उसने बड़ी उदारतासे धन व्यय किया और स्थान-स्थानपर असंख्य मकतब और मदरसे खुलवा दिए यहाँतक कि उसने लखनऊ-स्थित डच लोगोंका एक भवन छीनकर उसमें भी मदरसा खुलवा दिया। उसने अपने सब दीवानोंको आज्ञा दे दी थी कि वे दीन छात्रोंको योग्यतानुसार छात्रवृत्ति दिया करें। उसने अहमदाबाद, पटना और सूरतके मदरसोंमें छात्रों और अध्यापकोंकी संख्या भी बढ़वा दी।

दण्डके लिये शिक्षाका प्रयोग

संसारके इतिहासमें औरंगजेब ही एक मात्र व्यक्ति है जिसने दण्डके लिये शिक्षाका प्रयोग किया। गुजरातके बोहरे अपने व्यापारके लिये सदासे प्रसिद्ध रहे हैं। जब इन्होंने औरङ्गजेबके सिपहसालारों (सेनापतियों) को बहुत तंग किया तब औरङ्गज़ेबने उनके लिये विद्यालय खुलवा दिए, अध्यापक नियुक्त कर दिए, सबकी उपस्थिति अनिवार्य कर

दी और मासिक परीक्षाका विधान कर दिया जिससे बोहरोंका अधिकांश समय इन अनिवार्य विद्यालयोंमें बीतने लगा और उनका व्यापार चौपट हो गया।

व्यक्तिगत प्रयास

इन राज्य-संचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ विद्यालय स्वन्तन्त्र रूपसे और कुछ औरङ्गजेबकी सहायतासे खुले, जिनमें अकरमुद्दीन खाँ सदर-द्वारा सन् १६९७ में एक लाख चौबीस हजार रुपया लगाकर बनाया हुआ विद्यालय, सन् १६७० में बयानाके काज़ी रफ़युद्दीन मुहम्मद-द्वारा संचालित मदरसा और मौलवी अब्दुल हकीमद्वारा स्थापित श्रृगालकूट (स्यालकोट) का मदरसा बहुत प्रसिद्ध है। औरङ्ग़ज़ेबके पीछे जो उसके उत्तराधिकारी हुए उन्होंने स्वयं तो शिक्षामें कोई रुचि नहीं दिखाई किन्तु बहादुरशाह (१७०७-१७१२) के शासन कालमें एक मदरसा दक्खिनकी निजाम-गद्दीके प्रवर्त्तकके पिता गाज़ीउद्दीनने दिल्लीमें और दूसरा ख़ान फ़ीरोज़ जंगने मसजिदके साथ खोला। ये दोनों आगे चलकर अर्थाभावके कारण बन्द हो गए। मुहम्मद शाह (सन् १७१९-१७४८ , का शासन-काल तो बड़े संकटका था। नादिरशाहने भी उसी समय आक्रमण किया था किन्तु उसीके राजत्वकालमें आमेर (जयपुर) के राजा जयसिंहने ज्योतिष-विद्याके संस्कार और प्रचारके लिये जन्तर-मन्तर नामकी प्रसिद्ध वेधशाला बनवाई थी। नादिरशाहके आक्रमणसे भारत केवल आर्थिक दृष्टिसे ही दरिद्र नहीं हुआ वरन् बौद्धिक दृष्टिसे भी दरिद्र हुआ क्योंकि मुगल शासकोंने बड़े अध्यवसायसे जो ग्रन्थरत्न संग्रह किए थे उन्हें भी नादिरशाह ईरान लेता गया। शाहआलम द्वितीय (सन् १७५९-१८०६)ने बड़े परिश्रमसे एक अच्छा पुस्तकालय संगृहीत किया किन्तु उसे गुलाम कादिर लूट ले गया।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मुसलमान

शासकोंने प्रायः अपनी हिन्दू प्रजाकी शिक्षाकी ओर ध्यान नहीं दिया, कुछने पहलेसे चले आते हुए विद्यालयोंको जीने भर दिया और औरङ्गज़ेबने तो उन्हें समूल नष्ट करनेका ही उपक्रम किया। अकबर जैसे कुछ लोगोंने हिन्दुओंके लिये मुस्लिम विद्यालयोंमें पढ़नेकी अथवा अलग विद्यालय बनानेकी व्यवस्था भी की थी। इन सबने धार्मिक शिक्षाको महत्त्वपूर्ण समझा था यद्यपि उसका रूप शुद्ध मुस्लिम ही था। किन्तु इतना होनेपर भी शिक्षा सार्वदेशिक न बन सकी। उमरा (धनी लोग) अपने बच्चोंके लिये घरपर अध्यापक रखते थे। शेष अध्यापक भी दस-दस बारह-बारह विद्यार्थी लेकर जीविकाके लिये मकतब या मदरसे चला रहे थे। विद्यालयोंका स्वरूप भी पूर्ण रूपसे घरेलू था जिनमें अध्यापक अपने शिष्योंके साथ रहते थे, अपनी कहते और उनकी सुनते थे, अपने सदाचरणके द्वारा उनके आचरण ठीक करते थे, उन्हें प्रोत्साहन देते थे, उनकी प्रशंसा करते थे और आवश्यकतानुसार उन्हें डाँटते-फटकारते और पीटते भी थे।

मकतब और मदरसा

बड़े मदर्सोंके अतिरिक्त जितने छोटे मकतब या मदरसे थे उन सबमें एक मियाँजी पढ़ाते थे जो अपनी खाटपर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए, हाथमें डण्डा लिए बैठे रहते थे। सब विद्यार्थी उनके चारों ओर झुण्ड बाँधकर या पाँत बाँधकर सिर और शरीर आगे पीछे हिला-हिलाकर स्वरसे अपना पाठ घोटते थे। जहाँ कोई चुप दिखाई दिया वहीं ललकार हुई—क्यों बे, अमुकके बच्चे ! (इस सम्बोधनमें विभिन्न जानवरोंके बच्चों और अण्डोंसे बालकोंकी उपमा दी जाती थी) और यदि इस ललकारके पश्चात् भी वह सावधान न हुआ या इस शिथिलताकी आवृत्ति हुई तो वह मियाँजीके पास आनेको विवश किया जाता था, उसे पीठ झुकानी पड़ती थी और उसपर डण्डा बरसने लगता था। इतनेपर भी यदि वह नहीं मानता था तो उसे पीठपर ईंट रखकर

मुर्गा बनना पड़ता था, कोठरीमें बन्द रहना पड़ता था या ऐसा ही कोई दण्ड भुगतना पड़ता था। किन्तु ये अध्यापक बड़े भोले भी होते थे। यदि कोई अपराधी शिष्य आटा-दाल या फल-फूल लानेका संकेत कर देता था तो वह दण्ड-मुक्त भी हो जाता था।

पाठन-क्रम

प्रत्येक विद्यार्थीको मियाँजी बारी-बारीसे अपने पास बुलाते थे, पहले पिछला पाठ सुनते थे, कंठाग्र न होनेपर कुटम्मस करते थे और तबतक अगला पाठ नहीं पढ़ाते थे जबतक पिछला पाठ कंठाग्र नहीं हो जाता था। नये पाठके लिये मियाँजी शुद्ध उच्चारणके साथ शैर (छन्द)का आधा या चौथाई कई बार छात्रसे कहलाते थे और तब उसका अर्थ समझाते थे। हिफ्ज़ (कण्ठाग्र) करना ही अध्ययनका मूल तत्त्व समझा जाता था। इन मदरसोंकी कठोर दण्ड-प्रणाली भगोड़ छात्रोंके लिये बड़ी संकटप्रद थी और इसीलिये ऐसे बालकोंको लानेके लिये छात्र-दूत भेजे जाते थे जो भगोड़ोंके हाथ-पैर पकड़कर उन्हें लटकाकर विद्यालयमें ले आते थे।

पोषण

इन विद्यालयोंको गाँवोंसे फ़सलके समयपर कुछ बँधा हुआ अन्न (जवरा) मिलता था, पर्वोंपर त्योहारी मिलती थी, ब्याह-बारात, जनेऊ आदि मंगल अवसरोंपर भेंट मिलती थी। सावनमें या किसी भी महीनेमें चौक-चाकड़ी (हाथमें छोटे-छोटे डण्डे लेकर बजाते हुए विद्यार्थियोंका प्रदर्शन) लेकर छात्रोंके घर जाकर अन्न या धन इकट्ठा किया जाया करता था और यह अध्यापक अपनी शैयापर बैठा-बैठा अन्त समयतक अध्यापक बना रहता था।

मुस्लिम राज्यकालमें हिन्दू शिक्षा

मुस्लिम शासन-कालमें राज्यकी ओरसे कोई सहायता या प्रोत्साहन न मिलनेपर भी मन्दिरों और मठोंसे सम्बद्ध संस्कृत पाठशालाएँ या

गाँवोंके पाधाओंकी चटसालें, उदार हिन्दू धनिकों और ग्रामवासियोंके सहारे चलती रहीं। धनी लोग अपने-अपने घर विद्वानोंको आश्रय देकर अपने बालकोंको शिक्षा दिलाते रहे। परिणाम यह हुआ कि अधिकांश हिन्दू जनताके लिये शिक्षाका द्वार अवरुद्ध हो गया और उनमें निरक्षरता, संकीर्णता, अन्धविश्वास और जड़ता व्याप्त होने लगी।

—:०:—

६

भारतमें योरोपीय शिक्षा का श्रीगणेश

(१७०० से १८५४ तक)

अट्ठारहवीं शताब्दीके पूर्व ही अनेक विदेशी यात्री नये देशोंकी खोज करते हुए भारतकी ओर भी आ पहुँचे। रोमसे स्थल-व्यापार कई शताब्दियों पूर्वसे होता आ रहा था। यूनानसे भी राजनीतिक और व्यापारीय सम्बन्ध स्थल-मार्गसे बहुत पहले स्थापित हो चुका था किन्तु जल-मार्गसे भी पश्चिमी योरोपके कुछ साहसी व्यवसायी और नाविक आने लगे। शाहजहाँके समयमें ही सर टामस रो नामका एक अँगरेज़ आया था जिसने अँगरेज़ोंकी कोठीके लिये सूरतमें भूमि माँग ली थी। इधर दक्षिणमें वास्को-दे-गामाने पश्चिमी तटपर गोआ, दामन और द्यूको अपना केन्द्र बनाकर वहाँ पुर्तगाली शासन जमाया। इसके पश्चात् फ़ान्सीसी आए और उन्होंने भी पाण्डेचेरी, माही, कारीकल आदि स्थानोंमें अपने व्यवसाय-केन्द्र स्थापित किए। अपने इन केन्द्रोंसे प्रत्येक देशकी व्यावसायिक कम्पनीने अपने अधीन कर्मचारियोंके पुत्रोंको शिक्षा देनेके लिये विद्यालय खोल दिए जिनमें प्रारम्भसे उनको अपने देशकी भाषामें उन-उन देशवाले कर्मचारियोंके पुत्रोंको पढ़ाया जाने लगा। किन्तु जब इन केन्द्रोंमें भारतीय कर्मचारियोंकी संख्या बढ़ी, तब पुर्तगाली, फ़ान्सीसी और अँगरेज़ीके बदले एक पँचमेल भाषाके माध्यमसे शिक्षा दी जाने लगी जिसे भारतीय लोग फ़िरंगी भाषा कहने लगे।

ईसाई धर्मका प्रचार

प्रारम्भमें ये सब व्यापारी कम्पनियाँ केवल व्यापारके लिये ही आई थीं किन्तु उनमेंसे पुर्तगाली लोग मसाले, नारियल और इलायचीके

व्यापारके लिये ही नहीं आए थे वरन् उनका यह भी विचार था कि भारतमें ईसा और ईसाई धर्मका भी प्रचार हो। इसलिये उन्होंने गोआ, दामन, द्यू, कोचीन और हुगलीमें पैर जमाते ही नये ईसाई बने हुए लोगोंको शिक्षा देनेके लिये विद्यालय खुलवा दिए। इनमें पुर्तगाली और स्थानीय भाषामें लिखना-पढ़ना और कैथोलिक धर्म सिखाया जाता था। फ्रान्सीसियोंने भी पाण्डेचेरी, माही, चन्द्रनगर और यनाममें अपने व्यापार-केन्द्रोंके साथ प्रारम्भिक विद्यालय खोल दिए जिनमें भारतीय अध्यापक मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देते थे। पाण्डेचेरीमें एक उच्च माध्यमिक विद्यालय भी था जहाँ फ्रान्सीसी प्रवासियों और सैनिकोंके बच्चोंके लिये फ्रान्सीसीकी शिक्षा दी जाती थी और जिसमें फ्रेन्च ईस्ट इण्डिया कम्पनीके भारतीय सेवकोंके उच्च विद्यार्थी बालक भी अध्ययन करते थे। ये फ्रान्सीसी विद्यालय अत्यन्त व्यवस्थित और नियमित थे। फ्रान्सीसी और पुर्तगाली विद्यालयोंमें पादरी लोग कैथोलिक धर्मका प्रचार भी करते थे और शिक्षा-नीतिपर शासन भी। इन लोगोंने उन ईसाई बालकोंके लिये भी विद्यालय खोल दिए जिन्हें पढ़ानेके साथ-साथ वे भोजन और वस्त्र भी देते थे।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी

ब्रिटिश ईस्ट इंण्डिया कम्पनीने भी पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियोंकी देखा-देखी अपने व्यावसायिक केन्द्रोंमें काम करनेवाले सेवकोंके बच्चोंके लिये और ईसाई मतका प्रचार करनेके लिये विद्यालय खोल दिए। अँगरेज़ लोग प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे इसलिये उन्होंने कैथोलिक पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियोंसे ईर्ष्या करके प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मतका प्रचार भी अपने विद्यालयोंमें किया और ईसाई भी बनाने लगे।

डेनिश व्यापारी

सन् १७०६ में प्रोटेस्टेन्ट ईसाई मतमें विश्वास रखनेवाले डेन लोग (डेनमार्कके रहनेवाले) भारतके दक्षिण-पूर्वी तटपर ट्रन्कोबार स्थानपर

पहुँचे। इनसे पूर्व उनके पड़ोसी डच लोग लंकामें सत्रहवीं शताब्दीमें ही आ चुके थे। डेनोंने आते ही पुर्त्तगाली और तमिल भाषाएँ सीखकर भारतीय बच्चोंके लिये सन् १७२५ में सत्रह विद्यालय 'मूर्त्तिपूजक और मुसलमान बच्चोंके लिये, तथा चार मिशनरी स्कूल ईसाई बच्चोंके लिये खोल दिए। इनमेंसे पहले प्रकारके विद्यालयोंमें ईसाई धर्म नहीं सिखाया जाता था क्योंकि अभिभावकोंने इसका बड़ा विरोध किया। इन डेन पादरियोंने तमिलके द्वारा ही अध्यापन प्रारम्भ किया और फिर अध्यापकोंको अँगरेज़ीके माध्यमसे पढ़ाते रहे।

ईसाई-ज्ञान-वर्द्धिनी सभा

प्रोटेस्टेन्ट अँगरेज़ पादरी सन् १७२७ में मद्रास आए और उन्होंने भी डेनोंकी देखादेखी 'ईसाई ज्ञान-वर्द्धिनी सभा'के द्वारा मद्रास, तंजौर, कन्नानोर, पालमकोटा और त्रिचनापल्लीमें विद्यालय खोल दिए। बपतिस्त ईसाई लोग सन् १७९३ में बंगाल पहुँचे और सीरामपुरमें वे लगभग दस सहस्र बच्चोंको अपने चक्रमें ले आए। सन् १८०४ में लन्दन मिशनरी सोसाइटीने लंका और बंगालमें विद्यालय चलाए और चर्च मिशनरी सोसाइटी तथा वैस्लेयन मिशनने सूरत, आगरा, मेरू, कलकत्ता, ट्रन्कोबार और कोलम्बोमें अपने केन्द्र स्थापित कर लिए। पहले तो इन पादरियोंकी पाठशालाओंसे लोग बहुत भड़के पर धीरे-धीरे जब लोगोंने देखा कि ये निःशुल्क शिक्षा दे रहे हैं और ज्ञानका प्रचार कर रहे हैं तब उनकी आस्था बढ़ चली।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीका प्रयास

ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भी इन पादरियोंकी बढ़ती हुई लोकप्रियतासे स्पर्धा करके अपने विद्यालय खोलनेका विचार किया। तंजौरके रेज़िडेण्ट सलीवानने उच्च जातियोंके बच्चोंकी शिक्षाके लिये सन् १७८४ में जो योजना प्रस्तुत की वह कम्पनीने स्वीकार कर ली और कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स (संचालक-मंडल) ने सन् १७८७ में योजना हाथमें ले ली।

उन्होंने प्रत्येक विद्यालयके लिये सौ पौण्ड वार्षिक सहायता स्वीकार की और यह आदेश दिया कि इन विद्यालयोंमें अँगरेजी, गणित, तमिल, हिन्दी और ईसाई धर्म सिखाया जाय। ये अँगरेजी विद्यालय बहुत लोकप्रिय नहीं हो पाए क्योंकि इनमें केवल उन ब्राह्मणोंके पुत्र ही शिक्षा पाते थे जो अपने पुत्रोंको कम्पनीमें लिपिक (क्लर्क) बनाकर रखना चाहते थे।

कलकत्ता मदरसा

तत्कालीन गवर्नर-जनरल तथा इतिहासमें दुर्नाम वारेन् हेस्टिंग्सने कम्पनीके व्ययसे अरबीके माध्यमसे मुस्लिम बालकोंको शिक्षित करनेके लिये कलकत्ता मदरसा स्थापित किया। इस मदरसेमें थोड़ेसे विद्यार्थी मासिक छात्रवृत्ति पाकर प्राकृतिक अध्यात्म-तत्त्व, कुरान, धर्म, कानून, ज्यामिति, गणित, तर्कशास्त्र और अरबीका व्याकरण पढ़ते थे। सन् १८१९ में कम्पनीने इसके संचालनके लिये तीस सहस्र रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया और सन् १८२२ में एक लाख चालीस हज़ार पाँच सौ सैंतीस रुपये देकर एक नया भवन बनवाया जिसमें सन् १८२९ में वृत्ति पानेवाले निन्यानबे छात्र अध्ययन करते थे।

संस्कृत कालेज

प्राच्य-विद्याको प्रोत्साहन देनेके निमित्त ब्रिटिश रेज़िडेण्ट जोनाथन डन्कनने वारेन हेस्टिंग्सकी प्रेरणापर ही सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज स्थापित करते हुए कहा—"कम्पनीका विचार यह है कि न्यायशासनके लिये हिन्दू धर्मशास्त्रके सुयोग्य व्याख्याता प्राप्त हो सकें।" इसलिये मनुस्मृतिके अनुसार ही वहाँ शिक्षा दी जाती थी। वहाँ सन् १८२८ में दो सौ सतहत्तर छात्र (२२९ ब्राह्मण, शेष उच्च वर्णोंके) अध्ययन करते थे और इस विद्यालयकी प्रबन्ध समितिको कम्पनीकी ओरसे बीस सहस्र रुपया वार्षिक सहायता दी जाती थी। हेस्टिंग्सके उत्तराधिकारी वेलेज़लीने सन् १८०० में कम्पनीके असैनिक (सिविल)

सेवकोंके लिये हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा भारतीय भाषाओंके माध्यमसे भारतका इतिहास पढ़ानेके लिये एक कालेज खोल दिया।

ईसाई पादरियोंके प्रयत्न

इन विद्यालयोंसे पूर्व सन् १७२९ में ऐंग्लिकन पादरियोंने एक कलकत्ता धर्मार्थ विद्यालय (चैरिटेबिल स्कूल) खोल दिया था जिसमें ऐंग्लो-इण्डियन बालक-बालिकाओंको शिक्षा दी जाती थी और जो अब कलकत्ता ब्वाएज़ स्कूल और कलकत्ता गर्ल्स स्कूल नामक दो संस्थाओंमें बँट गया है। सन् १७८१ में फ़्री स्कूल सोसाइटीने निर्धन ऐंग्लो-इण्डियन बच्चोंके लिये एक निःशुल्क विद्यालय (फ़्री स्कूल) खोल दिया और बपतिस्त पादरियोंने भारतीय तथा ऐंग्लो-इण्डियन बालक-बालिकाओंके लिये सीरामपुरमें धर्मार्थ शिक्षालय खोल दिया। सन् १७९९ ई० में बंगालमें ईसाई धर्मका प्रचार करनेवाले पादरियोंने भारतमें शिक्षाका प्रचार करनेके लिये सीरामपुरमें अपना अड्डा बनाया और वहाँ एक छापाघर खोलकर देशी भाषामें बहुत-सी पोथियाँ छापीं। इन लोगोंने सन् १८१५ तक कलकत्तेके आस-पास बीस विद्यालय खोल दिए जिनमें लगभग आठ सौ छात्र पढ़ते थे। इन पादरियोंमें तीन नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—कैरी, मार्शमेन और वार्ड। सीरामपुरके डेन पादरियोंने तो सन् १७२८ में डेनमार्कके राजासे पदवी (डिग्री) देनेका अधिकारपत्र भी प्राप्त कर लिया। सन् १८१० में शिवपुर (कलकत्ता) में अमरीकियोंने बिशप्स कालेज नामका एक महाविद्यालय खोला और सन् १८३७ में प्रसिद्ध स्कौट विद्वान्, पादरी और राजनीतिज्ञ अलेग्ज़ेण्डर डफ़ने कलकत्तेमें जनरल एसेम्बलीज़ इन्स्टीट्यूशन नामका एक विद्यालय खोल दिया जिसमें पीछे महाविद्यालयकी कक्षाएँ भी जोड़ दी गई। यही संस्था वर्त्तमान स्कौटिश चर्च कौलेज और स्कूलकी नींव है। डफ़ने भारतीय शिक्षामें जो स्कौटीय प्रभाव भरा वह तबसे ही भारतीय शिक्षा-पद्धतिके

रूप-निर्माणमें महत्त्वपूर्ण कारण रहा है।

स्वतंत्र रूपसे योरोपीय शिक्षाका विकास

बंगालकी हिन्दू जनतामें जो प्रतिष्ठित अग्रशील विचारवाले लोग थे उन्होंने इस नवीन योरोपीय शिक्षा-प्रणालीमें विशेष रुचि दिखानी प्रारम्भ की और उन्होंने न जाने कैसे यह भी मान लिया कि इन सम्पूर्ण योरोपीय शिक्षा-प्रयासोंमें अँग्रेजोंकी पद्धति सर्वाधिक श्रेष्ठ है। इस भावनाके फलस्वरूप कलकत्तेके प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी तथा रूढ़ि-विद्रोही समाज-सुधारक राजा राममोहन राय, डेविड हेअर और सर एडवर्ड हाइड ईस्टके सम्मिलित उद्योगसे सन् १८१६ में कलकत्तेमें हिन्दू कालेज (कलकत्ता विद्यालय) स्थापित हुआ। राजा राममोहन रायने अँग्रेजी विद्यालय खुलनेसे बहुत पहले ही अँगरेजी पढ़ ली थी और अँग्रेज़ीमें बहुत साहित्य भी रचा था। वास्तवमें वे ही प्रथम भारतीय हैं जिन्होंने प्राचीन शिक्षा-पद्धतिमें नवीनता लानेकी प्रेरणा दी और अपने देशवासियोंको यह समझाया कि पश्चिमी शिक्षासे ही हमें नया प्रकाश और नया ज्ञान मिलेगा। राजा राममोहन राय इतने अँग्रेज़ीवादी थे कि जब कलकत्तेमें संस्कृत कालेज खुलनेकी बात चली तो उन्होंने ही उसका घोर विरोध किया। उनके साथी श्री डेविड हेअर, न तो सरकारी पदाधिकारी थे न ईसाई पादरी थे। वे सीधे-सादे घड़ीकार (घड़ी बनानेवाले) थे और सन् १८०० से ही भारतमें आनेपर यह समझने लगे थे कि भारतीयोंको योरोपीय शिक्षा-पद्धति अत्यन्त लाभकर सिद्ध होगी। इनके तीसरे सहयोगी सर एडवर्ड हाइड ईस्ट, सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीश थे।

हिन्दू कालेजकी स्थापना

इस हिन्दू कालेजके लिये जो पहली प्रबन्धकारिणी समिति बनी उसमें राजा राममोहन राय नहीं थे क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि यदि मैं सदस्य रहूँगा तो बंगालके कुलीन हिन्दुओंका सहयोग नहीं

मि लेगा। अतः उन्होंने स्वयं अपना नाम हटवा लिया। फलतः सन् १८१७ में हिन्दुओंके बालकोंको योरोपीय तथा एशियाई भाषा और विज्ञानकी शिक्षा देनेके लिये जो हिन्दू कालेज खोला गया उसमें अँगरेज़ीको सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। मद्रास और बम्बईमें भी कच्छप-गतिसे योरोपीय शिक्षा चल निकली।

हिन्दू कालेजका रंग-ढंग

कलकत्तेमें जो हिन्दू कालेज खोला गया वह कहलाता तो था हिन्दू कालेज, पर था पूर्णतः अहिन्दू। उन दिनों उस कालेजके प्राध्यापक डिरोज़ियाकी तूती बोलती थी। वे पश्चिमी साहित्य तथा दर्शनके अच्छे विद्वान् थे, साथ ही वे भारतीय रीति-नीति-संस्कृतिके प्रच्छन्न शत्रु भी थे। उन्होंने उस महाविद्यालयके छात्रोंको धीरे-धीरे इस प्रकार अपने रंगमें रँगना प्रारम्भ किया कि वहाँके हिन्दू छात्र भारतीय शील और शिष्टाचारका उल्लंघन करके हिन्दू धर्ममें मीन-मेख निकालने लगे। वे कालेजसे 'पार्थिनन' नामका एक पत्र भी प्रकाशित करने लगे जिसमें आद्यन्त हिन्दू धर्मकी निन्दा भरी रहती थी। इतना ही नहीं, वहाँके छात्रोंने अपना खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन सब इतना बदल लिया कि पूरे विलायती बन चले। यद्यपि 'पार्थिनन' पत्र तो थोड़े दिनोंमें बन्द कर दिया गया किन्तु छात्रोंकी उच्छृङ्खलता और स्वधर्म-विरोधी भावना कम होनेके बदले बढ़ती चली गई। परिणाम यह हुआ कि कलकत्तेके कुलीन परिवारके हिन्दू लोग उस विद्यालयमें अपने पुत्र भेजनेसे और अँगरेजी पढ़ानेसे घबराने लगे। प्रसिद्ध बंगाली लेखक माइकेल मधुसूदन दत्त भी इन्हीं डिरोज़ियाके शिष्य थे। वे केवल ईसाई ही नहीं बने वरन् उन्होंने 'मेघनादवध' काव्य लिखकर अपनी हिन्दू-विरोधी भावनापर मुद्रा अंकित कर दी जिसमें राक्षसोंकी प्रशंसा करके राम-लक्ष्मण तथा आर्य संस्कृतिको जी भरकर कोसा गया है। यह था कलकत्तेका हिन्दू कालेज!

बम्बईमें शिक्षा-समिति और दक्षिणा-कोष

बम्बईमें प्रसिद्ध लोकसेवी माउन्ट स्टुअर्ट एलिफ़न्स्टनके प्रयाससे सन् १८१५ में बम्बई शिक्षा-समिति (बौम्बे एजुकेशन सोसाइटी) स्थापित हुई और सन् १८२२ में विद्यालयके पुस्तक-भाण्डार और विद्यालय-समिति (स्कूल बुकडिपो और स्कूल सोसाइटी) की स्थापना की गई। पेशवाओंने विद्वान् हिन्दुओंकी सहायताके लिये जो दक्षिणा-कोष संचित कर रक्खा था उसका प्रयोग बम्बई सरकारने पूना-विद्यालयकी स्थापनाके लिये किया। सन् १८२७ में जब एलिफ़न्स्टन भारतसे जाने लगे तब बम्बईके प्रधान नागरिकोंने यह निश्चय किया कि उनके नामसे एक आचार्य-पीठ (चेयर) तबतक ग्रेट ब्रिटनके विद्वान्‌के लिये स्थापित कर दी जाय जबतक कोई योग्य भारतीय न मिल जाय। यह दक्षिणाकोष पूना-विद्यालयकी स्थापनाके पश्चात् बम्बईके एलिफ़न्स्टन कालेजकी स्थापनाके लिये प्रयुक्त हो गया।

मद्रास शिक्षा-विभाग

मद्रासमें वहाँके प्रथम गवर्नर सर टौमस मुनरोने सन् १८२२ में तत्कालीन देशी शिक्षा-व्यवस्थाकी जाँच कराई और सन् १८२६ में लोकशिक्षा-विभाग (बोर्ड औफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) खोल दिया गया जिसका उद्देश्य देशी भाषामें शिक्षाको प्रोत्साहन देना था। इस विभागकी समितिने गाँवोंमें सौ पाठशालाएँ खोलीं और मद्रासमें अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये एक केन्द्रीय शिक्षण-महाविद्यालय (सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज) खोल दिया। इससे बहुत पहले ही मद्रास और बम्बईमें बहुतसे ईसाई-विद्यालय खुल चुके थे, जिन्हें प्रारम्भमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीसे आर्थिक सहायता भी मिलती थी। इन प्रान्तोंके अनेक बड़े नगरोंमें भी पादरियोंकी संस्थाएँ खुल चुकी थीं।

कम्पनीकी नीति

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भारतमें शासन-भार सँभाला, उस

समय स्थान-स्थानपर अनेक टोल, पाठशालाएँ, मकतब और मदरसे थे और जिन प्रान्तोंमें सन् १७९३ की स्थायी भूमि-व्यवस्था (पर्मानेंट सेटिलमेंट) थी वहाँ शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये कुछ रुपया अलग भी स्वीकृत था। अत: कम्पनीने इतना ही किया कि जिन मकतबों और पाठशालाओंको दान-भूमि मिली हुई थी उसे उन्होंने ज्यों-का-त्यों रहने दिया। सर्वप्रथम वारेन् हेस्टिंग्सने ही देशी शिक्षाके लिये आर्थिक सहायता देनेके सिद्धान्तका निश्चय किया क्योंकि उसका विचार था कि 'यदि अंगरेजी सत्ताको यहाँ टिकना ही है तो उसे भारतीय शक्ति बनकर टिकना चाहिए और उसका सबसे बड़ा उपकार यही होगा कि वह ऐसे न्याय और शान्तिकी प्रतिष्ठा करे जिसकी छायामें प्राचीन संस्कृति फल-फूल सके।' हम बता चुके हैं कि अपने इस संकल्पके फलस्वरूप उसने मुस्लिम विद्या और संस्कृतिके प्रचारार्थ कलकत्ता मदरसा और हिन्दू विद्या तथा संस्कृतिके प्रचारार्थ बनारस कालेज खोल दिया। इन विद्यालयोंने केवल हिन्दू और मुस्लिम विद्याओंकी ही शिक्षा नहीं दी वरन् राजकीय न्यायाधिकारियोंको धर्मशास्त्रकी शिक्षा भी दी।

सर चार्ल्स ग्रैंट

सन् १७९२ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टर और दास-प्रथा नष्ट करनेवाले चैपलेन मण्डलके सदस्य सर चार्ल्स ग्रैन्टने ग्रेट ब्रिटनकी 'एशियाई प्रजामें सामाजिक स्थितिका संप्रेक्षण' शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया जिसमें यह प्रेरणा दी कि ब्रिटेनको अपनी राजसी नीतिमें मानवीय भावना भी सम्मिलित करनी चाहिए। अपने उस लेखमें बंगाली हिन्दुओं और मुसलमानोंके सम्बन्धमें उसने लिखा है कि "ये लोग अत्यन्त निम्न कोटिके, झूठे, अनैतिक, दुराचारी, स्वार्थी, धूर्त, ढोंगी, परस्पर-द्रोही, विद्वेषी, डाकू, चोर, देशद्रोही और निर्दयी हैं, जिनमें मुसलमान तो विशेष रूपसे अभिमानी, भयंकर, अराजक, विलासी और क्रूर हैं। अतः इनका सुधार तभी हो सकेगा जब इन लोगोंको अंगरेजी के माध्यमसे पढ़ाया जायगा।"

इण्डिया ऐक्टमें नई धारा

इस प्रेरणाके परिणाम-स्वरूप सन् १८१३ के इण्डिया ऐक्टमें एक धारा बढ़ा दी गई कि "ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंका यह भी कर्त्तव्य होगा कि वे भारतमें कमसे कम एक लाख रुपये शिक्षापर प्रतिवर्ष व्यय करें।" वह तैंतालीसवीं धारा इस प्रकार है—

"यह भी निश्चय किया जाता है कि सपरिषद् गवर्नरको यह अधिकार होगा कि अपनी राज्यसीमाके कर तथा लाभका जो रुपया राजकीय प्रबन्धके व्ययसे बचे उसमेंसे प्रतिवर्ष एक लाख रुपया *'भारतीय साहित्यके पुनरुद्धार और समुन्नतिके लिये, भारतके विद्वानोंको प्रोत्साहन देनेके लिये एवं भारतकी ब्रिटिश राज्यसीमाके निवासियोंमें विज्ञानका ज्ञान प्रसारित और समुन्नत करनेके लिये व्यय करै।'*"

कम्पनीका नीतिपत्र

ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने सन् १८१४ के नीतिपत्र (डिस्पैच) में उक्त धाराका नीतिके संचालनके लिये यह निर्देश दिया—

"उक्त धारामें दो स्पष्ट प्रस्ताव विचारणीय हैं—

(१) भारतके विद्वानोंको प्रोत्साहन और भारतीय साहित्यका पुनरुद्धार एवं उसकी समुन्नति।

(२) भारतवासियोंमें विज्ञानके ज्ञानका प्रसार।

हम समझते हैं कि ये दोनों विषय जन-विद्यालय खोलकर पूरे नहीं किए जा सकते क्योंकि भारतके प्रतिष्ठित उच्च वर्णके लोग विद्यालयके अंकुश और नियमका पालन नहीं कर सकते। अतः हम सोचते हैं कि वे जिस प्रकार अपने घरोंपर शिक्षा देते आए हैं वैसे ही उन्हें देते रहने दें और उन्हें सम्मानित उपाधि तथा आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करते रहें।"

लोक-शिक्षा-समिति

पर यह सब काम कागजी घोड़ोंपर चलता रहा और दस वर्षोंतक कुछ भी नहीं हो पाया। सन् १८२३ में एक लोक-शिक्षा-समिति (कमिटी ऑफ् पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) कलकत्तेमें स्थापित हुई और उसे उपर्युक्त धाराकी पूर्तिके लिये एक लाख रुपया सौंप दिया गया।

इस समितिने तीन काम किए—

१. बहुत सी संस्कृत और अरबीकी पुस्तकें छाप डालीं।

२. योरोपीय वैज्ञानिक ग्रन्थोंके अनुवादके लिये प्राच्य विद्वान् नियुक्त किए।

३. उसी वर्ष आगरेमें और दो वर्ष पश्चात् दिल्लीमें प्राच्य विद्यालय खोल दिए।

थोड़े दिनों पश्चात् बनारस संस्कृत कालेज और कलकत्ता मदरसेमें अंगरेजी कक्षाएँ भी जोड़ दी गई और सन् १८३० में दिल्लीमें इंग्लिश कालेज खोल दिया गया। इतना कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी ओरसे राजकीय नीतिके अनुसार किया गया।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनके पर्यवेक्षणसे स्पष्ट है कि अँगरेजी शिक्षाके प्रसारके लिये सन् १८३० तक तीन दिशाओंसे प्रयत्न हुए—

१. पादरियोंकी ओरसे।

२. स्वयं देशवासियोंकी ओरसे।

३. ईस्ट ईण्डिया कम्पनीकी ओरसे।

सन् १८३० का नीति-पत्र

भेड़िया-धसानके लिये प्रसिद्ध भारतीयोंकी रुचि सन् १८३० तक अंगरेज़ी शिक्षाके प्रति पूर्ण वेग प्राप्त कर चुकी थी। शासनारूढ़ अँगरेज़ अधिकारी भी अपनी प्रजाको शिक्षा तो देना चाहते थे किन्तु दस हज़ार

पौण्डका जो द्रव्य शिक्षा देनेके लिये उन्हें मिलता था वह इतने बड़े अधिकृत देशके लिये अपर्याप्त था। अतः उनके सम्मुख तीन प्रश्न थे—

(१) क्या समूचे स्वशासित राज्यको केवल प्रारम्भिक शिक्षा भर दें?

(२) क्या उच्च संस्कृत या अरबीकी शिक्षा दें?

(३) क्या उच्च अंग्रेजीमें शिक्षा दें?

जहाँतक प्रारम्भिक शिक्षाका प्रश्न था, उन्होंने समझ रक्खा था कि जिस प्रकारकी पाठशालाएँ देहातोंमें चल रही हैं, वे इस कार्यके लिये पर्याप्त हैं। संस्कृत और अरबीमें योरोपीय विज्ञान और साहित्यका अनुवाद करके प्रस्तुत करना असम्भव कार्य था। इसलिये तीसरा मार्ग ही उन्होंने ठीक समझा और तदनुसार सन् १८३० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने गवर्नर-जनरलको एक नीतिपत्र भेजा जिसमें कहा कि—

(१) भारतीय लोग स्वयं अँगरेजी साहित्य और पाश्चात्य विज्ञानके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हैं इसलिये अँगरेजी शिक्षा देना ही उनके लिये कल्याणकर है।

(२) योरोपीय भाषाओंके द्वारा विज्ञानकी विशेष शाखाएँ सीखना अधिक लाभकर तथा सुगम है। यदि उनका अनुवाद ही अभीष्ट हो तो भी उस कार्यको वे ही भारतीय सम्पन्न कर सकते हैं जिन्होंने विज्ञानके ग्रन्थोंका अध्ययन मूल योरोपीय भाषाओंमें ही किया हो।

(३) हम लोग यह नहीं चाहते कि आद्यन्त अँगरेजीका ही प्रयोग हो। शिक्षाके माध्यमके लिये हम भारतीय भाषाओंका महत्त्व कम नहीं करना चाहते।

(४) अँगरेजी भाषाके द्वारा दी जानेवाली यह शिक्षा अत्यन्त परिमित संख्यक भारतीयोंको ही दी जाय।

(५) चतुर और मेधावी भारतीय इस शिक्षासे सम्पन्न होकर पाठशालाओं और विद्यालयोंमें अध्यापक होकर, लाभकर ग्रन्थोंके अनुवादक

और लेखक बनकर अपने देशवासियोंमें अधिक व्यापक रूपसे उन गुणों और लाभोंका प्रचार करेंगे जो उन्होंने स्वयं अँगरेज़ीके अध्ययनसे प्राप्त किए हैं और फिर योरोपीय विचारों और भावोंके प्रभावसे वे जो उदात्त भावना और उत्कृष्ट संस्कार प्राप्त करेंगे उसे भारतीय साहित्य और भारतीय जनताके मनमें भली भाँति पल्लवित कर सकेंगे।

(६) अतः आप (गवर्नर-जनरल) कृपया घोषणा कर दें कि जो भारतीय इस पद्धतिसे शिक्षा प्राप्त करके सुयोग्यता अर्जित करेगा—

(क) वह अत्यन्त आदरणीय समझा जायगा।

(ख) उसे उदारतापूर्वक सब प्रकारका आर्थिक तथा अन्य सहयोग और प्रोत्साहन दिया जायगा।

(ग) यह कार्य ब्रिटिश सरकारके प्रति सबसे बड़ा सेवा-कार्य समझा जाकर आदृत किया जायगा।

अल्पाधार सिद्धान्त और मैकौले

इस नीति-पत्रमें हा सर्वप्रथम अल्पाधार-सिद्धान्त (इन्फिल्ट्रेशन थिअरी) प्रस्तुत किया गया अर्थात् यह स्वीकृत किया गया कि अब केवल विशेष वर्गोंको शिक्षित करके, उनके द्वारा सर्वसाधारणमें शिक्षा पहुँचाई जाय। आर्थर मेह्यूने इस अल्पाधार-शिक्षा-नीतिकी अत्यन्त मनोहर व्याख्या करते हुए कहा है—

'भारतीय जीवनके हिमालयसे हितकर ज्ञानकी धारा बूँद-बूँद करके नीचे टपकेगी जो कुछ समयमें विशाल और भव्य प्रवाह बनकर प्यासे समथल क्षेत्रोंको सींचने लगेगी।'

संचालक (डाइरेक्टर) समझते थे कि शिक्षाके द्वारा सर्वसाधारण-तक पहुँचनेका केवल यही साधन है कि पहले थोड़ेसे गतिशील, बुद्धिमान और सुशिक्षित लोगोंको भली भाँति अँगरेज़ीकी शिक्षा दे दी जाय, फिर वे स्वयं अपनी स्थानीय परिस्थितिके अनुकूल तत्तत्स्थानीय

जनताको शिक्षा देते चलेंगे और इस प्रकार उन अल्पसंख्यक जनोंके प्रयाससे उनके द्वारा जनतामें धीरे-धीरे शिक्षा प्रविष्ट हो जायगी। यद्यपि कम्पनीके संचालक शिक्षा देना तो सबको चाहते थे किन्तु इस अल्पाधार शिक्षा-नीतिके पीछे अन्य कारण ये थे कि--

१. कम्पनीके पास शिक्षाके लिये इतना कम धन था कि जितने लोग अँगरेज़ी शिक्षासे लाभान्वित होना चाहते थे उनकी ज्ञान-पिपासा उतने कम द्रव्यसे तृप्त नहीं की जा सकती थी।
२. अँगरेज़ी शिक्षा देना अनिवार्य था क्योंकि अँगरेजोंको भारतके शासन-कार्यमें सहायता देनेके लिये ऐसे योग्य सेवकोंकी भी आवश्यकता थी जो भली भाँति अँगरेज़ी जानते हों।
३. वर्तमान शैलीमें भारतीय भाषाओंमें लिखी हुई मान्य पुस्तकें भी नहीं थीं इसलिये विवश होकर कम्पनीको यह अल्पाधार शिक्षानीति ग्रहण करनी पड़ी।

नीतिका विरोध

जिन दिनों यह अल्पाधार-शिक्षण नीति प्रस्तुत की जा रही थी उन्हीं दिनों शिक्षा-कार्यमें संलग्न कुछ विशेष विचारकोंने उसका विरोध भी किया। इन विरोधियोंका कथन था कि इस प्रकारकी नीतिसे शिक्षाकी समस्त शक्ति थोड़ेसे लोगोंको देकर उन्हें अनुदार, उच्छृंखल, निरंकुश तथा एकाधिकारी बनाना सर्वथा अनुचित और असंगत कार्य है। यह तो सम्पूर्ण राज्यके जनसाधारणकी हित-भावनाको संकटमें डालकर उनपर एक विशेष प्रकारकी मानसिक और बौद्धिक दासता लादना है। शासनको चाहिए था कि प्राचीन शिक्षा प्रणालीको अपनाकर उसीका परिष्कार और सुधार करके उसे लोक-हितकारी बनाता न कि उल्टे उसपर विदेशी वस्तु लादकर उसका संहार करता।

आर्थर मेह्यूने अपने 'एजुकेशन औफ़ इण्डिया' नामक ग्रन्थमें इस अल्पाधार शिक्षा-नीतिका विश्लेषण करते हुए कहा है—

१. जबसे यह शिक्षा-नीति चली है तभीसे सुशिक्षित लोगोंने अपने हाथमें ऐसी अच्छी छड़ी पा ली है जिससे सरकारको भली भाँति पीटा जा सकता है। ऐसी नीति प्रतिपादन करनेके लिये वह पीटे जानेकी पात्र भी है क्योंकि ऐसा करके उसने विशिष्ट वर्गोंको जनतासे अलग कर दिया, नगर और गाँवके बीच गहरी खाई खोद दी, पश्चिमी तथा पूर्वी विचार और जीवन-पद्धतियोंके बीच दीवार खड़ी कर दी और इस प्रकार जिस भेदके रोगसे भारत पहलेसे ही पीड़ित था उसे और भी प्रबल कर दिया।

२. इस सिद्धान्तके द्वारा यह विचार सर्वमान्य हो चला कि शिक्षा भी एक प्रकारका विलास है और कुछ अंशोंमें यह एक प्रकारका ऐसा व्यवसाय है जिसमें रुपया लगाकर कुछ थोड़ेसे विशिष्ट वर्गके लोग सरकारसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकें।

३. इस सिद्धान्तने यह भी स्थिर कर दिया कि अब सांस्कृतिक विकासके लिये तथा सब वर्गोंकी जनताका भौतिक स्तर ऊँचा करनेके लिये कोई मार्ग नहीं रह गया क्योंकि जिस शिक्षाका विधान इस अल्पाधार शिक्षा-नीतिमें किया गया है उसमें सार्वभौम विकासके लिये कोई मार्ग नहीं रह गया।

४. गिने-चुने लोगोंको ज्ञान देना वैसा ही है जैसे समुद्रको मीठा करनेके लिये उसमें दूधकी कुछ बूँदें डाल देना।

५. जिस समयतक अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग नौकरीके मदिर प्रभावसे जागकर, ज्ञानके एकाधिपत्यका स्वार्थ त्यागकर जनताको शिक्षा दें, उस समयतकके लिये प्रतीक्षा करना वैसा ही मूर्खतापूर्ण कार्य है जैसे हौरेसका नदीके किनारे यह सोचकर बैठ जाना कि जब नदी सूखेगी तब पार जाऊँगा।

•

अल्पाधार-शिक्षा-नीतिके दुष्परिणाम

१. उस समय तो इस शिक्षा-नीतिका कुफल अंगरेज़ोंको उतना नहीं

प्रतीत हुआ जितना सन् १८५७ के पश्चात् जब अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंने ही अँगरेज़ोंके विरुद्ध क्रान्तिका शंख फूँका। हुआ यही कि चौबेजी गए छब्बे बनने और रह गए केवल दुबे, क्योंकि जिन ब्रिटिश स्वत्वोंकी रक्षाके लिये यह नीति अपनाई गई थी वे ही ब्रिटिश स्वत्व संकटमें पड़ गए। भारतीयोंके रक्तमें और उनके सामाजिक संघटनमें जो संस्कार पड़े हुए थे वे लगभग पौने दो सौ वर्षोंके अँगरेज़ी शासनसे भी डिग न पाए क्योंकि अँगरेज़ी शिक्षा-प्रणाली पूर्ण रूपसे भारतीय जनताके संस्कार और सभ्यताके लिये पराई थी।

२. इस शिक्षा-नीतिने इस देशमें पहलेसे व्यवस्थित शिक्षाकी उच्च परिपाटियोंका न तो ध्यान रक्खा न उनसे सामञ्जस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया।

३. इस दृष्टिसे यह नीति पूर्णतः अव्यावहारिक, कृत्रिम तथा निराधार शिक्षा-सिद्धान्तोंपर अवस्थित थी।

४. इसी निराधार शिक्षा-नीतिका यह परिणाम हुआ कि अन्ततक भारत सरकारने सम्पूर्ण जनताको शिक्षा देनेके अपने कर्त्तव्यपर कभी ध्यान नहीं दिया वरन् वह सदा इस शिक्षा-नीतिके बहाने सार्वजनिक शिक्षाका प्रश्न टालती रही।

विश्लेषण

सत्य बात तो यह है. जैसा मैकौलेने अपने वक्तव्यमें कहा था कि इस शिक्षाका उद्देश्य भारतीयोंको बौद्धिक ज्ञान देना नहीं था वरन् थोड़ेसे ऐसे भारतीय लोगोंका एक दल प्रस्तुत करना था जो रंगमें भारतीय हों किन्तु खान-पान, वेष-भूषा, आचार-विचार सबमें योरोपीय हों। आर्थर मेह्यूने स्पष्ट रूपमें कहा है कि उस समय अँगरेजोंको कुछ ऐसे विशिष्ट विश्वासघातियोंकी आवश्यकता थी जो अपने देशवासियों-को धोखा देकर अंगरेजोंके प्रति निष्ठावान् हों। जहाँतक पाठ्य-पुस्तकोंकी कठिनाईकी बात थी वह तो केवल छः मासमें पूरी हो सकती थी। यदि

ब्रिटिश अधिकारी तनिक-सा भी ध्यान देते तो भारतकी प्रमुख भाषाओंमें सब अँगरेज़ी पुस्तकोंका अनुवाद करा सकते थे। अभी स्वतन्त्र होनेके पश्चात् जब हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका प्रश्न उठा तब भी विरोधियोंने वही दो सौ वर्ष पुराना तर्क देना प्रारम्भ किया था कि हिन्दीमें पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं। किन्तु हमारे देखते-देखते दो-तीन वर्षोंके भीतर सब विषयोंपर लिखी हुई हिन्दीकी पुस्तकोंका अम्बार लग गया। आज भारतकी कोई ऐसी प्रमुख भाषा नहीं है जिसमें ज्ञान-विज्ञानकी पर्याप्त पुस्तकें न हों। इसलिये पाठ्य पुस्तकोंका अभाव केवल एक प्रचण्ड बहाना था। उस समय उन लोगोंने अँगरेज़ीको जानबूझकर शिक्षाका माध्यम बनाया क्योंकि उससे उनकी स्वार्थ-सिद्धि होती थी।

आंग्ल-वादियों और प्राच्यविद्या-वादियोंका कलह

इधर तो यह शिक्षा-नीति अपनानेका चक्र चल रहा था उधर दिसम्बर १८३१ में, सार्वजनिक शिक्षा-समिति (कमेटी ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) ने अपना प्रथम विवरण प्रकाशित कर दिया जिससे यह प्रतीत हुआ कि उस समयतक इस समितिके अधीन चौदह संस्थाएँ चल रही थीं जिनमें ३४१० छात्र पढ़ रहे थे। प्राच्य-विद्याकी संस्थाओं (संस्कृत तथा अरबी विद्यालयों) के छात्र अधिकांशतः छात्रवृत्ति पाकर पढ़ते थे और प्रतिवर्ष अरबी और संस्कृत पुस्तकोंके प्रकाशनपर अत्यधिक धन भी व्यय हो रहा था। उधर लोगोंकी रुचि अँगरेज़ी शिक्षाकी ओर अधिक बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार कम्पनीकी ओरसे मिलनेवाले एक लाख रुपयेके व्ययकी नीतिपर दो दलोंमें बड़ा विवाद खड़ा हो गया।

ट्रैवेलियनने इन दोनों दलोंका अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है—

'जहाँ एक ओर कोई न कोई शिक्षा-नीति स्थिर करनेकी बात चल रही थी वहाँ अँगरेज़ी पढ़नेका चाव सहसा इतना बढ़ गया कि चारों ओरसे सार्वजनिक शिक्षा-समितिपर यह दबाव डाला जाने लगा कि शीघ्र ही शिक्षाके माध्यमका निर्णय कर दिया जाय। जो पुस्तकें छपीं उनकी

यह दशा थी कि उनमेंसे अँगरेज़ी पुस्तकें तो दो वर्षमें तीन हज़ार एक सौ बिक गई परन्तु संस्कृत और अरबीकी पोथियाँ तीन वर्षोंमें भी इतनी न बिक पाईं कि उनकी छपाईका व्यय निकलना तो दूर, उन्हें दो मासतक सुरक्षित रखनेका व्ययतक निकल आवे। ऐसी परिस्थितिमें स्वयं समितिके भीतर ही वैमत्य उठ खड़ा हुआ। एक दल तो संस्कृत और अरबीके ग्रन्थोंका प्रकाशन करने तथा संस्कृत और अरबीमें अँगरेज़ी ग्रन्थोंका अनुवाद चलाते रहनेके पक्षमें था, दूसरा दल योरोपीय विज्ञानको संस्कृत और अरबीके माध्यमसे प्रकाशित और प्रचारित करनेके व्यय-साध्य कार्यक्रमको तत्काल समाप्त करके, प्राच्य विद्याके प्रोत्साहनके लिये दी हुई सब प्रकारकी छात्र-वृत्ति बन्द करके, केवल गिनी-चुनी तथा अत्यन्त आवश्यक संस्कृत और अरबीकी पुस्तकोंको विभिन्न विद्यालयोंके लिये मोल लेना भर उचित समझता था। इस दलका प्रस्ताव था कि इस प्रकार द्रव्य बचाकर उन स्थानोंपर अँगरेज़ी पढ़ानेवाली नई संस्थाएँ स्थापित की जायँ जहाँ उनकी माँग बढ़ रही है।

मैकौलेका निर्णय

इस विवादने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि समितिका सारा काम ही ठप पड़ गया। इस समितिके सम्मुख जो भी प्रस्ताव आता वह इसी झमेलेमें ठंडा पड़ जाता। दोनों ही दल इतने सबल और सन्तुलित थे कि उनके विवादके कारण एक पग आगे बढ़ना भी सम्भव नहीं हो रहा था। यह स्थिति लगभग तीन वर्षतक चलती रही, यहाँतक कि समितिका सब कार्य रुक गया और यह दशा आ गई कि यदि सरकार ही स्वयं हस्तक्षेप करके किसी भी दलके पक्षमें अपना निर्णय देकर समितिको क्रियाशील करे तो करे। अतः उस समितिके सदस्योंके दोनों दलोंने सरकारके सम्मुख अपना-अपना अभिमत व्यक्त करते हुए वक्तव्य भेजे। उस समय लौर्ड विलियम बेंटिंक भारतका गवर्नर जनरल

था। वह भी स्वयं किसीका बुरा नहीं बनना चाहता था, इसलिये उसने तबेलेकी बला बन्दरके सिर मढ़ते हुए अपनी परिषद्के प्रसिद्ध सदस्य लौर्ड मैकौलेको इस समितिका प्रधान नियुक्त कर दिया और उसे अधिकार दे दिया कि वह इस विषयकी जाँच करके अपना मत व्यक्त करे। फलतः २ फरवरी सन् १८३५ को लार्ड मैकौलेने इस विवादका अन्त करते हुए नई शिक्षा-नीतिका श्रीगणेश किया जिसमें उसने भारतीय और अरबी साहित्यको निरर्थक, निराधार, मूर्खतापूर्ण, असत्य, असंगत तथा असम्भव बताते हुए बड़े विस्तारके साथ कहा कि—'हम यह चाहते हैं कि भारतीय केवल रंगमें तो भारतीय रहें, किन्तु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार इत्यादि सब बातोंमें पूर्णतः अँगरेज़ बन जायँ।'

संस्कृत तथा अरबी शिक्षाके विरुद्ध उसने जो व्यवस्था दी उसे हम संक्षेपमें इस प्रकार समझा सकते हैं। वह तर्क करता है—

१. जो एक लाख रुपया शिक्षाके लिये अलग किया गया है वह केवल भारतीय साहित्यके जीर्णोद्धारके लिये ही नहीं वरन् ब्रिटिश सीमामें रहनेवाले भारतीयोंमें विज्ञानके प्रचार और प्रसारके लिये भी है। अतः इस द्रव्यको अँगरेज़ी शिक्षाके हेतु सुरक्षित करनेके निमित्त किसी वैधानिक नियमकी आवश्यकता नहीं है और यदि हो भी तो मैं तत्काल एक छोटा-सा नियम बनवाकर १८१३ के आदेश विधान (चार्टर एक्ट)की उस धाराको ही समाप्त करा दूँगा जिससे यह कठिनाई उत्पन्न हुई है।

२. प्राच्य शिक्षा-पद्धतिके प्रशंसक समझते हैं कि इस वर्त्तमान प्राच्य शिक्षा-पद्धतिमें जनताका बहुत विश्वास है और संस्कृत तथा अरबीकी शिक्षाके प्रोत्साहनके निमित्त जो द्रव्य व्यय किया जाता है उसे यदि हम किसी दूसरी प्रकारकी शिक्षाके प्रयोगमें लावेंगे तो न जाने क्या पाप हो जायगा। न जाने कैसे उन लोगोंकी बुद्धिमें यह बात समाई है कि यदि कोई भवन किसी कामके लिये सुरक्षित है और वह कार्य व्यर्थ सिद्ध हो रहा है तो वहाँ स्वास्थ्यशाला खोल देना अनीतिकी बात होगी।

३. सब दल एक बातपर सहमत प्रतीत होते हैं कि भारतकी देशी भाषाओंमें साहित्यिक और वैज्ञानिक ग्रन्थोंका पूर्ण अभाव है और वे स्वयं इतनी हीन और दीन हैं कि जबतक बाहरसे शक्ति भरकर उन्हें समृद्ध नहीं किया जायगा तबतक उनमें अच्छे ग्रन्थोंका अनुवाद भी नहीं किया जा सकता।

४. यह भी सब स्वीकार करते हैं कि यह व्यापक समृद्धि भी किसी ऐसी भाषाके द्वारा सिद्ध की जा सकती है जो उन भाषाओंसे भिन्न हो। प्रश्न यह है कि वह भाषा क्या हो? समितिके आधे सदस्योंका मत है कि यह कार्य अँगरेजीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है। शेष आधे सदस्योंका मत है कि यह काम संस्कृत और अरबीके द्वारा हो सकता है। जहाँतक मेरा प्रश्न है, मैंने न तो संस्कृत पढ़ी है न अरबी। किन्तु मैंने उन दोनों भाषाओंके साहित्योंका शुद्ध मूल्यांकन करनेका प्रयत्न किया है और मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि योरोपीय पुस्तकालयकी एक भण्डारी (आलमारी), भारत और अरबके सम्पूर्ण साहित्यके बराबर है।

५. यह कहनेमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि संस्कृत भाषाकी पुस्तकोंसे जितनी ऐतिहासिक सामग्री एकत्र की जा सकती है वह सब इंगलैण्डकी प्रारम्भिक पाठशालाओंमें पढ़ाई जानेवाली पुस्तकोंकी सामग्रीसे भी अत्यन्त अल्प एवं सूक्ष्म है।

मैकौलेकी विचारान्धता

मैकौलेने संस्कृत और अरबीके विरुद्ध जो खड्ग-हस्त होकर वक्तव्य दिया वह कितना स्वयं-विरोधी और असत्य है यह समझानेकी आवश्यकता नहीं। उसने संस्कृत और अरबी बिना पढ़े ही योरोपीय साहित्यसे उनकी तुलना कर डाली और अपने प्रबल आत्मज्ञानसे उसने यह भी परिणाम निकाल लिया कि उन संस्कृत ग्रन्थोंमें ऐतिहासिक सामग्री कुछ भी नहीं है। यह लोक-विदित है कि पुराणों, कथा-ग्रन्थों

तथा राजतरंगिणी और हर्षचरित जैसे काव्योंमें इतनी प्रामाणिक सूक्ष्म और विशद ऐतिहासिक सामग्री व्याप्त है जो मैकौले-द्वारा लिखित निरर्थक वाग्जाल और शब्दाडम्बरसे पूर्ण इंगलैण्डके इतिहासमें ढूँढ़े भी नहीं मिलती। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैकौले, अँगरेजोंका शुभचिन्तक था और उसने उन्हींके कल्याणार्थ ही ऐसा मत प्रकट किया था।

अपने मतकी व्याख्या करते हुए वह आगे कहता है—

हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन लोगोंके लिये शिक्षाकी व्यवस्था करें जो अपनी मातृभाषाके द्वारा शिक्षित नहीं किए जा सकते। इसलिये हमें किसी विदेशी भाषाके माध्यमसे उन्हें शिक्षित करना होगा और इस सम्बन्धमें अँगरेज़ी कितनी सहायक होगी यह कहना निरर्थक है क्योंकि—

(क) पश्चिमकी भाषाओंमें अँगरेज़ी ही सर्वप्रमुख है।

(ख) जो व्यक्ति इस भाषासे परिचित है वह उस सम्पूर्ण बौद्धिक निधिको सरलतासे प्राप्त कर लेता है जो संसारकी जातियोंने रची है या ढाली है।

(ग) भारतमें भी यहाँके शासक-वर्ग तथा उच्च-वर्गकी भाषा भी अँगरेज़ी ही है।

(घ) यह भी सम्भावना है कि यह पश्चिमके सम्पूर्ण समुद्रावेष्टित भूभागकी व्यवसाय-भाषा बन जाय; और

(ङ) आज भी यह योरपसे बाहर रहनेवाली दो प्रमुख जातियों—दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलियाकी गोरी जातियों—की भाषा है। इसलिये हमारे सम्मुख सीधा-सादा प्रश्न यह है कि क्या हम अपने हाथमें ऐसी समृद्ध भाषाके शिक्षणकी शक्ति रखते हुए भी जनताके व्ययपर ऐसा ज्यौतिष सिखावें जिसे सुनकर अंगरेज़ी छात्रावासकी कन्याएँ हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायँ; ऐसा इतिहास पढ़ावें जिसमें तीस-तीस सहस्र वर्ष राज्य करनेवाले तीस-तीस फुट ऊँचे राजाओंकी कथाएँ हों; और ऐसा भूगोल पढ़ावें जिसमें मधु और दूधके समुद्रोंका वर्णन हो।

विरोधियोंकी आलोचना

इसके पश्चात् मैकोलेने अपने विरोधियोंके तर्कोंका उत्तर देते हुए कहा—

"यह कहा जाता है कि हमें देशी जनताका सहयोग प्राप्त करना चाहिए और यह सहयोग हम अरबी और संस्कृत भाषाके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। यह मत तनिक भी मान्य नहीं है क्योंकि शिक्षा पानेवालोंको यह अधिकार नहीं है कि वे अपने लिये स्वयं पाठ्यक्रम निर्धारित करें; यह काम तो शिक्षा देनेवालेका है। यह अत्यन्त घातक नीति होगी कि हम उनका बौद्धिक ह्रास करके केवल उनकी रुचिको तृप्त करते रहें। संस्कृत विद्यालयके अनेक पूर्व छात्रोंने एक प्रार्थनापत्र प्रेषित किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि दस-बारह वर्षतक विद्यालयमें पढ़ने और योग्यताका प्रमाणपत्र पानेपर भी हम अपनी दशा नहीं सुधार पाए। इसलिये हमें अच्छी जीविकाके साधन बताइए और शिक्षा-कालमें इतनी उदारतापूर्वक शिक्षा देकर अब हमें भाग्यके भरोसे न छोड़ दीजिए।"

"सच पूछिए तो हमने जनताको उस उचित शिक्षासे वंचित कर रक्खा है जिसे पानेके लिये वे लालायित हैं और ऐसी शिक्षा उनपर लाद रक्खी है जिससे वे त्रस्त हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जो अरबी और संस्कृत पढ़ते हैं उन्हें छात्रवृत्ति देनी पड़ती है और जो अँगरेज़ी पढ़ना चाहते हैं वे उल्टे हमें शुल्क देनेको तैयार हैं।"

"कुछ लोगोंका कहना है कि धर्मनीति और व्यवहार-नीतिका ज्ञान हिन्दुओंके लिये संस्कृत ग्रन्थोंसे और मुसलमानोंके लिये अरबी ग्रन्थोंसे ही सम्भव है। यह प्रश्न ही अनावश्यक है क्योंकि पार्लियामेण्टने भारतके न्यायविधानको व्यवस्थित रूपसे सम्पादित करनेका आदेश दे दिया है। ज्यों ही वह विधान (कोड) पूर्ण हो जायगा त्यों ही शास्त्र और हदीसकी आवश्यकता समाप्त हो जायगी।"

"जो लोग कहते हैं कि संस्कृत और अरबीमें दस करोड़ जनताकी

धार्मिक रीति-वृत्ति सुरक्षित होनेके कारण उन्हें प्रोत्साहन मिलना चाहिए, उनके लिये स्पष्ट उत्तर यह है कि धर्मके सम्बन्धमें सरकारने निरपेक्ष रहनेका निश्चय किया है। और फिर, ऐसे साहित्यको प्रोत्साहन देनेका सरकारको कोई अधिकार नहीं है जिसमें महत्त्वपूर्ण विषयोंपर भयंकर भूलें भरी हुई हों।"

"जो लोग यह समझते हैं कि कोई भी भारतवासी टूटी-फूटी अँगरेज़ीसे अधिक नहीं सीख सकता उन्हें यह जान लेना चाहिए कि अनेक विदेशियोंने अँगरेज़ी पढ़कर उस भाषामें संचित ज्ञान प्राप्त कर लिया है और भारतवर्षमें भी ऐसे अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंकी कमी नहीं है जो राजनीतिक और वैज्ञानिक विषयोंपर धारा-प्रवाह अँगरेज़ीमें अत्यन्त योग्यतासे शास्त्रार्थ न कर सकते हों।"

परिणाम

"निष्कर्ष यह है कि सन् १८३० के पार्लियामेण्ट एक्टके द्वारा हम किसी भी बातके लिये वचनबद्ध नहीं हैं और हमें यह स्वतन्त्रता है कि—

(१) हम शिक्षाके निमित्त निकाले हुए कोषको यथारुचि व्यय करें, किन्तु हमें यह धन ज्ञातव्य विषयकी शिक्षामें लगाना चाहिए।

(२) अँगरेज़ी भाषा निश्चय ही संस्कृत और अरबीसे अधिक अध्ययनीय है।

(३) अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भारतवासी लालायित हैं, संस्कृत और अरबी के लिये नहीं।

(४) न्याय-विधान तथा धर्मकी भाषा होनेके कारण भी संस्कृत और अरबी प्रोत्साहनीय नहीं है।

(५) अंगरेज़ीके द्वारा हम भारतवासियोंको अच्छा विद्वान् बना सकते हैं तथा उसी लक्ष्यकी ओर हमें अग्रसर होना भी चाहिए।"

मैकौलेके वक्तव्यकी आलोचना

मैकौलेका यह कहना नितान्त भ्रामक है कि भारतवासी लोग अँगरेज़ी पढ़नेके लिये आतुर थे। सच पूछिए तो अँगरेज़ी शिक्षाके लिये ऐसे ही हिन्दू लोग लालायित थे जो या तो कम्पनीके नौकर थे या नौकर होना चाहते थे। जहाँतक मुसलमानोंकी बात थी, वे सभी इस नई शिक्षा-प्रणालीसे दो पग दूर ही थे। बरसों पीछे सर सैयद अहमद खाँने उन्हें बहुत फुसला और समझाकर अँगरेज़ी पढ़नेकी ओर प्रवृत्त किया और उनके लिये अलीगढ़में एक कालेज भी खोला।

मैकौले भारतमें अंगरेज़ोंका दलाल और भाड़ेका टट्टू बनकर आया था। इसलिये वह अपने विवेकको तिलांजलि देकर, अपने स्वामियोंको प्रसन्न करनेमें जी-जानसे जुट गया था। अपनी बहनको चिट्ठी लिखते हुए उसने स्वीकार किया है कि "मैं आजकल बड़े आर्थिक कष्टमें था, इसलिये मैं सुप्रीम काउंसिलकी सदस्यता ग्रहण करनेके लिये उत्सुक था क्योंकि एक तो यह पद ही अत्यन्त सम्मानका है, दूसरे इससे एक सहस्र रुपया वार्षिक वेतन भी मिलता है।"

इसके अतिरिक्त मैकौलेका यह भी उद्देश्य था कि अँगरेज़ीकी शिक्षाके द्वारा ईसाई धर्मका प्रचार करने तथा यहाँके निवासियोंको ईसाई बनानेमें भी सुविधा मिलेगी। उसने अपने पिताको पत्र लिखा था—

"इस शिक्षाका प्रभाव हिन्दुओंपर बहुत अच्छा पड़ रहा है और जो भी हिन्दू, अंगरेज़ी पढ़ते हैं वे अपने धर्मके भक्त नहीं रह जाते। उनमेंसे कुछ दिखावे भरके लिये हिन्दू रह जाते हैं, कुछ धर्म-विरोधी हो जाते हैं और कुछ ईसाई बन जाते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी यह शिक्षा-योजना चलाई जाती रही तो तीस वर्षोंमें बंगालके उच्च वर्णोंमें एक भी मूर्तिपूजक नहीं बच रहेगा।"

मैकौलेके मानसपुत्र

ये दो पत्र ही उन लोगोंका मुँह बन्द करनेके लिये पर्याप्त हैं जो

आज स्वतन्त्र भारतमें भी मैकौलेके मानसपुत्र बनकर यह कहनेकी धृष्टता करते हैं कि मैकौलेने अत्यन्त उदार तथा निष्पक्ष भावसे इस शिक्षा-प्रणालीका प्रचलन किया और जो आज भी अँगरेज़ीको चलाते रखनेकी सम्मति देकर भयंकर देशद्रोह करनेकी धृष्टता कर रहे हैं। उपर्युक्त विस्तृत विवरणसे किसीको भी यह समझनेमें सन्देह नहीं रहेगा कि मैकौले, हमारी भारतीय भाषा, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्यके साथ-साथ अरबी संस्कृति और साहित्यका जन्मजात कट्टर शत्रु था। उसने अपने वक्तव्यमें केवल अपनी अनभिज्ञता और अपने अविवेकका ही परिचय नहीं दिया वरन् अपनी पण्डितम्मन्यताका उद्दण्डपूर्ण आभास देते हुए अत्यन्त क्षुद्रता तथा छिछोरेपनके साथ भारतीय ज्ञान-विज्ञान और इतिहासकी हँसी उड़ाई है। यह आश्चर्यकी बात है कि इतनी खल-भूमिकामें अंकुरित और पल्लवित की हुई शिक्षा-योजनाका मूल आज स्वतन्त्र भारतमें भी अपनी सहस्र-गुणित शाखा-प्रशाखाओंके साथ फैलता चला जा रहा है और हम उसे अज्ञानवश निरन्तर सींचते चले जा रहे हैं। मैकौलेने न तो भारतीय भाषाओंकी समृद्ध शक्तिका अध्ययन किया और न मध्यकालीन कवियों और लेखकों-द्वारा भारतकी विभिन्न भाषाओंमें प्रतिष्ठित उदात्त भावभूमिसे परिचय पानेका कोई उद्योग किया। उसीके समयमें जहाँ एक ओर जर्मन विद्वान् संस्कृतसे प्रभावित होकर उसका अध्ययन कर रहे थे वहाँ मैकौले उसकी हत्या करनेका यह क्षुद्रतापूर्ण षड्यन्त्र रहा था। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मैकौलेको अपने पड़ोसकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका भी कोई ज्ञान नहीं था। इसीलिये उसके विचार अत्यन्त संकुचित और प्रवंचनापूर्ण थे।

प्रिंसेप और मेह्यू

प्रिन्सिपने तो उसी समय मैकौलेका घोर विरोध किया और बतलाया कि मैकौलेने जिस उपेक्षा-भावसे भारतीय और अरबी

साहित्यकी आलोचना की है वह सर्वथा निराधार और हेय है

मेह्यूने इस सम्बन्धमें विवेचना करते हुए बताया है कि अँगरेजी शिक्षाकी व्यवस्थाके पीछे तीन बड़े लक्ष्य थे—

(क) शासन-कार्यमें सहायता देनेके लिये भारतीयोंको शिक्षित करना।

(ख) राष्ट्रकी भौतिक समृद्धिमें सहायक होना।

(ग) नैतिक और सामाजिक रूढ़ियोंमें ग्रस्त भारतीयोंको ज्ञान-सम्पन्न और विवेकशील बनाना।

किन्तु मेह्यूका यह वक्तव्य भी उतना सत्य नहीं है क्योंकि ऊपर उद्धृत किए हुए मैकौलेके दोनों पत्र स्वयं इस वृत्तिका विरोध करनेके लिये पर्याप्त हैं।

शिक्षाकी नवीन नीति [सन् १८३५]

इतना विरोध होनेपर भी ७ मार्च सन् १८३५ को लार्ड विलियम बेंटिंकने मैकौलेकी नीतिको राज्यकी नीति मानकर निम्नांकित प्रस्ताव घोषित कर दिया—

"सपरिषद् गवर्नर जनरलने सार्वजनिक शिक्षा-मन्त्रीके पिछली २१ और २२ जनवरीके दोनों पत्रों और उनमें उद्धृत अन्य पत्रोंपर भली भाँति विचार करके यह निश्चय किया है कि—

(१) ब्रिटिश सरकारका मुख्य उद्देश्य यह होगा कि वह भारतवासियोंमें पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानोंका प्रसार करे क्योंकि शिक्षाके लिये जितना धन प्रयोगमें लाया जाता है वह केवल अँगरेज़ी शिक्षाके लिये ही सर्वश्रेष्ठ रूपमें प्रयुक्त हो सकता है।

(२) किन्तु, सपरिषद् गवर्नर जनरलका यह भी उद्देश्य है कि देशी शिक्षाके जो महाविद्यालय या विद्यालय विद्यमान हैं, वे तबतक न तोड़े जायँ जबतक कि भारतीय जनता उनसे लाभ उठानेके लिये उत्सुक और प्रवृत्त है। अतः सपरिषद् गवर्नर जनरल यह आदेश देते हैं कि वर्तमान देशी विद्यालयोंमें जितने प्राध्यापक या छात्र हैं और

शिक्षा-समितिके अधीन जितनी संस्थाएँ हैं उन्हें यथापूर्वक सहायता तो मिलती रहे किन्तु आजतक प्रचलित इस प्रणालीपर घोर आपत्ति है कि सरकार-द्वारा छात्रोंका भरण-पोषण करके ऐसी शिक्षाको अनावश्यक और कृत्रिम प्रोत्साहन दिया जाय जो थोड़े दिनोंमें स्वाभाविक रूपसे अधिक उपयोगी शिक्षाके द्वारा समाक्रान्त हो जायगी। अतः ऐसे देशी विद्यालयोंमें पढ़नेवाले किसी भी छात्रको भविष्यमें कोई भी छात्रवृत्ति नहीं दी जायगी। साथ ही, इन प्राच्य संस्थाओंके कोई भी प्राध्यापक यदि अपना पद-त्याग करेंगे तो उनका स्थान रिक्त रहेगा और छात्रोंकी संख्या तथा कक्षाकी दशा देखकर सरकार यह विचार करेगी कि उस स्थानपर किसीको नियुक्त करना चाहिए या नहीं।

(३) सपरिषद् गवर्नर जनरलको यह सूचना मिली है कि समितिने प्राच्य ग्रन्थोंके प्रकाशनपर बहुत रुपया व्यय कर दिया है। गवर्नर जनरलका यह आदेश है कि भविष्यमें इस कार्यके लिये किसी प्रकारका व्यय न किया जाय और इन सुधारोंके पश्चात् जो कुछ रुपया बचे वह अँगरेज़ी माध्यमके द्वारा भारतीयोंको अँगरेज़ी साहित्य और विज्ञान पढ़ानेमें लगाया जाय।

सारांश

सारांश यह है कि—

(१) पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानके प्रसारको ही सरकारने अपना सिद्धान्त बना लिया।

(२) प्राच्य ग्रन्थोंका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

(३) नई छात्रवृत्तियाँ बन्द कर दी गईं।

(४) बचा हुआ धन अँगरेज़ी भाषाके माध्यमसे अँगरेज़ी साहित्य और विज्ञान पढ़ानेमें व्यय किया गया और इस प्रकार अँगरेज़ी और प्राच्य विद्याका पारस्परिक सम्बन्ध पूर्णतः निश्चित हो गया। साथ ही,

(५) देशी भाषाओंका महत्त्व भी स्वीकृत किया गया और यह मान

लिया गया कि एक उचित देशी साहित्यके निर्माणके लिये सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर देनी चाहिए।

कुटिल नीति

महत्त्वकी बात यह है कि मुसलमान केवल इस नीतिसे अलग ही नहीं रहे वरन् उन्होंने इस अँगरेजी शिक्षाका विरोध भी किया और एक स्मृतिपत्र-द्वारा उन्होंने सरकारपर यह आरोप लगाया कि तुम भारतीयोंको ईसाई बनाना चाहते हो। यों भी उच्च शिक्षाके लिये अँगरेज़ीको माध्यम बनानेका निर्णय किसी शिक्षाकी दृष्टिसे नहीं किया गया था। वास्तवमें उस समयतक कोई शिक्षा-विधान तो प्रस्तुत था नहीं, अतः तत्कालीन परिस्थितियोंमें शिक्षाका एकमात्र माध्यम अँगरेज़ी बनाना उन्हें अपरिहार्य जान पड़ा क्योंकि एक ओर संस्कृत और अरबी थी, दूसरी ओर अँगरेज़ी थी। ऐसी परिस्थितिमें जो लोग संस्कृत और अरबीको फूटी आँखों नहीं देखना चाहते थे, उनके सम्मुख अँगरेज़ीके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था। वे चाहते तो देशी भाषाओंको भी अत्यन्त सरलतासे शिक्षाका माध्यम बना सकते थे। बहुतसे रजवाड़ोंमें देशी भाषाओंमें सब काम हो ही रहा था। किन्तु मैकौलेकी कुटिल दृष्टिमें शिक्षा-नीतिसे भिन्न कुछ दूसरा ही स्वप्न था। यदि यह न होता और अँगरेज़ीके बदले संस्कृत या कोई देशी भाषा माध्यम स्वीकृत की गई होती तो जिस प्रकारके भयंकर कुसंस्कारोंने भारतीय समाजको विशृंखल करके विचारकी दासता मस्तिष्कमें भर दी वह सम्भवतः न भरी रहती और भारत आधी शताब्दी पूर्व ही पराधीनताकी बेड़ियाँ तोड़कर मुक्त हो जाता। भारतीयोंको ईसाइपन और अँगरेज़ीपनमें रँग लेनेके अतिरिक्त उन लोगोंका यह भी उद्देश्य था कि हम अपनी भाषाके माध्यमसे एशिया-वासियोंमें योरपकी संस्कृतिका प्रसार करें। हर्षकी बात है कि उनका कुचक्र पूर्णतः सफल नहीं हो पाया और अथक परिश्रम करनेपर भी उनकी यह कामना सिद्ध न हो पाई कि कृत्रिम उपायोंसे, नौकरीके लोभमें पड़े हुए लोग, अंगरेज़ी भाषामें

राष्ट्रीय साहित्य उत्पन्न करने लगें। राष्ट्रीय साहित्य तो राष्ट्रकी अपनी भाषामें, अपनी विचार-पद्धति और अभिव्यक्तिकी परम्परामें, अपने साहित्य, दर्शन और विज्ञानकी छायामें अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। अतः संस्कृतके बदले अथवा देशी भाषाओंके बदले अँगरेज़ीको माध्यम बनाना अँगरेज़ोंके लिये तो असफल हुआ ही किन्तु उसने भारतीय आचार-विचार और संस्कारको भी कम धक्का नहीं पहुँचाया। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग 'आधे तीतर आधे बटेर' बने रहे।

आंशिक सफलता

सन् १८३५ में जो थोड़ी-बहुत सफलता इस अँगरेज़ी शिक्षाको मिली, उसका कारण यह नहीं है कि वास्तवमें लोग इस शिक्षाको श्रेष्ठ समझते थे, वरन् इसलिये कि—

१. सन् १८३५ में समाचार-पत्रोंको स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई।

२. सन् १८३७ में राजभाषाके पदसे फ़ारसी उतार दी गई और उसके स्थानपर अँगरेज़ी प्रतिष्ठित की गई।

३. न्यायाधिकारियोंको सन् १८३६ से १८४६ तक अधिक विस्तृत अधिकार दे दिए गए।

४. सन् १८४४ में लौर्ड हार्डिंजने अपने प्रस्तावसे अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंको अधिक सुविधाएँ और प्रधानता दी।

अँगरेज़ी शिक्षाका प्रसार [सन् १८३५ से १८५४]

अपनी भेड़िया-धसानके लिये जगत्प्रसिद्ध भारतीयोंने इस अँगरेज़ी शिक्षाके प्रति इतनी उत्सुकता प्रदर्शित की कि जहाँ सन् १८४२ में बंगालमें अट्ठाईस राज-संस्थाएँ थीं वहाँ सन् १८५५ में एक सौ इक्यावन हो गईं और छात्रोंकी संख्या भी ४६३२ से बढ़कर १३१६३ हो गई। बम्बईमें भी जहाँ सन् १८३४ में तीन सौ अट्ठारह विद्यार्थियोंके दो विद्यालय थे वहाँ सन् १८४० में ७४२६ छात्र हो गए। मद्रासमें कुछ गति मन्द थी यहाँतक कि सन् १८३७ में एक ही विद्यालय अँगरेज़ी

पढ़ानेके लिये खुला। सन् १८४१ में कलकत्तेके हिन्दू कालेजके समान वहाँ एक सरकारी विद्यालय खोला गया जिसका विचित्र नाम मद्रास-यूनिवर्सिटी रक्खा गया और जिसमें सन् १८५२ तक भी दो सौ छात्र नहीं पहुँच पाए। किन्तु ईसाई धर्म-प्रचारक संस्थाओंकी ओरसे सन् १८५२ तक लगभग १२०० विद्यालय खुल गए थे जिनमें अड़तीस सहस्र छात्र पढ़ते थे। मद्रास क्रिश्चियन कौलेजमें भी लगभग ३०० बालक पढ़ रहे थे।

शिक्षा-गतिका राजकीय विवरण

इँगलैण्डकी सामन्त-सभा (हाउस ऑफ़ लौर्ड्स) में शिक्षाका विवरण देते हुए सन् १८५२ में बताया गया था कि बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रान्तोंमें पढ़नेवाले २५३७२ विद्यार्थियोंमेंसे ९८९३ अँगरेज़ी पढ़ते हैं और सात लाख चौदह सहस्र पाँच सौ सत्तानबे रुपए केवल सरकारी स्कूलोंपर व्यय हुए हैं। इस विवरणसे ज्ञात होता है कि सत्रह वर्षके भीतर इतने वेगसे अँगरेज़ी शिक्षा बढ़ी कि सत्रहवें वर्ष भारतके केवल तीन प्रान्तोंमें लगभग दस सहस्र छात्र अपने पाससे शिक्षाका व्ययभार देकर नौकरी पानेकी लालसासे अँगरेज़ी पढ़ने लगे थे।

१. आगे बढ़नेसे पूर्व हम यह घोषित कर देना चाहते हैं कि हम भारतमें जिस प्रकारकी शिक्षाका विस्तार करना चाहते हैं उसका स्वरूप वही होगा जिससे योरोपकी समुन्नत कलाओं और विज्ञानोंका प्रस्तार हो।

२. संस्कृत, अरबी और फ़ारसी साहित्योंके अध्ययनके लिये जो विशेष संस्थाएँ खुली हुई हैं और उनके द्वारा जो सुविधा लोगोंको मिल रही है उसे हम कम नहीं करना चाहते किन्तु इस प्रकारके सब प्रयत्न गौण ही समझे जायँगे।

३. उन वर्गोंको सब प्रकारकी सुविधा दी जायगी जो उदार योरोपीय शिक्षा प्राप्त करनेके लिये समुत्सुक हैं।

४. किन्तु हम यह मानते हैं कि जो अधिकांश जनता किसी सहायताके बिना शिक्षा प्राप्त करनेमें पूर्णतः असमर्थ है उसे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके उपयुक्त उपादेय और व्यावहारिक ज्ञान दिया जायगा।

उद्देश्य-प्राप्तिके साधन

उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये निम्न-लिखित साधन सुझाए गए—

१. एक अलग शिक्षा-विभाग खोल दिया जाय जिसमें निरीक्षकों और उपनिरीक्षकोंके दलके सहित शिक्षा-सञ्चालक नियुक्त किए जायँ, जो विभागपर भली प्रकार शासन कर सकें।

२. कलकत्ता, बम्बई और मद्रासमें लन्दन विश्वविद्यालयके आदर्शपर परीक्षक-विश्वविद्यालय (ऐग्ज़ामिनिंग युनिवर्सिटी) स्थापित किए जायँ।

३. स्थान-स्थानपर राजकीय विद्यालय स्थापित किए जायँ।

४. प्रारम्भिक शिक्षापर अधिकाधिक ध्यान दिया जाय।

५. अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये शिक्षाशास्त्र-विद्यालय (ट्रेनिंग स्कूल या कालेज) खोले जायँ।

६. जनता-द्वारा चलाए हुए विद्यालयोंकी सहायताके लिये आर्थिक सहायता-प्रणाली (ग्रैंट-इन-एड सिस्टम) भी प्रारम्भ की जाय और इस

सहायताका वितरण धार्मिक भेद-भावसे पूर्णतः अलग रहकर श्रेष्ठ लौकिक ज्ञानके आधारपर किया जाय। इनका निरीक्षण विभागीय कर्मचारी निरन्तर करते रहें और इनमें कुछ न कुछ शुल्क भी लिया जाता रहे।

सन् १८५४ का यह महाविधान सर चार्ल्स वुडने प्रस्तुत किया था अतः इसका नाम 'वुडका नीतिपत्र' (वुड्स डिस्पैच) या शिक्षा-महाविधान (मैग्ना कार्टा औफ़ एजुकेशन) पड़ गया है। इस नीतिपत्रमें राष्ट्रकी सार्वजनिक शिक्षाकी पूर्ण योजना प्रस्तुत कर दी गई है इसीलिये एक विद्वान्का कहना है कि 'यह महाविधान भारतीय शिक्षाके इतिहासकी सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट सीमा है क्योंकि इससे पहले जो कुछ हुआ है वह इसतक पहुँचता है और जो आगे हुआ है वह इसीसे ढला है।'

सन् १८५४ के संविधानका विश्लेषण

यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने भारतीयोंके सिरपर अँगरेज़ी शिक्षा-प्रणाली लादनेके लिये पूर्ण छल-छद्मके साथ भारतीयोंको भौतिक और लौकिक सुखका रूपक देकर भुलाया, पर साथ ही उन्होंने इतनी सद्वृत्ति अवश्य दिखलाई कि योरोपीय उत्पादकोंके हितकी दृष्टिसे और अपने राज्यको सुदृढ़ करनेके लिये अच्छे दास उत्पन्न करनेकी नीति भी उन्होंने छिपाई नहीं। उस समय हमारे देशमें अँगरेज़ोंकी विभाजन-नीति, भारतीय देशी राज्योंको हड़पनेकी नीति तथा बंगालके वस्त्रोत्पादन-व्यापारको ध्वस्त करनेकी नीतिसे सम्पूर्ण भारतमें भयंकर विक्षोभ छाया हुआ था। इन अँगरेज़ोंसे भारतीय इतने चिढ़ गए थे कि रुहेलखण्डके एक सरदार और अवधके नवाब आसफ़ुद्दौलाने सन् १८०० के लगभग ही अहमदशाह अब्दालीके बेटे जमानशाहको निमन्त्रण दिया था कि तुम भारतपर चढ़ाई करके अँगरेज़ोंको निकालनेमें सहायता दो। अँगरेज़ तभीसे सावधान हो चले थे किन्तु १९ वीं शताब्दिके मध्यमें एक ओर फ़ान्सीसी शक्ति ठंढी पड़ चुकी, दूसरी ओर अँगरेज़ भी तीव्र

गतिसे पश्चिमोत्तर सीमातक बढ़ गए, सिक्ख-शक्ति भी निस्तेज हो चली, महाराष्ट्रमें पुरस्कार-जाँच-समिति (एवार्ड कमीशन) ने ३५ सहस्र इनामों या जागीरोंमेंसे २१ सहस्र छीन लिए, बाजीरावके पश्चात् उनके दत्तक पुत्र नानासाहबकी वृत्ति (पेन्शन) बन्द कर दी गई, निजामसे बरार ले लिया गया और झाँसीके राजाकी मृत्युपर विधवा महारानी लक्ष्मीबाईका दत्तक पुत्र अस्वीकार कर दिया गया, तब अवधके नवाब वाजिदअलीशाह भी इनकी नीतिसे असन्तुष्ट होकर सैन्य-संघटन करने लगे। उन्हीं दिनों रावलपिण्डीमें सिक्खोंके आत्मसमर्पणके पश्चात् महारानी झिन्दाँ कौर काशीसे हटकर नैपाल चली गईं और चारों ओर अँगरेज़ोंके विरुद्ध अत्यन्त क्षोभ व्याप्त हो गया। ऐसी स्थितिमें यह शिक्षा-योजना एक भयंकर राजनीतिक चाल थी जिसके चाकचिक्यका प्रलोभन देकर अँगरेज़ लोग भारतीयोंको उलझाए रखना चाहते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस योजनामें सार्वजनिक शिक्षाके सब अङ्गोंका पूर्ण विधान किया गया था और प्रारम्भिक शिक्षा, विद्यालय-शिक्षा, विश्वविद्यालय-शिक्षा, जनसंचालित विद्यालयोंके लिये सहायता, शिक्षा-विभागकी स्थापना, तीन विश्वविद्यालयोंकी स्थापना और शिक्षकोंके शिक्षणके लिये ऐसे विधान बनाए गए जिनसे प्रतीत होता था कि अँगरेज़ोंने भारतके हितका वास्तविक विधान प्रस्तुत कर दिया है। विषयकी व्यापकताके विचारसे इस शिक्षा-योजनामें दो बातोंकी कमी थी—एक तो यह कि इसमें न तो यांत्रिक या शिल्प-शिक्षाका विधान था न कन्या-शिक्षाका। यान्त्रिक शिक्षा तो अँगरेज़ कूटनीतिज्ञ देना ही नहीं चाहते थे क्योंकि यान्त्रिक शिक्षासे उनके अपने व्यापारको धक्का लगनेकी स्वाभाविक आशंका थी। कन्या-शिक्षाके लिये भी वे इसलिये उदासीन थे कि उन्हें अपना राज्य-शासन दृढ़ करनेके लिये अच्छे दासानुदास चाहिएँ थे, स्त्रियाँ नहीं। अतः अत्यन्त सावधान होकर उन्होंने लन्दन-विश्वविद्यालयके आदर्शपर ऐसी शिक्षा-योजना बनाई कि जिससे उनके

लिये ऐसे अच्छे नौकर मिलने लगें जो अपने देशके लिये धोबीके कुत्ते बने रहें—न घरके न घाटके।

सन् १८५६ ई० की शिक्षा-योजना

वुडकी बनाई हुई शिक्षा-योजना बड़ी धूम-धामसे प्रारम्भ हुई। प्रत्येक जिलेमें एक-एक राजकीय हाई स्कूल खोल दिया गया। सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रासमें विश्वविद्यालय खोले गए। सब प्रान्तोंमें शिक्षा-विभाग बने और शिक्षा-संचालक नियुक्त हो गए। निरीक्षकों और उपनिरीक्षकोंकी भी एक सेना खड़ी कर दी गई। जहाँ-तहाँ प्रारम्भिक पाठशालाएँ भी खुल गईं। तीनों प्रान्तोंमें शिक्षा-शास्त्र-विद्यालय खोल दिए गए। जनता-द्वारा स्थापित विद्यालयोंको सहायता भी दी जाने लगी। इसी बीच सन् १८५७ में भयंकर राजनीतिक विस्फोट हुआ जिसमें सम्पूर्ण क्षुब्ध भारतने धार्मिक भेद-भाव भुलाकर कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर अँगरेज़ी राज्य उखाड़ फेंकनेके लिये विद्रोहका झण्डा खड़ा किया। दुर्भाग्यवश कुछ देश-द्रोही प्रदेशों और वर्गोंने अपने देशके इस व्यापक विक्षोभके प्रति विश्वासघात करके अँगरेज़ोंका साथ दिया और अपने ही भाइयोंको तोपके मुँहपर बाँधकर उड़ा दिया। परिणामतः अँगरेज़ी राज्य पूर्ण रूपसे जम गया और हमारे इस प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्धके पराजित वैभवपर महारानी विक्टोरियाका सिंहासन प्रतिष्ठित किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथसे राज्य-शासन निकलकर महारानी विक्टोरियाके हाथमें आ गया।

वुड-नीति-पत्र और नये नीति-पत्रमें अन्तर

नये राज्यमें सभी नीतियोंपर जब विचार होने लगा तो शिक्षानीति कैसे अछूती रह सकती थी। अतः सन् १८५९ में एक नवीन शिक्षा-विधान प्रस्तुत किया गया जिसमें मुख्यतः वुड-नीतिपत्रके सिद्धान्त दुहराकर स्वीकृत किए गए। अन्तर केवल इतना ही रहा कि १८५९ की योजनामें यह वक्तव्य जोड़ दिया गया कि 'भारतीय जनताने प्रारम्भिक

शिक्षाके संवर्द्धनमें सरकारको सहयोग नहीं दिया, यहाँतक कि जब प्रारम्भिक शिक्षाका प्रसार करनेवाले अधिकारियोंने सरकारी सहायतासे युक्त प्रारम्भिक पाठशालाओंकी स्थापनाके लिये स्थानीय जनतासे सहायता प्राप्त करनेका उद्योग किया तब लोग सशंक होकर शिक्षासे भड़कने लगे और इस प्रकार उन्होंने सरकारको बदनाम कर दिया। अतः भविष्यमें प्रारम्भिक शिक्षा-संचालनका कार्य भी सरकारका ही करेगी।' राष्ट्र-सचिव सेक्रेटरी ऑफ् स्टेट) ने इसके लिये एक प्रस्ताव उपस्थित किया कि इस प्रकारकी शिक्षाके प्रस्तारके लिये एक विशेष भूमि-कर लगा दिया जाय।

योजनाका विश्लेषण

सन् १८५७ की स्वातन्त्र्य-भावनाको कुचलनेके लिये अँगरेज़ोंने जिस प्रकारकी व्यापक नृशंसता दिखलाई उससे स्वातन्त्र्य-आन्दोलन भले ही ठंडा पड़ गया हो किन्तु जनताके हृदयमें अँगरेज़ोंकी किसी योजनाके प्रति कोई सहानुभूति शेष नहीं रह गई थी। सरकारका यह वक्तव्य भी नितान्त भ्रामक था कि जनताने प्रारम्भिक शिक्षाके लिये कोई सहयोग नहीं दिया। वास्तविक बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनीके धन-लोलुप अधिकारियोंने भारतीय जनताको चूसकर इतना निःसार कर दिया था कि सहायताके लिये उसके पास कुछ बच ही नहीं रहा था और फिर जिस ढंगसे सरकारी कर्मचारी सहायता लेने जाते थे वह इतना निन्दनीय था कि कोई भी उनके साथ सहयोग कर नहीं सकता था।

हंटर कमीशन

वुडके नीति-पत्रके पश्चात् अँगरेज़ी-शिक्षाकी गाड़ी अपने पूर्ण वेगसे चल पड़ी, इतने वेगसे कि जहाँ सन् १८५४ में पचास सहस्र विद्यालयोंमें ९२५००० छात्र थे वहाँ सन् १८८२ में ११६०४८ विद्यालयोंमें २७६०७८६ विद्यार्थी पढ़ने लगे। शिक्षाका यह वेग और जनतामें इसके प्रति अदम्य उत्साह देखकर यह विचार किया गया कि १८५४ के नीति-पत्रको पुनः आवश्यकतानुसार संशुद्ध कर लिया जाय और साथ-साथ पिछले तीस वर्षकी शिक्षण-गति-विधिका परीक्षण कर लिया जाय। फलतः सन् १८८२ ई० में सर विलियम हंटरकी अध्यक्षतामें एक शिक्षा-समीक्षा-मण्डल (एजुकेशन कमीशन) नियुक्त किया गया जिसके अन्य प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण सदस्य थे श्रीआनन्दमोहन बोस, जो पीछे इण्डियन नैशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) के अध्यक्ष चुने गए और जस्टिस के० टी० तैलंग (काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग) ।

समीक्षा-मंडलकी नियुक्ति

सन् १८८२ तक अँगरेज़ी शिक्षा इस वेगसे चलने लगी कि जन-शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) उसे सँभालनेमें अपनेको अशक्त पाने लगे। इसलिये भारतके प्रमुख मनीषियोंकी प्रेरणा-पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड रिपनने सन् १८८० में इंगलैण्डसे भारत आते समय यह वचन दिया कि 'मैं भारत पहुँचते ही भारतमें अँगरेज़ी शिक्षाके क्रमकी पूरी और गहरी जाँच कराऊँगा।' उस प्रतिज्ञाके परिणाम-स्वरूप उपर्युक्त शिक्षा-समीक्षा-मण्डलकी स्थापना की गई और उसे दो बातोंकी जाँचका भार सौंपा गया—

क. प्रारम्भिक शिक्षाके प्रसारका उपाय।

Grant-in-aid System

ख. आर्थिक सहायता-प्रणाली (ग्रैन्ट-इन-एड सिस्टम) का प्रसार।

प्रारंभिक शिक्षाके प्रसारकी बात

सरकारी तथा असरकारी मण्डलोंकी यह व्यापक सम्मति थी कि उच्च शिक्षामें जितनी प्रगति हुई है उतनी प्रारम्भिक शिक्षामें नहीं हुई। यद्यपि उच्च शिक्षाके इस विस्तारपर किसीको कोई आपत्ति नहीं थी किन्तु सबकी धारणा यह अवश्य थी कि शिक्षाके विभिन्न क्षेत्रोंकी प्रगति समान रूपसे होनी चाहिए। इसलिये इस मण्डलको यह विशेष भार दिया गया कि भारतमें तत्कालीन प्रारम्भिक शिक्षाकी अवस्थाका अध्ययन करके ऐसे उपाय सुझावें जिससे प्रारम्भिक शिक्षाका उचित रूपसे प्रसार और विकास किया जा सके। इस मण्डलने अपना जो आदेश-पत्र देश-भरमें भिजवाया था उसमें लिखा था—

"सरकारकी यह विशेष इच्छा है कि भारतीय सरकारकी सीमामें जितने सार्वजनिक विद्यालय हैं उन सबके प्रबन्धमें नगरपालिकाओंको विशेष तथा अतिशय भाग लेना चाहिए।"

व्यापक अधिकार

यद्यपि इस मण्डलका काम केवल इतना ही था कि वह प्रारम्भिक शिक्षाके प्रसारके संबंधमें अपने सुझाव दे तथापि उससे यह भी आशा की गई थी कि वह भारतके लिये सार्वजनिक शिक्षाकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली भी निर्दिष्ट करे। इसका कारण यह था कि १८५४ के नीति-पत्रमें निर्दिष्ट अनेक अभिसंधानोंका पालन उस समयतक नहीं किया जा सका था। उस नीतिमें स्पष्ट रूपसे यह सुझाया गया था कि सरकारकी ओरसे जो विद्यालय खोले जायँगे उनके सर्वाधिकार प्रबन्धका उत्तरदायित्व सरकार धीरे-धीरे हटाती रहेगी किन्तु सर्वाधिकार प्रबन्ध हटाना तो दूर रहा, उल्टे अनेक नये-नये विद्यालय सरकार खोलती रही। किन्तु जहाँ एक ओर सरकार नये-नये स्कूल खोल रही थी वहीं दूसरी ओर अनेक उदार महानुभाव भी जाति-धर्म-समाज या किसी स्निग्ध सम्बन्धीकी स्मृतिमें

नये-नये विद्यालय खोलते जा रहे थे। अतः यह भी विचार किया गया कि जब जनतामें स्वतः नये विद्यालय खोलनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है तब क्यों न सरकार उच्च शिक्षाके विद्यालयोंके संचालनका भार जनताके सिर सौंपकर अपनी शक्ति और अपना ध्यान प्रारम्भिक शिक्षाकी ओर प्रवृत्त करे। अतः इस मण्डलके लिये अन्य विचारणीय प्रश्नोंमें ये समस्याएँ भी दे दी गई—

क. विशेष वर्गोंकी शिक्षा।

ख. कन्या-शिक्षा।

ग. छात्र-वृत्तिका प्रश्न।

विश्वविद्यालयकी शिक्षा विचार-सीमासे बाहर

यह अत्यन्त विचित्र-सी बात है कि विश्वविद्यालय-शिक्षाकी समस्या इस मण्डलकी समीक्षा-सीमासे बाहर कर दी गई। वह क्यों बाहर की गई यह स्वतः एक समस्या है क्योंकि सन् १८५७ में जो परीक्षा लेनेवाले तीन विश्वविद्यालय खोले गये थे उनमें इतनी अधिक धाँधली फैली हुई थी कि चारों ओरसे उनपर अनेक प्रकारके अनाचारके दूषण लगाए जा रहे थे।

मंडलका विवरण

यह समीक्षा-मण्डल सन् १८८२ में कलकत्तेमें आ जुटा और इन लोगोंने अपनेको अनेक प्रान्तीय समितियोंमें विभक्त कर लिया। इस प्रकार विभिन्न प्रान्तीय समितियोंने महीनों अपने-अपने प्रान्तके विभिन्न स्थानोंमें जाकर लोगोंके वक्तव्य लिए और पुनः एकत्र होकर सन् १८८२ के दिसम्बर माससे सन् १८८३ के मार्चतक सब वक्तव्योंपर विचार करते रहे। इस विचारके फलस्वरूप इन्होंने दो सौ बाईस प्रस्ताव स्वीकृत किए और छः सौ पृष्ठोंसे अधिक एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इस विवरणमें उन्होंने केवल प्रारम्भिक शिक्षाका ही नहीं वरन् शिक्षाके सभी क्षेत्रों और अंगोंका पर्यवेक्षण करके उसपर अपनी इस प्रकार सम्मति दी—

भारतके स्वदेशी (इन्डिजिनस) शिक्षा-पद्धतिके सम्बन्धमें

पीछे बताया जा चुका है कि भारतमें व्यक्तिगत प्रयाससे और सरकारी प्रयाससे कुछ संस्कृत पाठशालाएँ और कुछ मदर्से चले आ रहे थे। इनके सम्बन्धमें इस समीक्षा-मण्डलने सुझाव दिया कि—

क. वे सभी देशी विद्यालय मान्य किए जायँ जिनमें भारतीय प्रणालियोंसे भारतीय भाषाएँ और विद्याएँ पढ़ाई जाती हैं और यदि वे उदार लौकिक शिक्षाका कार्य कर रहे हों तो उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय।

ख. ये विद्यालय नगरपालिकाओं तथा जनपद-मण्डलों (डिस्ट्रिक्ट बोर्डों) के द्वारा अधिकृत और प्रोत्साहित किए जायँ तथा उनके द्वारा इनकी व्यवस्थाकी देखभाल हो।

ग. उन्हें जो आर्थिक सहायता दी जाय वह स्थानीय नगर-पालिकाओं अथवा जनपद-मडलोंकी ही ओरसे दी जाय।

प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें

प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें मण्डलने कहा कि 'उच्च शिक्षाके सम्बन्धमें सरकारकी जो नीति है वह ठीक वैसी नहीं है जैसी प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें। प्रारम्भिक शिक्षाका प्रबन्ध सरकार स्वयं करेगी और इस प्रतीक्षामें नहीं बैठी रहेगी कि उसे स्थानीय सहायता मिले तभी वह चलाई जाय। किन्तु माध्यमिक शिक्षा तो केवल वहीं पर दी जा सकेगी जहाँ पर्याप्त स्थानीय सहयोग प्राप्त होनेकी सम्भावना होगी। अतः भविष्यमें अँगरेज़ीकी शिक्षाके लिये जो माध्यमिक विद्यालय खोले जायँगे वे सब अर्थ-सहायता-प्रणाली (ग्रैंट इन एड) के आधारपर ही खोले जा सकेंगे।' इस नीति-निर्धारणके पश्चात् मण्डलने प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें ये सुझाव दिए—

अ. प्रारम्भिक पाठशालाओंको परीक्षाके परिणामके आधारपर सहायता दी जाय।

आ. पाठशालाका भवन और परिवाप (फ़र्निचर) अत्यन्त सरल और सस्ता हो।

इ. प्रारम्भिक शिक्षाके विषयोंमें महाजनी गणित, बहीखाता, पटवारगिरी (खेतोंकी नाप-जोख), सरल विज्ञान, कृषि और व्यावसायिक कौशल भी बढ़ा दिए जायँ।

ई. ऐसे विद्यालयोंके लिये अध्यापक तैयार करनेके निमित्त साधारण शिक्षण-कला-विद्यालय (नौर्मल ट्रेनिंग स्कूल) खोल दिए जायँ।

उ. जो धन सरकारकी ओरसे प्रारम्भिक शिक्षाके लिये विभिन्न प्रान्तोंको दिया जाय उसका प्रथम प्रयोग प्रारम्भिक विद्यालयोंकी देख-रेख और शिक्षण-कला-विद्यालयोंके उचित संरक्षणके लिये किया जाय।

माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें

यद्यपि माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें विचार करना इस मण्डलकी अधिकार-सीमासे बाहर था फिर भी इन्हें विचार करनेका जो व्यापक क्षेत्र दिया गया था उसके अनुसार इन्होंने माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें ये सुझाव दिए—

क. हाई स्कूलकी ऊपरी कक्षाओंमें दो विभाग कर दिए जायँ— एक तो उन लोगोंके लिये जो प्रवेशिका (एन्ट्रेंस) परीक्षा उत्तीर्ण करके विश्वविद्यालयोंमें जाना चाहते हों और दूसरा, अधिक व्यावहारिक, वह विभाग हो जिसमें शिक्षा पाकर छात्र व्यावसायिक वृत्ति ग्रहण कर सकें।

ख. आर्थिक सहायता-प्राप्त विद्यालयोंकी स्थापनाको प्रोत्साहन देनेके लिये उन विद्यालयोंके प्रबन्धकोंको आदेश दिया जाय कि वे आसपासके गवर्नमेन्ट हाई स्कूलोंमें लिये जानेवाले शुल्कसे कम शुल्क लें जिससे अधिक छात्र राजकीय विद्यालयोंमें न जाकर उनके विद्यालयोंमें आवें।

ग. छात्रवृत्तिका क्रम ऐसा रक्खा जाय कि वे शिक्षाकालके विभिन्न

अवस्था-क्रमोंका सम्बन्ध बनाए रक्खें, जैसे प्रारम्भिक श्रेणीमें उत्तीर्ण छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह उसके सहारे मिडिलतक पढ़ता चले और मिडिलमें उत्तीर्ण छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह हाई स्कूलतक पढ़ता चला चले।

विद्यालय-स्थापनामें जनताका हाथ

शिक्षा-परीक्षाके प्रसंगमें ही इस मण्डलने उन सब परिस्थितियोंपर भी विचार किया जिनके प्रभावसे जनताकी ओरसे नये-नये विद्यालय खुलते चले जा रहे थे। सन् १८५४ के नीतिपत्रमें व्यक्तिगत प्रयासको प्रोत्साहन देनेके लिये जो नीति निर्धारित की गई थी उसका विभिन्न प्रान्तोंमें विभिन्न रूपसे प्रयोग किया गया। संयुक्त प्रान्त (वर्त्तमान उत्तर प्रदेश) और मद्रासमें १८७१ से १८८५ तक यह सामान्य प्रवृत्ति रही कि विभागीय व्यवस्थाके द्वारा ही अधिकसे अधिक उच्च शिक्षा दी गई और समुन्नत संस्थाओंके व्यक्तिगत प्रबन्धकोंको कम प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार उक्त प्रान्तोंमें १८५४ के नीतिपत्रके विरुद्ध ही काम किया गया। बम्बई, पंजाब, कुर्ग और हैदराबादमें भी व्यक्तिगत प्रयासके सम्बन्धमें १८५४ के नीतिपत्रकी यही अवहेलना हुई। किन्तु बंगाल, आसाम और मध्य-प्रान्तमें अर्थ-सहायता-प्रणाली (ग्रैन्ट-इन-एड) को प्रसारित करनेके लिये सुनिश्चित प्रयोग किए गए, यहाँतक कि बंगालमें अँगरेज़ी शिक्षा इतनी लोकप्रिय हुई कि वहाँकी जनता, सबकी शिक्षाके लिये साधन एकत्र करना ही सर्वाधिक उपादेय कार्य समझने लगी। इन सब परिणामोंका अध्ययन करके मण्डलने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि लोक-प्रयासको अधिक सफल बनानेमें उचित प्रगति नहीं हुई तो अधिक विगति भी नहीं हुई। अतः इस नीतिको अधिक प्रभावशील तथा सुस्थिर बनानेके लिये मण्डलने जो बहुतसे सुझाव दिए उनमेंसे मुख्य ये हैं—

१. लोक-संस्थाओंके प्रबन्धकोंसे साधारण शिक्षा-विषयोंपर परामर्श

लिया जाया करे और उन विद्यालयोंके छात्रोंको भी सरकारी विद्यालयोंके विद्यार्थियोंके समान प्रतियोगिता-परीक्षाओं, छात्र-वृत्तियों तथा अन्य सार्वजनिक पदोंकी सुविधा दी जाय।

२. उन विद्यालयोंकी शिक्षा-प्रवृत्तिकी स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा न दी जाय और इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि सार्वजनिक परीक्षाओंके कारण उन विद्यालयोंके ऊपर उन परीक्षाओंकी पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्यक्रम न लाद दिए जायँ।

३. आर्थिक सहायताके नियमोंका सुधार करके, वे नियम सब देशी भाषाओंमें तथा सब समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित किए जायँ और लोकसंस्थाओंके प्रबन्धकों तथा अन्य ऐसे लोगोंको भी भेजे जायँ जो शिक्षाके प्रसारमें सहायता कर सकें।

४. सरकारी विभाग-द्वारा व्यवस्थित माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयोंमें सहायता-प्राप्त विद्यालयोंसे अधिक शुल्क लिया जाय।

५. जहाँ-जहाँ अच्छे लोकविद्यालय खुलते रहें वहाँ-वहाँसे विभागीय सरकारी विद्यालय हटाए जाते रहें।

६. कन्या-शिक्षाके लिये अधिक सहायता दी जाय और जिन कन्या-विद्यालयोंके प्रबन्धक इस कार्यमें अधिक रुचि प्रदर्शित करें उन्हें उदारतापूर्वक प्रोत्साहित किया जाय। जहाँ इस प्रकारका लोक-सहयोग न प्राप्त हो वहाँ विभागकी ओरसे या स्थानीय नगर-पालिकाकी ओरसे विद्यालय खोले जायँ।

७. सहायता-प्राप्त संस्थाओंके विस्तारके लिये प्रत्येक प्रान्तकी शिक्षाके निमित्त दिए जानेवाले द्रव्यमें निरन्तर समय-समयपर अभिवृद्धि की जाती रहे।

८. समीपमें गवर्नमेन्ट स्कूल होनेके कारण किसी लोक-संस्थाको सरकारी आर्थिक सहायता पानेमें बाधा न दी जाय।

९. सरकारी विभाग-द्वारा संचालित संस्थाओंको अत्यन्त उच्च

श्रेणीकी बनाए रखते हुए भी लोक-संचालित संस्थाओंका विकास और विस्तार करना ही शिक्षा-विभागका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

सरकारकी नीति

शिक्षाके सम्बन्धमें सरकारी नीतिका स्पष्टीकरण करते हुए मंडलने कहा कि 'सरकारने स्वयं शिक्षाका महत्त्व स्वीकार कर लिया है क्योंकि सरकारी कार्योंमें सहायता प्राप्त करने, अपनी शक्ति सुदृढ़ बनाए रखने और अपने व्यावसायिक स्वत्वोंके विस्तारके लिये भी सरकारको अच्छे पढ़े-लिखे योग्य व्यक्तियोंकी आवश्यकता है, इसलिये शिक्षा-प्रसारके कार्यको सरकार अपना कर्त्तव्य समझती है।'

किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे पादरी लोग भी थे जो मानवीय भावनाओंके परिष्कारके लिये और शिक्षाके लिये ही शिक्षा चाहते थे।

लोक-प्रयासके सम्बन्धमें मण्डलके सुझाव स्वीकृत

सन् १८८४ के अक्तूबर मासमें भारतकी ब्रिटिश सरकारने मण्डलके प्रस्तावोंको स्वीकृत करते हुए यह घोषणा की—

'शिक्षा-समीक्षण-मण्डलने शिक्षाकी सम्भावनाओंका पर्यवेक्षण करके यह अत्यन्त सुविचारित प्रस्ताव किया है कि धीरे-धीरे उन स्थानोंसे सरकार अपने उच्च विद्यालय हटा ले जहाँ श्रेष्ठ लोक-संस्थाएँ विद्यमान हैं। भारत सरकार यह नहीं चाहती है कि उच्च शिक्षाको निरुत्साहित किया जाय वरन् वह सरकारका यह प्रमुख कर्त्तव्य समझती है कि उच्च शिक्षाका विस्तार और पोषण किया जाय। किन्तु सरकार अपने परिमित कोषको विशेष रूपसे दृष्टिमें रखते हुए लोकशिक्षाके विभिन्न अंगोंसे सम्बद्ध लोक-शक्तियोंसे यह आशा करती है कि वे शिक्षाके प्रसारमें सहयोग दें। इसलिये उच्च शिक्षाके सम्बन्धमें सरकार समझती है कि आत्मावलम्बन ही उच्च शिक्षाके विकासका सर्वश्रेष्ठ आधार हो सकता है।'

विश्लेषण

यद्यपि शिक्षा-समीक्षण-मण्डलने बहुतसे सुझाव दिए और सरकारने

उनमेंसे बहुतोंको मान्य भी किया किन्तु अच्छे उच्च श्रेणीके विद्यालय खुल जानेपर भी वहाँसे सरकारी विद्यालय नहीं हटाए गए। मण्डलने प्रारम्भिक पाठशालाओंके लिये जो सुझाव दिए उनमें मनुष्य बननेकी अपेक्षा परीक्षामें उत्तीर्ण होनेको अधिक महत्त्व दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भिक पाठशालाओंके अध्यापकगण डण्डोंकी मारसे परीक्षा पास करानेमें जुट गए। शिक्षा गौण हो गई और परीक्षा मुख्य। यदि परीक्षापर इतना बल न दिया जाता तो सम्भवतः प्रारम्भिक विद्यालय अधिक लाभकर सिद्ध होते। इन सुझावोंमें एक बड़ा दोष यह आया कि नगरपालिकाओं और जनपद-मण्डलोंके हाथमें पहुँचकर ये प्रारम्भिक पाठशालाएँ स्थानीय राजनीतिक कुचक्रोंकी केन्द्र बन गईं और इनके अध्यापक इतनी दयनीय अवस्थामें पहुँच गए कि उनका अधिक समय निरीक्षकों तथा जनपद-मंडलके अधिकारियों और सदस्योंकी कृपा-याचनामें ही व्यतीत होने लगा। इससे अध्यापकोंका मान तो कम हुआ ही, उनका नैतिक पतन भी हो गया। मुख्य बात तो यह हुई कि समीक्षण-मण्डलने महाजनी-गणित, कृषि तथा व्यावसायिक कला आदि विषयोंके अंगीकरणका जो सुझाव रक्खा था उसे सरकारने नहीं माना क्योंकि निश्चित रूपसे उस समयकी ब्रिटिश सरकार, भारतीयोंको कोई ऐसी शिक्षा नहीं देना चाहती थी जिससे वे स्वावलम्बी हो सकें। परिणाम यह हुआ कि १८८२ के शिक्षा-समीक्षण-मण्डलके मुख्य, आवश्यक तथा उपादेय प्रस्ताव रद्दीकी टोकरीमें पड़े सड़ते रहे।

१२

शिक्षामें सरकारका हस्तक्षेप

सन् १८८२ की सरकारी नीतिके अनुसार ढला हुआ शिक्षाक्रम लगभग बीस वर्षोंतक चलता रहा। तदनन्तर सन् १९०४ में भारत-सरकारने राज्य तथा लोक-प्रयासोंका सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए एक सार्वजनिक घोषणा की। संयोगसे उस समयतक योरोपमें जनताकी ओरसे शिक्षाके सम्बन्धमें जो निजी उद्योग किए गये थे उनकी ओरसे जनताकी श्रद्धा हट चली थी क्योंकि माध्यमिक शिक्षाके लिये जितने निजी प्रयास हुए वे सब असफल और अपूर्ण रहे। अतः १९०४ में भारतीय शिक्षा-नीतिकी घोषणा करते हुए जो सरकारी वक्तव्य दिया गया उसमें कहा यही गया कि पश्चिमके अनुभवोंका लाभ उठाकर ही सरकारने यह घोषणा की है।

सरकारी घोषणा

"पिछले प्रस्तावोंकी नीति स्वीकार करते हुए भारतीय सरकारने इस सिद्धान्तका भी अत्यन्त महत्त्व समझा कि शिक्षाकी प्रत्येक शाखामें सरकारको अपनी ओरसे कुछ परिमित संख्यामें ऐसी संस्थाएँ चलाते रहना चाहिए जो निजी लोक-संस्थाओंके लिये आदर्श भी हों और जो शिक्षाका उच्च मान भी बनाए रख सकें। संस्थाओंपरसे सीधा प्रबन्धाधिकार हटाते हुए भी सरकार यह आवश्यक समझती है कि वह अधिकाधिक निरीक्षणके द्वारा सभी सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओंपर व्यापक नियन्त्रण बनाए रक्खे।"

शिक्षा-नीति या कुचक्र

यद्यपि कहा तो यह गया कि निजी लोक-संस्थाओंकी असमर्थताके कारण यह नीति निर्धारित की गई किन्तु उसके पीछे शिक्षासंस्थाओंको हस्तगत करके भारतीयोंकी दास-शृंखला सुदृढ़ करनेका भयानक कुचक्र

काम कर रहा था। जिस वर्ष 'हण्टर कमीशन' बैठा था, लगभग उसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने भी जन्म लिया और यद्यपि प्रारम्भमें राष्ट्रीय महासभाके प्रमुख तथा तेजस्वी कर्णधार लोग निरन्तर महारानी विक्टोरियाके घोषणापत्रकी दुहाई दे-देकर वैधानिक अधिकार ही माँगते रहे किन्तु बंग-भंगकी सरकारी नीतिने भारतको सामान्यतः और बंगालको विशेषतः इतना क्षुब्ध कर दिया कि बंगाल-विभाजनका प्रश्न लेकर बंगालमें प्रलयंकर राजनीतिक विस्फोट हुआ। सरकार यह समझती थी कि विद्यालयोंमें पढ़नेवाले युवकोंको जो स्वतंत्र छोड़ दिया गया है उसीका यह दुष्परिणाम है। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि सम्पूर्ण शिक्षा-नीतिको ही अपने अधिकारमें इस प्रकार ले लिया जाय कि पाठ्य-विषय, पाठ्यक्रम तथा निरीक्षण आदिके द्वारा सब विद्यालय मुट्ठीमें आ जायँ।

माध्यमिक शिक्षाके लिये नवीन जागर्त्ति

सन् १९०४ से १९१३ तक इङ्गलैण्डमें माध्यमिक शिक्षाको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और जनताकी यह पुकार हुई कि राज्यका काम है माध्यमिक शिक्षाको प्रोत्साहन देना और उसकी अभ्युन्नति करना। मध्यम श्रेणीके लोग चाहते थे कि ऐसी श्रेष्ठतम शिक्षा देनेवाली लोक-संस्थाएँ खोल दी जायँ जहाँ थोड़े शुल्कसे उनके बच्चोंको अच्छी शिक्षा मिल सके। इस कार्यमें विज्ञान सबसे बड़ा रोड़ा था क्योंकि वैज्ञानिक यंत्रों तथा इतिहास-भूगोलके शिक्षणके लिये नवीनतम उपादानोंका मूल्य इतना अधिक था कि सामान्य लोक-संस्थाएँ उतना व्यय-भार सँभाल नहीं सकती थीं। भारतीय जनता भी इस वेगसे अँगरेज़ी शिक्षाकी ओर उन्मुख हुई कि हमारे यहाँ भी नगरोंमें रहनेवाले लोग अपने बालकोंको अँगरेज़ी पढ़ाना आवश्यक समझने लगे। परिणाम-स्वरूप भारतकी ब्रिटिश सरकारने सन् १९१३ की फरवरीमें भारतीय शिक्षा-नीतिके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव घोषित किया—

सन् १९१३ की भारतीय शिक्षा-नीति

'सरकारकी यह नीति है कि माध्यमिक शिक्षा यथासम्भव लोक-प्रयासोंपर ही आश्रित रहे। भारत सरकार अपनी इस नीतिपर दृढ़ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सरकार लोक-संस्थाओंके प्रबन्धको राज्यशासित शिक्षण-संस्थाओंसे अच्छा समझती है वरन् जो परिपाटी चला दी गई है उसका वह इसलिये पालन करना चाहती है कि वह राज्यकी समस्त शक्तियों और सम्पूर्ण प्राप्य साधनोंको प्रारम्भिक शिक्षाके विकास और विस्तारके लिये ही केन्द्रित कर सके।'

इसे हम संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि उपयुक्त प्रबन्ध-समितियों-द्वारा संचालित ऐसी लोक संस्थाओंको सरकार प्रोत्साहन देना चाहती थी जो सरकारी निरीक्षण-द्वारा और सरकारी सहायता-द्वारा उपयुक्त रीतिसे चलाई जायँ।

स्थानीय सुविधाओंका विचार

विभिन्न स्थानोंकी विशिष्ट आवश्यकताओं, दशाओं तथा अवस्थाओंकी दृष्टिसे भारत सरकारने माध्यमिक विद्यालयोंके सम्बन्धमें यह नीति अपनाई कि—

क. बी. ए. उत्तीर्ण या शिक्षा-शास्त्र-सम्पन्न (ट्रेण्ड) अध्यापकको वर्त्तमान सरकारी स्कूलोंमें नियुक्त करके तथा विज्ञान, इतिहास, भूगोल और हस्त-कौशलके नवीन शिक्षा-साधन प्रस्तुत करके वर्त्तमान सरकारी स्कूलोंकी दशा सुधारी जाय।

ख. सहायता-प्राप्त लोक-संस्थाओंकी आर्थिक सहायता इतनी बढ़ा दी जाय कि वे सरकारी विद्यालयोंके साथ-साथ चल सकें और जहाँ आवश्यक हो वहाँ नई सहायता-प्राप्त संस्थाएँ स्थापित कर दी जायँ।

ग. शिक्षा-शास्त्र-विद्यालयों (ट्रेनिंग कालेजों) की संख्या बढ़ाकर उनका उन्नयन इस प्रकार किया जाय जिससे सरकारी तथा लोक-संचालित विद्यालयोंको शिक्षा-शास्त्रज्ञ (ट्रेण्ड) अध्यापक मिल सकें।

घ. आर्थिक सहायताके नियम इतने ढीले कर दिए जायँ कि यथासम्भव प्रत्येक विद्यालय सहायता पा जाय।

यद्यपि सरकारने यह नीति निर्धारित तो कर दी किन्तु यह नहीं समझा कि भिक्षा माँगनेवालोंकी संख्या उनकी शक्तिसे बाहर बढ़ जायगी। साथ ही, नवीन पद्धतिके नामसे शिक्षा इतनी महँगी और यन्त्रवत् कर दी गई कि साधारण विद्यालयोंके लिये उसका पार पाना असम्भव हो गया।

शिक्षापर अधिकार करनेके कारण

ऊपर बताया जा चुका है कि शिक्षाको स्वनियंत्रित करनेकी नीतिका कारण पूर्णतः राजनीतिक था किन्तु ब्रिटिश सरकार अपनी दुर्बलताको व्यक्त करना अपने सम्मानके विरुद्ध समझती थी इसलिये उसने शिक्षाको हस्तगत करनेके कुछ आडम्बरपूर्ण तर्क उपस्थित किए और कहा—

१. मानव-जीवन अत्यन्त व्यस्त हो गया है और वर्तमान जीवनक्षेत्र तथा वैज्ञानिक व्यवसायमें प्रवेश पानेके लिये यह आवश्यक है कि माध्यमिक विद्यालयोंमें अनेक प्रकारके पाठ्य विषय अन्तर्भुक्त कर लिए जायँ। इन विषयोंको पढ़ानेके लिये स्थायी धनकी आवश्यकता भी होगी जिसका भार सरकार ही उठा सकती है, लोक संस्थाएँ नहीं।

२. सब विद्यालयोंमें शिक्षाशास्त्रज्ञ योग्य अध्यापकोंकी माँग बढ़ती जा रही है और यह माँग तबतक पुरी नहीं होगी जबतक अध्यापकोंको किसी प्रकारका आर्थिक प्रलोभन न हो। उस प्रलोभनकी पूर्ति भी सरकार ही कर सकती है।

३. स्वास्थ्य-विज्ञानके अध्ययनने यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्यालयका जीवन अधिक स्वस्थ वातावरणमें चलना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि शारीरिक शिक्षाके लिये पर्याप्त व्यवस्था हो। इसके लिये भी अधिक धन चाहिए और यह भार भी सरकार ही ले सकती है।

४. स्वल्प आयके मध्यम श्रेणीके लोग कम शुल्क देकर अपने बच्चोंको श्रेष्ठतम शिक्षा दिलाना चाहते हैं। यह भी तबतक सम्भव नहीं है जबतक सरकार स्वयं यह भार अपने सिरपर न ले ले।

५. अतः यह आवश्यक समझा जाता है कि विद्यालयोंकी परीक्षा-प्रणालीका आद्यन्त सुधार किया जाय और यह सुधार तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि निरीक्षणका भार सरकार अपने ऊपर न ले ले।

इन कारणोंसे अब माध्यमिक शिक्षा निजी प्रयासोंके हाथसे मुक्त करके सरकारी हाथमें ले ली जाती है।"

शिक्षामें सरकारी हस्तक्षेप

भारतीय शिक्षामें इस प्रकारका सरकारी हस्तक्षेप भारतके लिये और भारतीय विद्यालयोंके लिये भयंकर कुठाराघात सिद्ध हुआ। यह दूसरी बात है कि सरकार अपने राज्यमें स्थित विद्यालयोंके व्यवस्थित विकासके लिये सजग और सचेष्ट रहे किन्तु यह अत्यन्त चिन्ताकी बात है कि पाठ्यक्रम-निर्धारणसे लेकर परीक्षा लेनेतकका कार्य सरकार अपने हाथमें ले ले और देश भरके विभिन्न समाजों और शिक्षा-शास्त्रियोंको विचार-पंगु बना दे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित होना चाहिए और सरकारको भी यह सावधान होकर देखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित होनेकी सुविधा प्राप्त होती है या नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सरकार सम्पूर्ण शिक्षा-नीति अपने हाथमें लेकर जनताको अपने डंडेसे हाँकती चले। आजकी शिक्षामें अध्यापककी निष्क्रियता और उदासीनताका सबसे बड़ा कारण यही है कि उसे स्वयं विचार करनेकी, स्वयं पाठ्य विषय निर्धारण करनेकी किसी प्रकारकी कोई स्वतंत्रता नहीं है। नये-नये शिक्षा-मंत्री, नये-नये शिक्षा-सञ्चालक आए-दिन बदलते रहते हैं जिनकी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओंमें भी प्रायः सन्देह ही बना

रहता है। केवल अपनी सनक सन्तुष्ट करनेके लिये नई-नई नीति निर्धारित करते हैं, जो पालन तो कम की जाती है किन्तु अव्यवस्था अधिक उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त नीतितः भी राजनीतिज्ञोंके हाथमें शिक्षा-कार्य देना अत्यन्त भयंकर है क्योंकि वे अपनी-अपनी नीतिसे अपने दलकी विचार-परम्पराको पुष्ट करनेके लिये शिक्षा-योजना बनाते हैं। शिक्षा तो स्वतंत्र और उदार होनी चाहिए जिसमें अध्ययन सबका हो, प्रतिबन्ध किसीपर न हो किन्तु जिसमें विवेक इतना प्रौढ़ कर दिया जाय कि शिक्षित युवक, जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें स्वयं अपनी नीति निर्धारित कर सकें। विभिन्न देशोंकी शिक्षाका इतिहास अध्ययन करनेपर यही उचित जान पड़ता है कि देशके विचक्षण शिक्षा-शास्त्रियों और विभिन्न शास्त्रोंके विद्वानोंको अपने-अपने विद्यालय खोलने और चलानेकी सुविधा दी जाय और जनताको यह छूट दी जाय कि वे उनमेंसे जिस विद्यालयमें चाहें उसमें अपने बच्चोंको भर्ती करावें, तभी शिक्षाका वास्तविक उद्धार हो सकता है। शिक्षा-सम्बन्धी राज्य-नियंत्रणकी इस बिभीषिकासे त्रस्त होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय समीक्षक-मण्डल (कैलकटा यूनिवर्सिटी कमीशन) ने राज्य-नियंत्रण और लोक-प्रयासका मध्यम मार्ग स्थिर करते हुए 'हाई स्कूल और इन्टरमीजियट-शिक्षाका प्रबन्ध-मण्डल' (बोर्ड ऑफ़ हाई स्कूल ऐण्ड इन्टरमीजियट एजुकेशन) बनानेकी सम्मति दी थी।

विश्वविद्यालयोंका विकास

कलकत्ता विश्वविद्यालयके शिक्षण-क्रम तथा वहाँकी व्यवस्थाका समीक्षण करनेके लिये सन् १९१७ में जो मण्डल (कमीशन) बैठा उसका विवरण जाननेसे पहले विश्वविद्यालय-शिक्षाकी प्रगतिका विवेचन कर लेना आवश्यक है।

विश्वविद्यालयोंकी स्थापना

पीछे बताया जा चुका है कि कलकत्तेकी शिक्षा-समिति (कैलकटा कौंसिल औफ़ एजुकेशन) ने सन् १८४५ में सर्वप्रथम भारतमें विश्वविद्यालय स्थापित करनेका प्रस्ताव किया था। किन्तु वह प्रस्ताव उस समय इँगलैण्डमें स्वीकृत नहीं हो पाया और १८५४ तक उसके विषयमें कुछ ज्ञात भी नहीं हो पाया। उसका स्पष्ट कारण यह था कि डलहौज़ीने जो अनेक प्रकारकी कुनीतियाँ चलाईं उनसे लोग इतने उद्विग्न हो उठे कि अन्तमें सन् १८५७ में भारतीयोंको अपने कन्धेसे विदेशी जुआ उतार फेंकनेको विवश होना पड़ा। सन् १८५४ में जब विश्वविद्यालय स्थापित करनेके लिये पार्लियामेण्टने स्वीकृति दे दी तो १८५४ के 'वुडके नीतिपत्र' में भी विशेष रूपसे उसका उल्लेख किया गया और तदनुसार विद्रोहके ज्वालामुखीके मुँहपर कलकत्ता, बम्बई और मद्रासके तीन प्रान्त-नगरोंमें सन् १८५७ में लन्दन विश्वविद्यालयके आदर्शपर तीन विश्वविद्यालय खोले गए। ये विश्वविद्यालय परीक्षाओंमें सम्मिलित होनेवाले परीक्षार्थियोंकी परीक्षा-भर लेते थे और परीक्षार्थी तैयार करनेवाले विद्यालयोंको सम्बद्ध करते थे अर्थात् ये परीक्षाकारी और सम्बन्धकारी विश्वविद्यालय थे।

विश्वविद्यालयोंके प्रकार

जितने विश्वविद्यालय आजकल पाए जाते हैं, वे तीन प्रकारके हैं—

१. परीक्षाकारी और सम्बन्धकारी (ऐग्ज़ामिनिंग ऐंड ऐफ़िलिएटिंग): जो परीक्षा ले और परीक्षार्थी तैयार करनेवाले विद्यालयोंको सम्बद्ध करे।

२. संघ-विश्वविद्यालय (फ़ीडरल युनिवर्सिटी : जो परीक्षा भी लेता हो, सम्बद्ध भी करता हो, शिक्षा भी देता हो एवं जिसके विभिन्न अंगभूत विद्यालय, अन्तर्विद्यालय शिक्षा-प्रणालीसे शिक्षण-कार्यमें सहयोग देते हों। इस प्रकारके संघ-विश्वविद्यालयोंसे सम्बद्ध प्रत्येक विद्यालय साक्षी या साथी समझा जाता है और उसके प्रतिनिधि विश्वविद्यालयके व्यवस्था-मण्डलोंके सदस्य रहते हैं। इन सम्बद्ध विद्यालयोंको अपना पाठ्यक्रम बनाने और अपना शिक्षणक्रम व्यवस्थित करनेकी पूरी स्वाधीनता रहती है।

३. सावास विश्वविद्यालय (रेज़िडेन्शल या यूनिटरी टीचिंग यूनिवर्सिटी)। सावास विश्वविद्यालयसे कोई भी विद्यालय सम्बद्ध नहीं होता। उसमें पढ़ाईकी व्यवस्थाके लिये विभिन्न विषयोंके विभिन्न विभाग होते हैं। पीछे चलकर कुछ सावास विश्वविद्यालयोंसे नीतितः कुछ विद्यालय सम्बद्ध कर दिए गए किन्तु उनकी मूल प्रकृति सावास विश्वविद्यालयकी ही बनी रही। इन सभी सावास विश्वविद्यालयोंमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सबसे भिन्न रहा जिसमें विभाग भी रहे, अपने विद्यालय भी रहे और प्रारम्भिक शिक्षासे लेकर उच्चतम शिक्षाका विधान भी बना रहा।

भारत सरकारको इनमेंसे पहले प्रकारका अर्थात् परीक्षाकारी (एग्ज़ामिनिंग) विश्वविद्यालय स्थापित करना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ क्योंकि बिना हर्रे-फिटकरी लगाए चोखा रंग लाना अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं था। सन् १८५७ से लेकर आजतक इस प्रकारके विश्वविद्यालय भारतकी उच्च शिक्षाके शिक्षा-विकासमें जहाँ महत्त्वपूर्ण

भाग लेते रहे वहाँ इन विश्वविद्यालयोंमें होनेवाले भ्रष्टाचारोंका परिणाम भी इतना बढ़ा कि चारों ओरसे उनकी तीव्र आलोचना होने लगी।

परीक्षाकारी विश्वविद्यालयोंकी आलोचना

इन विश्वविद्यालयोंके प्रमुख दोष ये थे कि—

१. यह ऐसे लोगोंका संघ था जो परीक्षाओंके लिये पाठ्यक्रम निश्चित करते थे। परिणाम यह हुआ कि इनमें परीक्षाओंके लिये ही विद्यार्थी तैयार किए जाने लगे; अध्यापकका व्यक्तित्व, महत्त्व और स्वातंत्र्य समाप्त हो गया, परीक्षार्थियोंसे गहरा शुल्क ले-लेकर परीक्षोत्तीर्ण करानेवालोंकी दुकानें खुल गईं जो नियत शुल्क दे-देनेपर परीक्षार्थीके बदले भाड़ेके टट्टूको परीक्षामें बैठाकर घर बैठे प्रमाणपत्र ला देते थे। जो लोग इस निम्नतातक नहीं उतर सकते थे वे सम्भावित प्रश्नपत्र और उनके उत्तर, संक्षिप्त सूत्र (नोट्स) या पुस्तकोंकी कुंजियाँ छापकर विद्यार्थियोंको परीक्षामें उत्तीर्ण करानेके लिये सरल मार्ग बना रहे थे। इस प्रकार उच्च शिक्षाके बदले हीन शिक्षाका अकाण्ड ताण्डव हो रहा था।

२. विश्वविद्यालय तो विश्वकी विद्याओंका केन्द्र होना चाहिए, जहाँ विभिन्न शास्त्रों और विद्याओंके विद्वान् सहयोगिताके भावसे प्रेरित होकर मानव-समाजको सुशिक्षित करनेके उद्देश्यसे तथा ज्ञान-प्रस्तारकी भावनासे ब्रह्मदान (विद्यादान) करते हों। ये विश्वविद्यालय विद्वानोंके संघ न होकर शासकोंके संघ और ज्ञान बेचनेवाले बनियोंकी दुकानें थीं। महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें ऐसे लोगोंकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'तं ज्ञान-पण्यं वणिजं वदन्ति'

३. इन विश्वविद्यालयोंने अनेक विद्यालयोंको सम्बद्ध तो किया किन्तु न तो उनके बौद्धिक साधनोंको समृद्ध करनेका कोई प्रयत्न किया और न अध्यापकों तथा छात्रोंमें स्वतंत्र समीक्षा तथा स्वतन्त्र विचारकी

भावनाको प्रदीप्त करनेका उद्योग किया। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सन् १८५७ के उस प्रलयंकर वर्षमें इससे अधिक कुछ करना संभव भी नहीं था क्योंकि उन दिनोंकी राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितिमें ब्रिटिश सरकार कोई ऐसा भार नहीं लेना चाहती थी जो उसकी वहन-सीमासे परे हो।

नये स्नातक

इस नई विश्वविद्यालय-प्रणालीसे एक लाभ यह भी हुआ कि राजकीय सेवाके लिये अच्छे, योग्य युवक चुननेके सरल साधन प्राप्त हो गए। नवयुवकोंमें पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करनेका उत्साह जागरित हो गया। सन् १८८२ तक इन सम्बन्धकारी विश्वविद्यालयोंमें पाश्चात्य शिक्षा पूर्ण वेगवती हो चुकी थी; यहाँतक कि समाजमें भी लोग अपनी कन्याओंके लिये विश्वविद्यालयोंके स्नातकों (ग्रेजुएट) को ही अधिक योग्य वर समझने लगे थे।

परीक्षाकारी विश्वविद्यालय-प्रणालीका परिणाम

सन् १८८२ की शिक्षा-समीक्षण-मण्डलकी नीतिके परिणाम-स्वरूप इतने निजी लोक-विद्यालय खुल गए कि १९ वीं शताब्दिके ढलनेतक उनमेंसे अधिकांशका शिक्षण-मान बहुत नीचे गिर गया और यह समझा जाने लगा कि यह सम्बन्धकारी और परीक्षाकारी प्रणाली अब लड़खड़ाकर गिर पड़ेगी। इसके निम्नलिखित कारण अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत हो रहे थे—

१. विश्वविद्यालयोंकी प्रबन्ध-समितियाँ अपने कार्यके लिये अधिक अनुपयुक्त सिद्ध हो रही थीं क्योंकि सीनेटकी सदस्य-संख्या हनुमानजीकी पूँछके समान अपरिमित गतिसे बढ़ती चली जा रही थी और यह सदस्यता भी आजीवन होती थी। उन सदस्योंमें भी अधिकतर या तो व्यस्त सरकारी कर्मचारी होते थे या अत्यन्त व्यस्त व्यावसायिक लोग। विश्वविद्यालयका प्रमुख काम करनेवाले बेचारे प्राध्यापकोंकी कोई

सुनवाई नहीं थी यहाँतक कि कुछ विद्यालयोंको तो कभी प्रतिनिधित्व ही नहीं मिला।

२. सम्बद्ध विद्यालयोंकी पढ़ाई भी तेरह-बाईस ही थी क्योंकि उनमें न तो शिक्षाका ही कोई निश्चित मानदण्ड था, न अध्यापकोंकी ही योग्यतापर कोई प्रतिबन्ध था और न शिक्षाके साधनोंका ही कोई निश्चित विधान था, इसलिये बहुतसे विद्यालय तो परीक्षाकी दूकान खोलकर पैसा कमानेका अड्डा बनाकर बैठ गए।

३. विद्याके प्रसार या उत्तम शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये कुछ नहीं किया गया। प्रारम्भसे ही जो ढर्रा चला उसे ही 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' मानकर लोग चलाते रहे। विश्वविद्यालयकी प्रबन्ध-समितियोंके सदस्योंको इतना अवकाश कहाँ था कि वे शिक्षाकी भूमिकापर विस्तृत विचार करें।

इन सब परिस्थितियोंने यह स्पष्ट कर दिया कि विश्वविद्यालय-प्रणालीका आद्यन्त परिष्कार होना चाहिए और इसीलिये सन् १९०२ के विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डल (यूनिवर्सिटी कमीशन) की स्थापना की गई।

सन् १९०२ का विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डल

उपर्युक्त परिस्थितियोंके अतिरिक्त एक और घटना भी इसी बीच घटी जिसने विश्वविद्यालयकी नीतिका सुधार करनेके मतको अधिक बल दिया। उन्हीं दिनों भारतीय विश्वविद्यालयोंके आदर्श लन्दन-विश्वविद्यालयके भी पुनः संघटनकी बात सोची जाने लगी थी अतः भारतीय विश्वविद्यालयोंके रूप-निर्माणकी चिन्ता करना स्वभावतः आवश्यक हो गया। फलतः श्री टी. रैलेकी अध्यक्षतामें विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया गया जिसके अन्य प्रमुख सदस्योंमें सर गुरुदास बनर्जी और नवाब सैयद हुसेन बिलग्रामी भी थे।

इस मण्डलने पाँच सुझाव दिए—

क. विश्वविद्यालयोंकी व्यवस्था-पद्धतिका पुनः संघटन किया जाय।

ख. विश्वविद्यालयों-द्वारा सम्बद्ध विद्यालयोंका अत्यन्त कठोर और नियमित निरीक्षण किया जाय और सम्बद्धताके अभिसंधानोंका अत्यन्त कड़ाईके साथ पालन कराया जाय।

ग. छात्रोंके निवास और अध्ययनकी परिस्थितियोंपर अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान दिया जाय।

घ. निश्चित सीमातक विश्वविद्यालयोंमें शिक्षणका कार्य किया जाय।

ङ. परीक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रममें महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किए जायँ।

सन् १९०४ में जब विश्वविद्यालय-विधान (यूनिवर्सिटी ऐक्ट) बना तब इन उपर्युक्त सुझावोंमेंसे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ तो उसमें सम्मिलित कर लिए गए और शेष तृतीय तथा पंचम सुझाव विस्तृत नियमोंमें डालनेके लिये छोड़ दिए गए।

विश्वविद्यालयोंकी शासन-व्यवस्था

सन् १९०४ के विश्वविद्यालय-विधानके अनुसार सभी विश्वविद्यालयोंके शासन-स्वरूपोंमें परिवर्त्तन हो गया और निम्नलिखित व्यवस्था कर दी गई—

१. सीनेट या महासभा, विश्वविद्यालय-व्यवस्थाकी सबसे ऊँची शासन-सभा थी जिसके सब सदस्य पहले जीवन-भरके लिये चान्सलर-द्वारा मनोनीत किए जाते थे और प्रायः प्रान्तपति ही चान्सलर होते थे। इस महासभामें अध्यापकोंका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था और इसीलिये लोग इन विश्वविद्यालयोंका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये करने लगे थे। किन्तु इस नये विधानके द्वारा प्राचीन सदस्योंकी संख्या कम कर दी गई और प्राध्यापकोंको भी प्रतिनिधित्व दिया गया।

२. पहले सब सम्बद्ध विद्यालयोंको सभी विषय पढ़ानेकी छूट थी

ख. विभिन्न विद्यालयोंमें पढ़ाए जानेवाले विषयोंके आवश्यक सहयोगके सम्बन्धमें, जिससे निरर्थक व्यय कम होता और उनकी श्रेष्ठता बढ़ती।

ग. यह सिद्धान्त मान लेनेपर भी कि विश्वविद्यालयको शिक्षा-संघ बना देना चाहिए, यह मण्डल यही मानता रहा कि हमें बी. ए. की कक्षासे नीचेकी शिक्षामें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सच पूछिए तो इन विद्यालयोंमें शिक्षाकी व्यवस्था हो जानेसे ही बी. ए. से नीचेकी कक्षाओंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि विश्वविद्यालयोंमें जो शिक्षाकी व्यवस्था हुई वह पर-स्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) वर्गोंके लिये ही की गई। इस प्रकार वास्तवमें उचित विश्वविद्यालय-शिक्षाका संघटन ठीक-ठीक नहीं हो पाया क्योंकि हाई स्कूलकी शिक्षाका कोई उचित सम्बन्ध विश्वविद्यालयकी शिक्षासे स्थापित नहीं किया गया।

इस प्रकार छात्र बढ़े, प्राध्यापक बढ़े, विद्यालय बढ़े और इन सबको सुसंघटित करके इस सेनाकी परीक्षा लेनेकी शिरःपीड़ा भी बढ़ती चली गई। फलतः अगले बीस वर्षोंमें लोग इस परिपाटीसे भी ऊब गए और अनुभव करने लगे कि विश्वविद्यालय-शिक्षाका पुनःसंघटन अवश्य होना चाहिए।

भूमिका

सन् १८८२ ई० में शिक्षा-कमीशन बैठा और लौर्ड रिपनने जब देखा कि विश्वविद्यालयोंकी संख्या कम है, तो सन् १८८२ ई० में उसने लाहौरमें एक विश्वविद्यालय स्वयं स्थापित किया और सन् १८८७ ई० में उनके उत्तराधिकारी लौर्ड लिटनने प्रयागमें विश्वविद्यालय स्थापित कर दिया।

विश्वविद्यालयका मानचित्र

उसी प्रयाग विश्वविद्यालयके स्नातक पंडित मदनमोहन मालवीयजीके

किन्तु इस विधानके पश्चात् प्राध्यापकोंकी योग्यता तथा अन्य आवश्यक उपादानोंकी परीक्षा करके केवल उन्हीं विद्यालयोंको वे ही विषय पढ़ानेकी आज्ञा विश्वविद्यालय देने लगा जिनके उचित शिक्षणके सम्बन्धमें विश्वविद्यालयोंको पूर्ण विश्वास हो जाता था।

३. अनेक विद्यालयोंके साथ छात्रावास संलग्न कर दिए गए और सावास प्रणाली प्रारम्भ कर दी गई। छात्रावासोंमें रहनेवाले विद्यार्थियोंके लिये अनेक प्रकारके प्रतिबन्ध लगा दिए गए क्योंकि उन दिनों अन्य नैतिक कारणोंके साथ-साथ बंग-भंगके विक्षोभसे उत्पन्न स्वदेशी आन्दोलन भी विराट् रूप धारण कर चुका था।

४. विभिन्न विश्वविद्यालयोंने योरोपीय विश्वविद्यालयोंके अनेक प्रसिद्ध और लोकविश्रुत प्राध्यापकोंको विशिष्ट विषयोंपर व्याख्यान देनेके लिये निमंत्रित किया, जैसे बम्बई विश्वविद्यालयने अर्थशास्त्रपर व्याख्यान देनेके लिये प्रो० जेवन्सको, पंजाब विश्वविद्यालयने विज्ञानपर भाषण देनेके लिये प्रो० ग्रेगरीको और प्रयाग-विश्वविद्यालयने इतिहासपर भाषण देनेके लिये रशब्रुक विलियम्सको।

५. इन परिवर्त्तनोंके कारण विज्ञान भी प्रमुख रूपसे पाठ्यक्रममें आकर जम गया।

सन् १९०२ के विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डलका विश्लेषण

सन् १९०२ के विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डलने यद्यपि अत्यन्त सावधानीके साथ विश्वविद्यालयकी सभी बुराइयाँ दूर करनेका प्रयत्न किया किन्तु फिर भी कुछ बातें ऐसी रह ही गईं जिनपर उस मण्डलने विशेष ध्यान नहीं दिया—

क. मण्डलने प्राध्यापकोंके उचित वेतन-मान और उपयुक्त सेवा-अवधिकी निश्चिन्तता (सिक्योरिटी ऑफ़ सर्विस ऐंड टिन्योर) के सम्बन्धमें।

ख. विभिन्न विद्यालयोंमें पढ़ाए जानेवाले विषयोंके आवश्यक सहयोगके सम्बन्धमें, जिससे निरर्थक व्यय कम होता और उनकी श्रेष्ठता बढ़ती।

ग. यह सिद्धान्त मान लेनेपर भी कि विश्वविद्यालयको शिक्षा-संघ बना देना चाहिए, यह मण्डल यही मानता रहा कि हमें बी. ए. की कक्षासे नीचेकी शिक्षामें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सच पूछिए तो इन विद्यालयोंमें शिक्षाकी व्यवस्था हो जानेसे ही बी. ए. से नीचेकी कक्षाओंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि विश्वविद्यालयोंमें जो शिक्षाकी व्यवस्था हुई वह पर-स्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) वर्गोंके लिये ही की गई। इस प्रकार वास्तवमें उचित विश्वविद्यालय-शिक्षाका संघटन ठीक-ठीक नहीं हो पाया क्योंकि हाई स्कूलकी शिक्षाका कोई उचित सम्बन्ध विश्वविद्यालयकी शिक्षासे स्थापित नहीं किया गया।

इस प्रकार छात्र बढ़े, प्राध्यापक बढ़े, विद्यालय बढ़े और इन सबको सुसंघटित करके इस सेनाकी परीक्षा लेनेकी शिरःपीड़ा भी बढ़ती चली गई। फलतः अगले बीस वर्षोंमें लोग इस परिपाटीसे भी ऊब गए और अनुभव करने लगे कि विश्वविद्यालय-शिक्षाका पुनःसंघटन अवश्य होना चाहिए।

भूमिका

सन् १८८२ ई० में शिक्षा-कमीशन बैठा और लौर्ड रिपनने जब देखा कि विश्वविद्यालयोंकी संख्या कम है, तो सन् १८८२ ई० में उसने लाहौरमें एक विश्वविद्यालय स्वयं स्थापित किया और सन् १८८७ ई० में उनके उत्तराधिकारी लौर्ड लिटनने प्रयागमें विश्वविद्यालय स्थापित कर दिया।

विश्वविद्यालयका मानचित्र

उसी प्रयाग विश्वविद्यालयके स्नातक पंडित मदनमोहन मालवीयजीके

मनमें प्रयागसे काशीतक गङ्गाजीके किनारे-किनारे एक ऐसा आश्रम बनानेकी धुन चढ़ी जहाँ भारतीय युवक अपने चरित्रका सुधार कर सकें और विद्या सीख सकें। वह राष्ट्रीय शिक्षाका युग था। एक राष्ट्रीय शिक्षालयके खोलनेके लिये बनारसके रईस मुन्शी माधोलालने तीन लाख रुपया दान दिया था। दक्षिणमें सर्वश्री तिलक, देशमुख, वैद्य तथा बीजापुरकरने 'समर्थ विद्यालय' स्थापित किया था। बहुतसे लोग राष्ट्रीय शिक्षाके लिये अपनी सेवाएँ अर्पित कर रहे थे। बनारसमें स्थापित होनेवाले राष्ट्रीय शिक्षालयमें सेवा करनेके लिये भी बहुतसे लोग तैयार हो चुके थे। पर कौन जानता था कि उस छोटेसे बीजमें इतनी बड़ी सृष्टि छिपी है! नाभाके राजाने अमृतसरके खालसा कौलेजका सुधार करनेके लिये सिक्ख जातिको आमन्त्रित किया। बङ्गालमें राँचीके नये कौलेजके लिये अच्छी निधियाँ दान की गईं। अलीगढ़ कौलेजके संरक्षक अपने कौलेजको सावास विश्वविद्यालयमें परिणत करनेकी सोचने लगे। नवाब रामपुरकी सहायतासे बरेली कौलेजकी भी उन्नति हुई। महाराजा बलरामपुरने गुरुकुलके समान नये शिक्षालयकी स्थापनाके लिये तीन लाख रुपये दिए। ताता वैज्ञानिक अन्वेषण-संस्था भी धीरे-धीरे अस्तित्वमें आ रही थी। लौर्ड कर्जनके विधानके अनुसार सरकारी सहयोगसे इन विश्वविद्यालयों अथवा कौलेजोंमें उच्च शिक्षाके कार्यको प्रोत्साहन देना और लाभ पहुँचाना कदापि सम्भव नहीं था।

हिन्दू विश्वविद्यालयका प्रस्ताव

सन् १९०४ ई० में पहले-पहल काशी में मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयका सविवरण प्रस्ताव रक्खा और सभीने उसे स्वीकार कर लिया। सन् १९०५ ई० के नवम्बरमें मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयके लिये संन्यास ले लिया। प्रस्तावित विश्वविद्यालय' का विवरण छपवाकर भारतवर्षके राजा, महाराजा पण्डित, विद्वान् और नेताओंको भेज दिया।

दिसम्बरमें काशीमें राष्ट्रीय महासभाके अवसरपर ३१ दिसम्बर सन् १९०५ ई० को बरारके श्री वी० एन्० महाजनी एम० ए० के सभापतित्वमें काशीकी एक बड़ी भारी सभामें सब धर्मोंके प्रतिनिधि तथा देश-भरके प्रसिद्ध शिक्षा-प्रेमियोंने हिन्दू विश्वविद्यालयकी योजनाका स्वागत किया और जनवरी सन् १९०६ ई० को वहीं काँग्रेसके पण्डालमें हिन्दू विश्व-विद्यालय स्थापित करनेकी घोषणा हुई।

सनातनधर्म-महासभाका प्रस्ताव

उसी समय सन् १९०६ ई० की जनवरीमें प्रयागमें सुप्रसिद्ध साधुओं तथा विद्वानोंकी सनातन-धर्म-महासभामें यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया कि—

"१. भारतीय विश्वविद्यालयके नामसे काशीमें एक हिन्दू विश्व-विद्यालयकी स्थापना की जाय, जिसके निम्नाङ्कित उद्देश्य हों—

(अ) श्रुतियों तथा स्मृतियों-द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्मके पोषक सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये धर्मके शिक्षक तैयार करना।

(आ) संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनकी अभिवृद्धि।

(इ) भारतीय भाषाओं तथा संस्कृतके द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्पकला-सम्बन्धी शिक्षाके प्रचारमें योग देना।

२. विश्वविद्यालयमें निम्नांकित संस्थाएँ हों—

वैदिक विद्यालय, आयुर्वैदिक विद्यालय, (इ) स्थापत्यवेद तथा यन्त्र-शास्त्रके तीन विभाग हों—१. भौतिक शास्त्र-विभाग, २. प्रयोगों तथा अन्वेषणके लिये एक प्रयोगशाला और ३. मशीन तथा बिजलीका काम सीखनेवाले इञ्जीनियरोंकी शिक्षाके लिये यन्त्रालय। (ई) रसायन-विभाग, (उ) शिल्पकला-विभाग, (ऊ) कृषि-विद्यालय, (ए) गन्धर्ववेद तथा अन्य ललित कलाओंका विद्यालय और (ऐ) भाषा-विद्यालय।

बंग-भंग

यह प्रस्ताव स्वीकृत तो हो गया पर सहसा सन् १९०५ ई० में ही

बंग-भंग हुआ, भारतमाताके बाएँ हाथके दो टुकड़े कर डाले गए। सन् १९०७ ई० के अभागे वर्षमें हिन्दू विश्वविद्यालयके कई पक्षपाती हिन्दुस्थानसे बाहर कर दिए गए या जेलोंमें ठूँस दिए गए। राजनीतिक बवंडरमें हिन्दू विश्वविद्यालयका नाम भुला दिया गया।

त्रिवेणी

उन दिनों श्रीमती एनी बेसेण्टके सेण्ट्रल हिन्दू कौलेज बनारसकी बड़ी धूम थी। बड़े-बड़े त्यागी विद्वान् सेवा-भावसे वहाँ आ-आकर पढ़ा रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने उस हिन्दू कौलेज़को ऐसी 'यूनिवर्सिटी' बनानेका विचार किया, जिसके अन्तर्गत देशके बहुतसे कौलेज रहें और सर्वत्र यहाँकी परीक्षाके केन्द्र रहें। सन् १९०७ ई० में उन्होंने कई प्रभावशाली भारतवासियोंके हस्ताक्षरसे 'रौलय चार्टर' के लिये भारत-सरकारके पास एक प्रार्थनापत्र 'यूनिवर्सिटी औफ़ इण्डिया' स्थापित करनेके लिये भेज दिया। इधर सनातन-धर्म-महामण्डलने भी दरभङ्गा-नरेश स्वर्गीय महाराजा रामेश्वरसिंहके नेतृत्वमें एक विश्वविद्यालय स्थापित करनेका प्रस्ताव वहाँ उपस्थित किया। सन् १९११ ई० के अक्तूबर मासमें दरभंगा-नरेश महाराजा रामेश्वरसिंह बहादुरने अपने विश्वविद्यालयकी योजना भी हिन्दू विश्वविद्यालयके साथ मिला दी और ये दोनों महानुभाव इस सम्बन्धमें लौर्ड हार्डिंञ्जसे जाकर मिले। उन्होंने प्रस्तावकी बड़ी सराहना की और भारत-सरकारसे पूरी सहायता दिलानेका वचन दिया। बहुत दिनोंतक मालवीयजी और श्रीमती एनी बेसेण्टके बीच इस सम्बन्धके पत्र-व्यवहार होते रहे। अन्तमें अप्रैल सन् १९११ ई० में श्रीमती एनी बेसेण्ट, प्रयागमें मालवीयजीसे मिलीं और ये तीनों धाराएँ एक हो गईं। प्रयागके बहुतसे लोगोंने मालवीयजीसे बहुत आग्रह किया कि आप प्रयागके रहनेवाले हैं, प्रयागमें ही विश्वविद्यालय बनाइए, किन्तु उन्होंने कहा कि 'काशी सिद्धपीठ है, विद्याका केन्द्र है, विश्व-विद्यालय वहीं बनना चाहिए और वहीं बनेगा।'

श्रीगणेश

इसी बीच सन् १९०९ ई० में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी बननेकी बात पक्की-सी हो गई। हिन्दू विश्वविद्यालयकी भनक फिर कानोंमें पड़ने लगी। मालवीयजी उसका नया स्वरूप लेकर फिर प्रकट हुए और उन्होंने देश-भरमें घूमकर सवा करोड़ रुपया एकत्र कर लिया।

हिन्दू विश्वविद्यालयका शिलान्यास

एक करोड़ रुपया एकत्र हो गया। सन् १९११ ई० में हिन्दू यूनिवर्सिटी-सोसाइटीकी रजिष्ट्री हो ही चुकी थी। इसके एक वर्ष पश्चात् ही भारतके राष्ट्र-मन्त्रीने लार्ड हार्डिञ्जकी सम्मतिसे 'सावास विश्वविद्यालय' स्थापित करनेकी स्वीकृति दे दी। पहली अक्तूबर सन् १९१५ ई० को 'हिन्दू विश्वविद्यालय बिल' धारा-सभामें स्वीकृत हो गया। श्रीमती एनी बेसेण्टने और सेण्ट्रल हिन्दू कौलेजके ट्रस्टियोंने बड़ी उदारताके साथ सेण्ट्रल हिन्दू कौलेजको हिन्दू विश्वविद्यालयके हाथों सौंप दिया और गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय लौर्ड हार्डिञ्जने ४ फरवरी सन् १९१६ को इस विश्वविद्यालयका शिलान्यास किया।

हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना हो गई और सन् १९१८ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालयकी पहली परीक्षा हुई। अर्द्ध गोलेमें यूनिवर्सिटीका निर्माण हुआ जहाँ धनुषाकार समानान्तर सड़कोंके किनारे बड़े क्रमसे विद्यालय, छात्रावास और अध्यापकावासोंके भवन बने हैं। आज यह विश्वविद्यालय छत्तीस बरसका हो गया है। इसका परिवार बढ़ता चला जा रहा है। यहाँ लगभग दस सहस्र विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं और पाँच सौ अध्यापक पढ़ा रहे हैं।

शिक्षाका संस्कार [१९१७ से १९३४]

सैडलर समीक्षण-मण्डल [१९१७]

विश्वविद्यालयोंकी ह्रासोन्मुख दशासे संक्षुब्ध होकर जनताने विश्व-विद्यालयोंके विरुद्ध जो पुकार मचाई उसके परिणाम-स्वरूप भारत-सरकारकी ओरसे सर माइकेल सैडलरकी अध्यक्षतामें कलकत्ता-विश्व-विद्यालयकी शिक्षा-पद्धतिका समीक्षण करनेके लिये सन् १९१७ ई० में एक मण्डल नियुक्त हुआ जिसके सात सदस्य तो सीधे इँगलैंडसे आए थे, शेष दो भारतीय थे—सर आशुतोष मुकर्जी और डाक्टर जियाउद्दीन।

प्रारम्भिक कार्य

सन् १९१७ के अक्तूबरमें इस मण्डलकी प्रथम गोष्ठी हुई और लगभग ४०० व्यक्तियोंसे इस मण्डल द्वारा प्रचारित प्रश्नमालाका उत्तर प्राप्त करनेके पश्चात् सन् १९१९ के मार्चमें इसने अपना कार्य पूर्ण कर दिया। इस मण्डलने विश्वविद्यालय और माध्यमिक शिक्षाके पारस्परिक सम्बन्धका भी विवेचन किया और यह भी विचार किया कि व्यावसायिक और वैज्ञानिक विद्यालयोंपर विश्वविद्यालयकी शिक्षाका क्या प्रभाव पड़ सकता है या क्या सहयोग प्राप्त हो सकता है। इस मण्डलने जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भारतकी माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षाका सबसे अधिक विस्तृत तथा प्रामाणिक समीक्षण माना जाता है।

मण्डलका निष्कर्ष

इस विवरणमें मण्डलने प्रारम्भमें ही स्पष्ट रूपसे घोषित किया है कि जबतक विश्वविद्यालयोंकी आधारशिला माध्यमिक शिक्षामें ही आमूल परिवर्त्तन और सुधार नहीं हो जाते तबतक सामान्यतः सभी विश्वविद्या-लयोंकी और विशेषतः कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी व्यवस्थाका सन्तोषजनक संघटन नहीं हो सकता।

माध्यमिक शिक्षाके दोष

माध्यमिक शिक्षाके दोष गिनाते हुए मण्डल कहता है कि—

"माध्यमिक शिक्षाका—

१. शिक्षा-मान (स्टैंडर्ड) अत्यन्त निम्न कोटिका, अनियमित और अल्पज्ञ अध्यापकों-द्वारा संचालित है।

२. शिक्षण-साधन अत्यन्त अपर्याप्त हैं। विज्ञान, भूगोल, हस्तकौशल आदि आधुनिक विषयोंके शिक्षणके लिये व्यापक दारिद्र्य है।

३. सार्वजनिक परीक्षाओं (पब्लिक ऐग्ज़ामिनेशन्स) के लिये एकाग्र होनेके कारण शिक्षा अत्यन्त संकुचित हो गई है।

४. निरीक्षण करने, निर्देश करने और सहायता देनेके उचित प्रबन्धका अभाव है।

५. अधिकांश भाग जो विद्यालयोंमें पढ़ाना चाहिए वह विश्वविद्यालयके महाविद्यालयोंमें पढ़ाया जाता है, जैसे इन्टरमीजिएटमें पढ़ाया जानेवाला पाठ्य-क्रम वास्तवमें स्कूलका ही काम है, जो कालेज-प्रणालीसे पढ़ाया जा रहा है और इसीलिये वह असफल भी हो रहा है। इस श्रेणीके लिये जो साहित्य-निर्माण हो रहा है वह भी अत्यन्त अनुपयुक्त है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि माध्यमिक शिक्षाकी प्रणाली इतनी अपूर्ण, सदोष और निम्न कोटिकी है कि जो लोग वास्तवमें शिक्षित होना चाहते हैं उन्हें विवश होकर विश्वविद्यालयोंकी शरण लेनी पड़ती है। यह मार्ग उन निरीह व्यक्तियोंको भी ग्रहण करना पड़ता है जिनकी प्रवृत्ति और रुचि विश्वविद्यालयमें पढ़ाए जानेवाले किसी भी विषयसे मेल नहीं खाती।" मण्डलके सदस्योंके शब्दोंमें ही—"विद्यालयोंमें ऐसे आध्यात्मिक जीवनका अभाव है जो बालकोंकी अन्तःप्रकृतिको स्पर्श कर सके, ऐसी सहयोग-भावनाका अभाव है जो छात्रोंकी स्नेहपूर्ण सत्यनिष्ठाको प्रभावित कर सके और बनाए रख सके, ऐसी नैतिक और बौद्धिक अग्नि-शिखाका अभाव है जिससे वे अपने भावोंको प्रज्वलित कर सकें।"

मण्डलके प्रस्ताव

इन परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए 'कलकत्ता-विश्वविद्यालय-मण्डल"ने यह सुझाव दिया कि केवल विश्वविद्यालयके सुधारके ही लिये नहीं वरन् वास्तविक राष्ट्रीय विकासके लिये भी माध्यमिक शिक्षामें आमूल सुधार आवश्यक है।

अतः इस मण्डलका सर्वप्रथम प्रस्ताव यही था कि "इन्टरमीजिएट-शाखाको विश्वविद्यालयोंसे हटा दिया जाय और विश्वविद्यालयोंमें प्रवेश पानेकी अवस्था मैट्रिक परीक्षाके पश्चात् होनेके बदले वर्त्तमान इन्टर-मीजिएटकी परीक्षाके पश्चात् हो।" इस प्रस्तावका ध्यान रखते हुए कमीशनने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए —

१. ऐसे इन्टरमीजिएट कौलेज खोले जायँ जिनमेंसे कुछको तो चुने हुए हाई स्कूलोंके साथ सम्बद्ध कर दिया जाय और शेषको अलग संस्थाके रूपमें चलाया जाय। बी० ए० की पाठावधि दो बरसके बदले तीन बरस कर दी जाय।

२. इन्टरमीजिएट-विद्यालयोंके पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाए जायँ कि बी० ए० कक्षाओंके शास्त्र (आर्ट्स), विज्ञान, आयुर्वेद (डाक्टरी), यन्त्रशिल्प (एञ्जीनियरिंग), वाणिज्य तथा व्यवसायके पाठ्यक्रमोंको पूर्ण कर सकें अर्थात् इन्टरमीजिएटकी अवस्थामें ही बालकोंको विभिन्न विषयोंका इतना ज्ञान करा दिया जाय कि वे यदि विश्वविद्यालयकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक या समर्थ न हों तब भी वे जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रविष्ट होकर कुशलताके साथ कार्य-सञ्चालन कर सकें।

३. इस व्यवस्थाके लिये वर्त्तमान शिक्षा-विभागका भी पुनः संस्कार किया जाय जिससे विद्यालय-प्रणाली भली प्रकार व्यवस्थित हो। इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये एक 'माध्यमिक तथा अन्तराल शिक्षा-मण्डल' (बोर्ड औफ़ सेकेण्डरी ऐण्ड इन्टरमीजिएट एजुकेशन) बने, जिसमें केवल सरकारी अधिकारी, शिक्षासे संबद्ध लोग तथा विभिन्न

धर्मोंके प्रतिनिधि ही न रहें वरन् वाणिज्य, कृषि और आयुर्वेदादि व्यवसायोंको भी उचित प्रतिनिधित्व मिलें। इस प्रकार संघटित मण्डलका कार्य यह हो कि वह हाई स्कूल और इन्टरमीजिएट कौलेजोंके लिये पाठ्यक्रम निश्चित करे, माध्यमिक और इन्टरमीजिएट शिक्षाकी आवश्यकताओंकी ओर सरकारका ध्यान दिलावे और वार्षिक द्रव्यसीमा (बजट) के भीतर ही विभिन्न विद्यालयोंको आर्थिक सहायता बँटवानेकी व्यवस्था करे।

४. एक केन्द्रीय शिक्षण-विश्वविद्यालय (सेन्ट्रलाइज़्ड टीचिंग यूनिवर्सिटी) स्थापित की जाय।

उस समयतक जितने भी विश्वविद्यालय थे, वे सम्बन्धकारी थे और इसीलिये उस प्रणालीमें बहुत-सा कार्य दरिद्र प्रकारसे तथा निरर्थक रूपसे अनेक विद्यालयोंमें दुहराया तिहराया जाता था। जिन विद्यालयोंको विश्वविद्यालय संबद्ध कर लेता था उनके अतिरिक्त शेष सब निरर्थक ही बने रहते थे। इसलिये मण्डलने यह प्रस्ताव किया कि "यह केन्द्रीय विश्वविद्यालय सब विषयोंके अध्यापनका कार्य करे अर्थात् 'एकत्र शिक्षण विश्वविद्यालय' (यूनिटरी टीचिंग यूनिवर्सिटी) हो, जहाँ विश्वविद्यालयके आचार्यों-द्वारा विश्वविद्यालयकी ओरसे सब विषयोंकी नियमित शिक्षा दी जाय इसीके साथ-साथ ये विश्वविद्यालय सावास (रेज़ीडेन्शल) हों और ये आवास कुछ तो ऐसे बड़े खण्डोंमें हों जिन्हें भवन (हौल) कहा जाय, कुछ छोटे खण्डोंमें हों जिन्हें छात्रावास (होस्टल) कहा जाय। सम्पूर्ण शिक्षण-कार्य, विभागोंके रूपमें व्यवस्थित किया जाय और प्रत्येक विभाग ऐसे उत्तरदायी अध्यक्षके अधीन हो जो विश्वविद्यालयके सब क्षेत्रोंमें उस विषयके शिक्षणकी पूरी व्यवस्था कर सके।

५. जहाँतक शासन-व्यवस्थाकी बात है, इस सम्बन्धमें प्राचीन प्रणाली तोड़कर एक पूर्णकालिक कुलपति नियुक्त किया जाय और वर्त्तमान कार्यकारिणी तथा शिक्षण-व्यवस्था-समितियोंको तोड़कर नई

समितियाँ स्थापित की जायँ, अर्थात् वह वर्त्तमान सीनेट तोड़ दिया जाय जिसमें केवल शिक्षण-सम्बन्धी प्रश्नोंका ही नहीं, वरन् विश्वविद्यालयके नीति-सम्बन्धी प्रश्नोंका भी समाधान किया जाता है। इसके बदले दो परिषदें बना दी जायँ—१. अत्यन्त विस्तृत प्रतिनिधित्वसे युक्त महासभा (कोर्ट), जो नीति निर्धारित करे और २. शिक्षण-व्यवस्थापिका परिषद् (एकेडेमिक कौन्सिल), जिसे अर्थ-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी सब कर्त्तव्य और अधिकार सौंप दिए जायँ।

परिणाम

इस विवरणके प्रकाशित होनेके पश्चात् भी अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए जिनमेंसे कुछ तो पुरानी लकीर पीटते हुए सम्बन्धकारी ही बने रहे और कुछ ऐसे हुए जो शिक्षणकारी अथवा अर्धशिक्षणकारी रूपमें चलाए गए। भारतवर्षमें इस समय निम्नलिखित विश्वविद्यालय केवल सम्बन्धकारी हैं—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पंजाब, पटना, नागपुर, आगरा, कटक (उत्कल), अहमदाबाद, पूना, गोहाटी, कश्मीर, बड़ोदा, तिरुवरांकूर (ट्रावङ्कोर) आन्ध्र और राजपूताना (जयपुर)। इनमेंसे पटना और नागपुरमें शिक्षण भी होता है।

निम्नलिखित विश्वविद्यालय शिक्षादातृ-श्रेणीके हैं जहाँ सावास शैलीसे शिक्षाका विधान किया जाता है—काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुसलिम-विश्वविद्यालय, प्रयाग, लखनऊ, रुड़की (एञ्जिनियरिंग), दिल्ली (सम्बन्धकारी भी), सागर, शान्ति-निकेतन, हैदराबाद, अन्नामलाइ और मैसूर।

भारतकी पाकिस्तानी सीमामें दो विश्वविद्यालय हैं—कराँची और ढाका।

इन नये विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाके फलस्वरूप पारस्परिक सम्पर्कके उद्देश्यसे सन् १९२४ में एक अन्तर्विश्वविद्यालय-मंडल (इंटर-यूनिवर्सिटी-बोर्ड) बना दिया गया।

विश्लेषण

यद्यपि इस सैडलर समीक्षण-मण्डलने अत्यन्त विस्तारके साथ विश्व-विद्यालयकी तत्कालीन शिक्षाका भली प्रकार समीक्षण किया और अत्यन्त उपादेय सम्मति भी प्रदान की किन्तु उसने शिक्षाक्रमके सम्बन्धमें, प्राध्यापकोंके मान, सम्मान और वेतनमानके सम्बन्धमें तथा विद्यार्थियोंकी नैतिक, बौद्धिक और विशेष करके शारीरिक उन्नतिके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी ऐसी चर्चा नहीं की जो व्यावहारिक रूपसे भारतीय विद्यालयोंके लिये उपादेय सिद्ध होती। समीक्षण-मण्डलने विश्वविद्यालयोंके शासन-सूत्रके पुनः संघटनके लिये जो प्रस्ताव किए उससे स्थिति सुलझनेके बदले उलझी अधिक, क्योंकि महासभा (कोर्ट) में प्रतिनिधित्व पाकर बहुतसे तो ऐसे अन्यथा-सिद्ध लोग पहुँच गए जिनका शिक्षासे कोई सम्बन्ध नहीं रहा और सबसे बड़ा दोष तो यह आ गया कि जो प्राध्यापक अभीतक शिक्षण-कार्यमें दत्तचित्त थे वे अब विश्वविद्यालयोंकी शासन-समितियोंमें पद पानेके लिये दौड़-धूप करने लगे। इस मण्डलने छात्रों और प्राध्यापकोंके पारस्परिक सम्बन्ध, उच्चतम बौद्धिक ज्ञान तथा मानसिक संस्कारोंके लिये ऐसे कोई उपाय नहीं सुझाए जिनके सहारे विश्वविद्यालयके स्नातक, ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंके अद्वितीय पण्डित होकर समाज और राष्ट्रके अभ्युत्थानमें योग देते। यह सब होते हुए भी इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि मण्डल-द्वारा प्रस्तुत किया हुआ यह विवरण भारतीय शिक्षाकी तत्कालीन दशाका सबसे अधिक प्रामाणिक विवरण है।

हारटोग शिक्षा-समिति

सन् १९२८ में साइमन-मण्डल (साइमन-कमीशन) के नामसे जो भारतीय वैधानिक मण्डल (इण्डियन स्टैचुटरी कमीशन) नियुक्त किया गया उसे ही यह अधिकार भी दिया गया कि वह भारतके राष्ट्र-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ़् स्टेट फ़ौर इण्डिया) से परामर्श करके एक या अनेक व्यक्तियोंको विचार-विमर्शके लिये सहायक नियुक्त कर ले, जो अपने-अपने सुझाव मण्डलको दें। फलतः साइमन-मण्डलने मई सन् १९२८ में भारतीय शिक्षाके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत करनेके लिये एक शिक्षा-समिति नियुक्त की। इस समितिके अध्यक्ष थे सर फ़िलिप हारटोग और अन्य सदस्य थे पटनाके सर सैयद अहमद, पंजाबके राजा नरेन्द्रनाथ और मद्रासकी श्रीमती मुट्टू लक्ष्मी रेड्डी। इस समितिको शिक्षाके सम्पूर्ण क्षेत्र तथा उसकी विभिन्न शाखाओंके व्यापक परीक्षणका काम ही नहीं, वरन् यह भी काम सौंपा गया कि वह राजनीतिक और वैधानिक परिस्थितियोंको दृष्टिमें रखकर ऐसे व्यापक विकासके साधन सुझावे जिससे ब्रिटिश भारतमें शिक्षा और उसकी व्यवस्थाका उचित संघटन किया जा सके।

उद्देश्य

इस समितिने स्पष्ट रूपसे यह निर्देश किया कि शिक्षाका कार्य यह है कि वह जनताको ऐसी नागरिकताकी शिक्षा दे, जिससे जनता विवेकके साथ अपना प्रतिनिधि चुन सके, मत-दानकी प्रणाली समझ सके और कुछ गिने-चुने लोगोंको नेतृत्व करनेकी शिक्षा दे सके। अतः इस समितिने सामूहिक शिक्षा और विश्वविद्यालय-शिक्षाकी सम्भावनाओंका विशेष रूपसे परीक्षण किया। इस कार्यके लिये यह समिति देश-भरमें लोगोंका

मत संग्रह करती हुई घूमती रही। इस समितिकी ओरसे एक प्रश्नावली प्रचारित की गई जिसमें शिक्षा-सम्बन्धी सभी अंगों और समस्याओंके समाधानकी जिज्ञासा की गई थी। इस समितिने एक सौ साठ शिक्षा-विशेषज्ञोंके वक्तव्य लिए, जिनमेंसे चौहत्तर सरकारी कर्मचारी थे। समितिने लगभग डेढ़ वर्षतक शिक्षाकी समस्याओंपर विचार करके सितम्बर सन् १९२९ में अपना विवरण प्रकाशित किया।

समितिका निष्कर्ष

विशद रूपसे विचार-विमर्श करनेके उपरान्त समितिने यह निष्कर्ष निकाला कि—

१. वर्त्तमान शिक्षाके विकाससे भारतवर्षके राजनीतिक भविष्यके सम्बन्धमें अनेक विचित्र बातें प्रतीत होती हैं। प्रारम्भिक विद्यालयोंमें विद्यार्थियोंकी बढ़ती हुई संख्या यह घोषित करती है कि प्रारम्भिक शिक्षाके प्रति लोगोंकी जो दुर्भावनाएँ थीं वे अब दूर होती चली जा रही हैं यहाँतक कि अब तो लोग स्त्री-शिक्षा और सामाजिक सुधारके लिये भी अत्यन्त उत्सुक प्रतीत हो रहे हैं। जिस मुस्लिम-वर्गने प्रारम्भमें अँगरेज़ी शिक्षाके प्रति आशंका और उदासीनता व्यक्त की थी उनमें तथा देशकी अन्य पिछड़ी जातियोंमें शिक्षाके प्रति तीव्र अभिरुचि बढ़ रही है। सामाजिक तथा राजनीतिक नेताओंके मनमें भी यह भावना उद्दीप्त हो रही है कि राजनीतिके साथ-साथ शिक्षाकी जटिल समस्याओंका समाधान भी निकालते चलें। विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा-मन्त्रियोंने अपने-अपने प्रान्तकी व्यवस्थापिका-सभासे शिक्षाके लिये जब-जब धनकी माँग की है तब-तब धारा-सभाओंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वे माँगें स्वीकार की हैं।

२. यह सब होते हुए भी सम्पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणालीमें नीरसता और अपचय या अपनयन (वेस्टेज अर्थात् पाठ्यक्रम पूरा होनेसे पूर्व किसी भी समय बच्चोंको स्कूलसे हटा लेना) व्याप्त है। विद्यार्थियोंमें

इतनी साक्षरता और समर्थता अवश्य आ जानी चाहिए कि वे विवेकके साथ अपना प्रतिनिधि चुननेके लिये मतदान कर सकें किन्तु इसके अभावसे देशमें बड़ी विभीषिका उत्पन्न हो रही है। जिस गतिसे प्रारम्भिक पाठशालाएँ बढ़ रही हैं, उस अनुपातसे साक्षरताका विकास नहीं हो रहा है क्योंकि प्रारम्भिक पाठशालाओंमें पढ़नेवाले बहुत थोड़े बालक ऐसे हैं जो साक्षरताकी एक साधारण अवधि मानी जानेवाली चौथी श्रेणीतक पहुँच पाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्राम-जीवनकी वर्त्तमान व्यस्त परिस्थितिमें और उचित बाल-साहित्यके अभावमें बालकको पाठशाला छोड़नेके अनन्तर साक्षरता प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं मिल पाता, यहाँतक कि पढ़े हुए बालकोंके लिये भी यह भय बना रहता है कि कहीं वे भी धीरे-धीरे निरक्षर न बन जायँ।

३. यह अपचय या शक्ति-क्षय कन्याओंके सम्बन्धमें तो और भी अधिक बीहड़ है। बालकों और बालिकाओंकी शिक्षाके अनुपातमें जो विषमता है वह घटनेके बदले बढ़ती जा रही है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस वेग और संख्यामें बालक शिक्षा प्राप्त करते जा रहे हैं उस वेग और संख्यामें बालिकाएँ अग्रसर नहीं हो रही हैं।

४. माध्यमिक शिक्षाके क्षेत्रमें कुछ दिशाओंमें विशेष प्रगति हुई है, विशेषत: अध्यापकोंकी दशाओंमें तो बहुत ही सुधार हुआ है। विद्यालयोंमें अधिकाधिक शिक्षा-शास्त्र-संपन्न अध्यापक नियुक्त किए जा रहे हैं और विद्यालय-जीवनकी सामान्य प्रवृत्तियोंमें भी विशेष विस्तार हो रहा है। किन्तु यह सब होनेपर भी माध्यमिक शिक्षा अत्यन्त अव्यवस्थित रूपसे चलाई जा रही है। संपूर्ण माध्यमिक शिक्षा आज भी इस आदर्शपर चलाई जा रही है कि माध्यमिक शिक्षामें प्रविष्ट होनेवाला प्रत्येक छात्र विश्वविद्यालयके लिये तैयार किया जाय और मैट्रिकुलेशन परीक्षा तथा अन्य सार्वजनिक परीक्षाओंमें जो भयानक संख्यामें छात्र अनुत्तीर्ण हो रहे हैं वे इस बातके प्रमाण हैं कि शिक्षाकी अधिकांश शक्तिका अपव्यय ही

हो रहा है। उसका स्पष्ट कारण यह है कि व्यावसायिक तथा विशेष वृत्तियोंकी शिक्षाका हमारी शिक्षा-पद्धतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसीलिये उसका कोई सफल परिणाम नहीं निकल रहा है। बहुतसे विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंने अपनी मौलिकताओं और शिक्षा-पद्धतियोंमें विशेष चमत्कार और विकास प्रदर्शित किया है। उनमेंसे अधिकांशमें निश्चित रूपसे पहलेकी अपेक्षा अधिक सहयोगपूर्ण जीवनकी शिक्षा दी जा रही है। किन्तु दुःखकी बात यह है कि आज भी हमारे विश्वविद्यालय इसी उद्देश्यसे स्थापित हैं कि वे विद्यार्थियोंको परीक्षाओंमें पार करते रहें। चाहिए तो यह कि हमारे विश्वविद्यालय ऐसे शिक्षण-केन्द्र बनें, जहाँसे उदारचेता, सहनशील, विवेकशील, स्वावलम्बी, आत्माभिमानी तथा मनस्वी नागरिक उत्पन्न हों। विश्वविद्यालयोंका काम विद्यार्थियोंकी भीड़से बहुत अव्यवस्थित हो चला है। इनमेंसे अधिकांश छात्र ऐसे हैं जो विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाके लिये तो अत्यन्त अयोग्य हैं किन्तु यदि वे जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें पहुँच जायँ तो अधिक सफल हो सकते हैं।

५. शिक्षाका विकास और विस्तार केवल धनपर ही अवलम्बित नहीं होता। यद्यपि धनकी आवश्यकता सदा रहती ही है फिर भी शिक्षाकी नीति ऐसी सुसंचालित होनी चाहिए कि सुव्यवस्था करके सब प्रकारका (शक्ति, समय, धन और श्रमका) अपव्यय रोका जा सके।

सरकारका उत्तरदायित्व

६. हम लोगोंसे यह कहा गया था कि हम शिक्षाकी व्यवस्थापर अपना विवरण दें। हमने यह परिणाम निकाला है कि शिक्षाकी व्यवस्थापर पुनः विचार होना चाहिए और उसमें नई शक्ति लानी चाहिए। भारतीय सरकारको व्यापक प्रारम्भिक शिक्षाके उत्तरदायित्वसे अपनेको मुक्त नहीं समझना चाहिए। वास्तवमें यह केन्द्रका ही कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण

भारतवर्षकी शिक्षा-सम्बन्धी सूचनाओंकी केन्द्र-भूमि बने और विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवोंके सम्यक् संयोगकी स्थली बने।

प्रान्तीय सरकारोंका कर्त्तव्य है कि वे स्थानीय संस्थाओं (नगर-पालिकाओं और जनपद-मण्डलों) पर प्रान्तीय मन्त्रियों-द्वारा अधिक नियन्त्रण रक्खें। निरीक्षण-अधिकारियोंकी संख्या बढ़ाई जाय और बालकोंकी शिक्षाकी अपेक्षा कन्याओंकी शिक्षापर अधिक ध्यान दिया जाय।

विश्लेषण

साइमन-मण्डल जब नियुक्त हुआ तभी उसका घोर विरोध किया गया क्योंकि उसमें भारतका कोई प्रतिनिधि नहीं था। फलतः स्थान-स्थानपर इस मण्डलको काले झण्डे दिखाए गए और लाहौरमें तो पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय जैसे महापुरुषको इस मण्डलके विरोधका नेतृत्व करनेके फल-स्वरूप एक अँगरेज़ पुलिस अधिकारीके हाथों डण्डातक खाना पड़ा, जिसकी चोटसे उनका अवसान भी हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो दशा साइमन-मण्डल की हुई वही उसकी शिक्षा-समितिकी भी हुई। अपनी स्वतन्त्रताके लिये व्यग्र भारतको यह कुऋतुकी रागिनी अच्छी नहीं लगी और यह सम्पूर्ण योजना वहीं समाधिस्थ कर दी गई। इसमें सन्देह नहीं कि इस समितिने माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें यह अत्यन्त उचित सुझाव दिया कि वह स्वतःपूर्ण होनी चाहिए और केवल विश्वविद्यालयोंमें प्रवेश पानेके इच्छुक छात्रोंको तैयार करनेकी दूकान नहीं बननी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी उसका यह प्रस्ताव अत्यन्त उचित है कि उसका सम्पूर्ण भार और उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकारको ले लेना चाहिए क्योंकि जिस गतिसे स्थानीय संस्थाए—नगर-पालिका और जनपद-मंडल—प्रारंभिक शिक्षा चला रही हैं वह अत्यन्त हास्यास्पद और लज्जाजनक है। इसकी आलोचना हम पीछे कर भी आए हैं। विश्वविद्यालयोंके स्वरूपके सम्बन्धमें भी जो इस समितिने

विचार व्यक्त किए हैं वे अत्यन्त विचारणीय हैं। विश्वविद्यालयोंके अधिकारियोंको तदनुरूप विश्वविद्यालयोंकी स्वरूप-योजना स्थिर करनी चाहिए।

इस समितिने बहुतसे निरीक्षक बढ़ानेकी और स्थानीय संस्थाओं तथा प्रान्तीय मन्त्रियों-द्वारा शिक्षा-संचालनकी जो बात सुझाई है, वह बहुत मान्य नहीं हो सकती क्योंकि शिक्षा जैसे कार्यके लिये राजनीतिक व्यक्तियोंका स्पर्श सदा घातक सिद्ध होता रहा है। अतः शिक्षा-नीतिका भार देशके प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियोंके हाथमें सौंपकर सरकारको केवल उनके पोषणका प्रबन्ध-भर करना चाहिए। इस समितिने कन्या-शिक्षाका महत्त्व तो स्वीकार किया किन्तु उसके स्वरूपका ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया। यदि व्यापक रूपसे देखा जाय तो इस समितिने भी लगभग वैसी ही बातें कहीं जैसी दस वर्ष पहले कलकत्ता-विश्वविद्यालयके शिक्षा-समीक्षण-मण्डल (कैलकटा यूनिवर्सिटी कमीशन) ने सुझाई थी।

युक्त-प्रान्तीय सरकारका निश्चय

सन् १९३० और ३१ में भारतीय स्वतन्त्रताका आन्दोलन इतने उग्र रूपसे चला कि सरकार उसीके दमनमें व्यस्त रही। उसके पश्चात् जब लन्दनमें गोलमेज़ सम्मेलन हुआ और वहाँका समझौता भंग हो जानेके पश्चात् भारतके सब प्रमुख नेता कारागारमें डाल दिए गए तब सरकारको कुछ शान्ति मिली। तब युक्तप्रान्तकी सरकारने साइमन शिक्षा-समितिके सुझावोंके आधारपर ८ अगस्त सन् १९३४ को अपने शिक्षा-विभागके द्वारा अपनी शिक्षा-नीतिमें निम्नलिखित परिवर्त्तनोंका निश्चय घोषित किया—

१. हाई स्कूलकी पाठनावधि एक वर्ष कम कर दी जाय।

२. सब विषयोंके शिक्षणका माध्यम मातृभाषा कर दी जाय।

३. इण्टरमीजिएटकी पाठनावधि एक वर्ष बढ़ा दी जाय जिससे वह स्वयं अपनेमें पूर्ण हो जाय।

४. इस पाठनावधिका नाम उच्चतर प्रमाणावधि (हायर सर्टीफ़िकेट कोर्स) रक्खा जाय और यह चार रूपोंमें चलाई जाय—

क. वाणिज्य-सम्बन्धी (कौमर्शल)

ख. व्यवसाय-सम्बन्धी (इण्डस्ट्रियल)

ग. कृषि-सम्बन्धी (ऐग्रिकल्चरल)

घ. शास्त्र तथा विज्ञान (आर्ट्स ऐण्ड साइन्स) पढ़ानेवाली।

वास्तवमें यह देखनेको तो चार रूपोंमें है किन्तु है यह द्विमुखी ही। इनमेंसे एक तो वह है जो वाणिज्य, व्यवसाय और कृषिके पाठ्य-क्रममें पूर्णता प्राप्त करनेका प्रमाण दे और दूसरी वह है जिसके द्वारा शास्त्र और विज्ञानका अध्ययन करके विश्वविद्यालयमें प्रविष्ट होकर शिक्षा चलाते रहनेकी योग्यताका प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाय।

५. माध्यमिक विद्यालयोंकी निम्नतर कक्षाओंमें हस्त-कौशल तथा कारीगरीके विषय भी प्रारम्भ कर दिए जायँ जिससे कि छात्रोंकी क्रिया-वृत्तिका परीक्षण हो सके और उनमें स्वतन्त्र व्यावसायिक कार्य करनेकी वृत्ति प्रारम्भसे ही उद्बुद्ध होती चले।

सप्रू बेकारी-समिति

उपर्युक्त प्रस्तावके परिणामस्वरूप युक्त-प्रान्तके समन्त्रिमण्डल गवर्नरने ५ अक्तूबर सन् १९३४ को शिक्षित युवकोंमें फैली हुई बेकारीकी जाँच करने तथा उसे दूर करनेके व्यावहारिक सुझाव देनेके लिये महामाननीय सर तेजबहादुर सप्रूकी अध्यक्षतामें एक समिति नियुक्त की जिसमें निम्नलिखित सदस्य थे—छतारीके नवाब, राजा ज्वालाप्रसाद, टी० गविन जोन्स, राधास्वामी-सम्प्रदायके साहबजी महाराज, डा० सिद्दीकी, डा० ताराचन्द और डा० हिगिनबौटम। इस समितिने भी शिक्षा-प्रणाली और बेकारीके पारस्परिक सम्बन्धकी परीक्षा करके यही निष्कर्ष निकाला कि—

१. माध्यमिक शिक्षाका लक्ष्य स्पष्ट नहीं है इसलिये अधिकांश विद्यार्थी भावी वृत्ति निर्धारित किए बिना ही स्कूलमें पढ़ने लगते हैं।

२. विभिन्न नौकरियोंमें परीक्षाका प्रमाणपत्र ही प्रामाणिक माना जाता है इसलिये परीक्षामें उत्तीर्ण होना ही सबका लक्ष्य होता है।

३. अभिभावक भी नौकरीके लिये ही अपने पुत्रोंको पढ़ाते हैं।

४. माध्यमिक शिक्षामें ऐसा कोई पाठ्यक्रम नहीं है जिसके आधारपर बालक अपना भावी जीवन-क्रम स्थिर कर सकें।

५. बालकोंमें प्रत्येक छोटे-से-छोटे व्यवसायका सम्मान करनेकी वृत्तिका अभाव है।

परिणाम

इस समितिने सुझाव दिया कि विद्यालयोंमें शिक्षा अधिक व्यावहारिक हो, छात्रोंकी भावी वृत्ति पहलेसे ही निश्चित हो जाय और पाठ्यक्रममें ऐसे विषय रक्खे जायँ जिनका भावी जीवनमें उपयोग किया जा सके।

विश्लेषण

इस समितिने भी लगभग वैसी ही बातें कहीं जैसी साइमन शिक्षा-समिति कह चुकी थी और उसका परिणाम भी यह हुआ कि ये सब सुझाव रद्दीकी टोकरीमें पड़े रहे। इसके अनन्तर सन् १९३७ में जब सात प्रान्तोंमें भारतीय मन्त्रि-मण्डल बने तब गाँधीजीके नेतृत्वमें नये सिरेसे शिक्षाकी समस्यापर विस्तारसे विचार किया गया।

शिक्षामें नवीन प्रयोग

ऐबट और वुड-समिति

सन् १९३६-३७ में भारत सरकारने इँगलैण्डके दो प्रधान शिक्षा-शास्त्री ए. ऐबट और एस्. एच्. वुडको निमन्त्रण देकर भारतमें बुलवाया और उन्हें यह कार्य सौंपा कि वे भारतकी आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियोंकी जाँच करके यह सुझाव दें कि भारतमें व्यावसायिक शिक्षाकी क्या सम्भावनाएँ हैं और वे सम्भावनाएँ किस प्रकार पूर्ण हो सकती हैं। इन लोगोंने भारतकी शिक्षा-व्यवस्थाका भली प्रकार निरीक्षण और परीक्षण करके सन् १९३७ के मई मासमें अपने सुझाव दिए।

वुडका मत

व्यावसायिक शिक्षाकी सम्भावनाओंको पूर्ण करनेके साधन बताते हुए वुडने साधारण शिक्षाके सम्बन्धमें भी सुझाव देते हुए कहा कि—

१. शिशु-कक्षाएँ केवल महिलाओंके ही हाथमें रक्खी जायँ।

२. बालकोंकी शिक्षा, उनके स्वाभाविक कुतूहलके विषयों और उनकी साधारण प्रवृत्तियोंके आधारपर हो, पुस्तकोंके आधारपर नहीं।

३. पाठ्यक्रम पूर्णतः बालकोंके चारों ओरके वातावरणसे सम्बद्ध हो।

४. देशी भाषाओंके माध्यमसे ही सब विषयोंकी शिक्षा हो किन्तु अँगरेज़ी अनिवार्य रहे।

५. अँगरेज़ीकी शिक्षा घरेलू और व्यावहारिक अधिक हो, पण्डिताऊ कम।

६. कला-कौशल तथा कारीगरीकी शिक्षा भी दी जाय।

७. शारीरिक शिक्षा भी केवल सैन्य-गति (ड्रिल) तक ही परिमित न रहे, वह अधिक मनोरंजक और हितकर हो।

८. कुछ ऐसे विद्यालय खोले जायँ जिनमें थोड़ेसे पाठ्यक्रमके साथ भावी वृत्तिके लिये तैयारी करनेकी शिक्षा दी जा सके।

९. विद्यालयोंका प्रबन्ध कठोरतापूर्वक शासित हो।

१०. विद्यालयोंके निरीक्षणका कार्य अधिक व्यवस्थित कर दिया जाय।

ऐबटका मत

ऐबटने अपने अनुभवके आधारपर ये सुझाव उपस्थित किए—

१. प्रत्येक प्रान्तको चाहिए कि वह अपने प्रान्तकी आवश्यकता, सुविधा और स्थितिके अनुसार व्यावसायिक शिक्षाके प्रकारोंकी जाँच करे और उनका स्वरूप निश्चित करे।

२. दो प्रकारके विद्यालय खोले जायँ—१. साधारण, २. व्यावसायिक देशकी व्यावसायिक तथा वाणिज्य-संस्थाओंसे भी शिक्षासंचालनमें पूर्ण सहयोग लिया जाय।

३. व्यावसायिक विद्यालयोंकी शिक्षाके अन्तिम दो वर्षोंमें व्यावसायिक आधार स्पष्ट करके तदनुसार शिक्षा दी जाय।

४. कुछ ऐसे विद्यालय खोले जायें जिनमें लोग भावी वृत्तिके लिये अभ्यास कर सकें (प्री-एप्रेंटिस स्कूल्स)।

५. व्यापार-विद्यालय खोले जायँ, जिनमें व्यापार करनेके सब विधान और कौशल सिखाए जायँ।

६. चित्रकला आदि कलाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध किया जाय।

७. व्यावसायिक विद्यालयोंमें ऐसी अल्पकालिक तथा अतिरिक्त कक्षाएँ प्रारम्भ की जायँ जहाँ अन्य स्थानोंमें काम करनेवाले कारीगर और कर्मकार भी आकर शिक्षा प्राप्त कर सकें।

८. सरकारको अपनी शिक्षा-पद्धतिमें थोड़ा-सा हेर-फेर करके यह क्रम रखना चाहिए—

क. एक व्यावसायिक शिक्षा-शास्त्र-विद्यालय (वोकेशनल ट्रेनिंग कौलेज) खोला जाय जो अन्य शिक्षा-शास्त्र-विद्यालयों (ट्रेनिंग कौलेजों) के साथ मेल खाता चले।

ख. लघु व्यावसायिक विद्यालय (जूनियर टेकनिकल स्कूल) खोले जायँ।

ग. उच्च व्यावसायिक विद्यालय (टेकनिकल स्कूल) खोले जायँ।

घ. कला-कौशलके लिये और घरेलू उद्योग-धन्धोंके लिये एक विद्यालय खोला जाय।

बहुशिल्प विद्यालय (पोलीटेकनिक इन्स्टीट्यूट)

इन सुझावोंके अनुसार दिल्लीमें एक प्रथम श्रेणीका बहुशिल्प विद्यालय (पौलीटेकनिक इंस्टीट्यूट) खोला गया जिसके दो विभाग हैं—एक निम्न विभाग और दूसरा उच्च विभाग। निम्न विभागका शिक्षा-क्रम तीन वर्षका है। इस विद्यालयकी विशेषता यह है कि इसमें पुस्तक-ज्ञानतक शिक्षा परिमित नहीं है और रटनेकी वृत्ति भी कड़ाईसे रोकी जाती है। इसीलिये यहाँ पाठ्य-पुस्तकोंका अत्यन्त अभाव है। प्रत्येक मासके अन्तिम शनिवारको सब छात्र कोई न कोई मनोहर स्थान देखने निकल जाते हैं जहाँ वे ऐतिहासिक भवनोंकी बनावट और कारीगरीका अध्ययन करते हैं और कभी जाकर ऐसी ही बातोंका ब्यौरा एकत्र करते हैं।

अन्य क्रियाएँ

यहाँके बच्चे समय-समयपर अखिल भारतीय आकाशवाणी (औल इण्डिया रेडियो) पर जाकर कुछ गाते-बजाते, कहते-सुनते हैं अन्यथा वे निम्नलिखित सुव्यसनोंमेंसे किसी-न-किसीमें समय लगाते हैं—फोटोग्राफी, ज्यौतिष, मानचित्र, गत्तेका काम, एकत्रीकरण (टिकट, सिक्के, चित्र आदि), भोजन बनाना, स्काउटिंग आदि। इनके अतिरिक्त नाटक, वाद-विवाद, संगीत-गोष्ठी आदिका भी आयोजन होता रहता है।

बच्चोंके लिये आकाशवाणीपर जो कार्यक्रम चलता है उसे सुननेके लिये रेडियो लगा-हुआ है और चित्र-प्रदर्शक यन्त्रके साथ व्याख्यान आदिका प्रबन्ध भी होता रहता है। उसके साथ-साथ शारीरिक व्यायाम और खेतीकी भी विस्तृत व्यवस्था है।

इस विद्यालयमें प्रत्येक छात्रको विज्ञान और ललितकला सिखानेके लिये भली प्रकार सुसज्जित प्रयोग-शालाएँ हैं। प्रत्येक छात्रको सप्ताहमें कुछ घण्टे यन्त्रशालामें काम करनेके लिये जाना ही पड़ता है।

उच्च विभाग

उच्च विभागमें बिजली तथा यान्त्रिक विज्ञान, वास्तुकला, प्रयोगात्मक विज्ञान तथा कलाओंकी शिक्षाके लिये उचित व्यवस्था है और सर्वसाधारणके लिये भी सन्ध्याको शिल्पकला सिखानेका प्रबन्ध किया गया है।

विश्लेषण

भारतकी वर्त्तमान आर्थिक स्थितिको देखते हुए यह आवश्यक है कि इस प्रकारके विद्यालय भारतके प्रत्येक प्रदेशमें खोले जायँ क्योंकि व्यवसायोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके साथ-साथ शिक्षित शिल्पियोंकी बड़ी आवश्यकता पड़ रही है। यदि इस प्रकारके विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल दिए जायँ तो स्थानीय व्यवसायियोंको भी नये व्यवसाय प्रारम्भ करनेकी प्रेरणा मिलती रहे और उन्हें यह भी विश्वास बना रहे कि यदि कोई यान्त्रिक व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया जाय तो यन्त्र मँगाने या ठीक करानेके लिये इन शिल्प-विद्यालयोंसे हमें निरन्तर समय-समयपर कुशल शिल्पी भी मिलते रहेंगे। इन विद्यालयोंसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि यहाँके शिक्षित शिल्पी स्वयं अपने व्यवसाय खड़े कर लेंगे, बेकारोंकी संख्या घटने लगेगी, श्रम तथा श्रमसाध्य व्यवसायोंका मान बढ़ेगा और यहाँ भी व्यावसायिक निर्देशके लिये प्रयोगशालाएँ खोलना आवश्यक हो जायगा।

वर्धा शिक्षा-योजना

२२ और २३ अक्तूबर सन् १६३७ ई० को वर्धाके मारवाड़ी हाई स्कूल (अब नवभारत विद्यालय) के वार्षिकोत्सवके अवसरपर महात्मा गाँधीके सभापतित्वमें भारतके शिक्षा-शास्त्रियोंकी एक सभा निमन्त्रित की गई जिसमें गाँधीजीने अपनी नवीन शिक्षा-योजना उपस्थित की। इस सभामें विचार किया गया कि भारतके कुछ गिने-चुने अतिशिक्षित लोगों और अधिकांश अशिक्षित जनताके बीच अँगरेज़ोंने अपनी शिक्षा-नीतिसे विभेद उत्पन्न किया। वर्त्तमान शिक्षा किसी प्रकारकी जीविका-वृत्तिके लिये मार्ग प्रदर्शित नहीं करती, इसमें किसी प्रकारके भी उत्पादन-शील कार्यकी क्षमता नहीं है। इस शिक्षा-पद्धतिसे शारीरिक ह्रासके साथ-साथ नैतिक ह्रास भी होता है और जिन कर-दाताओंके धनसे यह पद्धति चलाई जा रही है उन्हें इसका तनिक भी प्रतिदान नहीं मिल रहा है। अतः ऐसी योजना बनानी चाहिए कि प्रारम्भिक शिक्षा मैट्रिकुलेशनके मानतक अनिवार्य कर दी जाय और उसका आधार कोई जीविका-वृत्ति (कला-कौशल) हो। उच्चतर शिक्षाको लोगोंकी रुचि और शक्तिपर छोड़ दिया जाय।

योजनाके उद्देश्य, सिद्धान्त और अंग

जब सन् १६३७ में भारतके सात प्रान्तोंमें कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई थी उस समय तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीको बदलनेकी व्यवस्था सी की गई और प्रत्येक प्रान्तमें भारतके इन चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे वर्धा-शिक्षा योजना अपनाई गई—१. दरिद्रता, २. निरक्षरता, ३. परतंत्रता और ४. स्कूलोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनो-

वैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित करके बनाई गई—१. स्वयंशिक्षा (औटो-एजुकेशन), २. करके सीखना (लर्निंग बाई डुइंग), ३. आवयविक शिक्षा (सेन्स ट्रेनिंग) तथा ४. श्रमका आदर (डिग्निटी औफ़ लेबर)। इनको ध्यानमें रखते हुए इस प्रणालीके चार अंग निर्धारित किए गए—

१. अनिवार्य शिक्षा, २. मातृ-भाषाके द्वारा, ३. किसी हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा ४. स्वावलम्बी।

हस्तकौशलके चुनावमें यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि केवल वे ही हस्तकौशल शिक्षाके आधार बनाए जायँ जिनमें शिक्षाको अधिकसे अधिक सम्भावनाएँ (मैक्सिमम एजुकेटिव पौसिबिलिटीज़) निहित हों अर्थात् जिनके आधारपर पाठ्यक्रमके सभी या अधिक-से अधिक विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य-विषय

पाठ्य-क्रममें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए—मातृभाषा, हिंदुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र, संगीत, हस्त-कौशल तथा व्यायाम। मानव-मात्रके उपयोगमें आनेवाले सभी विषयोंका समावेश इस सूचीमें हो गया। किन्तु पाठन-समयकी जो अवधि बताई गई वह इतनी विषम थी कि आधे समयमें हस्तकौशल रक्खा गया और आधेसे कममें शेष अन्य विषय। इस योजनाके निर्माणके अनन्तर जब शिमलेमें इसकी सभा बैठी तो उसने यह निर्णय कर दिया कि इस योजनाको स्वावलम्बी नहीं बनाया जा सकता। इस निर्णयके आधारपर चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु इस अंगके अलग कर देने-मात्रसे ही कार्य सम्पन्न नहीं हुआ क्योंकि तीन घंटे बीस मिनटतक चरखा चलाना या अन्य हस्त-कौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञान और बालकके चंचल स्वभावके प्रतिकूल था। हाथका ही काम क्यों न हो किन्तु उसमें भी तो एकाग्रता

निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है। इसीलिये उत्तर प्रदेशमें आधार-शिक्षा और मध्यप्रान्तमें विद्यामन्दिर-योजनाके नामसे जब वर्धा-प्रणाली चलाई गई तो उसमें हस्त-कौशलके दैनिक अभ्यासकी अवधि कम कर दी गई।

वर्धा-योजनाका मौलिक रूप

वर्धा-योजना जिस मौलिक रूपमें प्रस्तुत हुई थी वह उस समितिके संयोजक डाक्टर ज़ाकिर हुसेनके विवरणके अनुसार सूक्ष्म रूपमें दी जाती है—

पहला भाग

विद्यालयोंमें हाथका काम

वर्त्तमान समयके शिक्षा-विशेषज्ञोंकी राय है कि बच्चोंको हस्तकौशलके द्वारा शिक्षा देनी चाहिए क्योंकि हाथसे काम करनेवाले बच्चे मानसिक परिश्रमसे बहुत घबराते हैं और इससे लाभ यह है कि इसमें बौद्धिक और शारीरिक दोनों शिक्षाएँ हो जाती हैं। वर्त्तमान शिक्षाने जो असमानताकी खाई निर्मित कर दी है वह पट जावेगी तथा बचे हुए समयमें लोग काम करने लगेंगे जिससे देशकी आर्थिक दशा उन्नत होगी।

इन लाभोंसे लाभान्वित होनेके लिये हस्तकौशलका चुनाव ऐसा किया जाय जो शिक्षाके लिये उचित हो, शिक्षाके पूरे पाठ्यक्रममें लागू हो और मनुष्यके आवश्यक कामों तथा रुचियोंसे प्रकृतितः जिसका लगाव हो। २. जो हस्तकला सिखाई जाय उसके लाभ आदि लड़के जानते चलें, यह नहीं कि यन्त्रकी भाँति हाथसे काम ही करते चलें।

नागरिकता

साथ ही उनको ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे सच्चे नागरिक बन सकें और सच्चाईसे देश तथा समाजकी सेवा कर सकें।

अपना खर्च आप निकालना

विद्यालयोंमें निर्मित कलाकी वस्तुओंको क्रय करके बेचनेका प्रबन्ध करे, जैसा कि ३१ जुलाई सन् १६३७ के 'हरिजन'में महात्माजीने लिखा था—"प्रत्येक स्कूल अपना खर्च आप तब निकाल सकता है, जब राज्य-सत्ता स्कूलमें बनाई हुई वस्तुओंका क्रय कर ले।"

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बालक आयके साधन बना दिए जायँ। उनसे अधिक-से-अधिक वस्तुएँ बनवाई जायँ और वे हस्त-कौशल, शिक्षाके बौद्धिक, सामाजिक और नैतिक लक्ष्यको भूल जायँ।

दूसरा भाग

साधार शिक्षाके सात वर्षके पाठ्यक्रमकी रूपरेखा

१. साधार हस्त-कौशल

जो शिक्षा पूरी करनेपर जीवन-यापनका साधन हो सके, जैसे—(क) कताई-बुनाई, (ख) बढ़ईगिरी, (ग) खेती, (घ) फल और साग-सब्ज़ी उत्पन्न करना, (ङ) चमड़ेका काम, (च) दूसरी कोई भी हस्तकला, जो भौगोलिक और वर्त्तमान स्थितियोंको देखते हुए उचित हो और पहले दी गई बातें उसमें आती हों।

२. मातृभाषा

सब प्रकार की शिक्षाका माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। सात वर्षके पाठ्यक्रममें निम्नलिखित बातें प्राप्त होनी चाहिएँ—

(अ) बालक इस योग्य हो जाय कि अपने नित्य जीवनमें आनेवाली वस्तुओंके विषयमें बात कर सके और किसी बातपर विचार प्रकट कर सके, (आ) वह समाचार-पत्र आदि सरलतासे पढ़ और समझ सके, (इ) वह पद्य और गद्यको पढ़कर आनन्दित हो सके, (ई) उसे कोष आदि देखना आ जाय, (उ) वह स्पष्ट, कुशल और तीव्र

गतिसे किसी घटनाका वर्णन लिख और कर सके और (ऊ) अपनी चिट्ठी-पत्री लिख-पढ़ सकनेके अतिरिक्त वह अच्छे लेखकों और कवियोंकी रचनाएँ पढ़ और समझ सके।

३. गणित

इसका उद्देश्य बालकोंको अपने जीवनमें (चाहे घरेलू हों या बाहरी) आनेवाले हिसाब-किताब करने योग्य बनाना है। इसके लिये सादा जोड़, गुणा, भाग, दशमलव, त्रैराशिक, ब्याज, क्षेत्रफल, अमली ज्यामिति आदिका ज्ञान पर्याप्त है।

४. समाजका ज्ञान

इसके उद्देश्य ये हैं—

१. भारतीय उन्नतिको दृष्टिगत रखते हुए मनुष्यमात्रकी उन्नति करना, २. छात्र अपनी भौगोलिक परिस्थिति समझकर तदनुसार परिवर्त्तन कर सकें, ३. प्रेम एवं सच्चाई पूर्वक मिलकर देशकी भलाई कर सकें, ४. नागरिकोंके कर्त्तव्य और अधिकारका ज्ञान कर सकें, ५. विश्वासी पड़ोसी बनाना और ६. धार्मिक सहिष्णुता।

इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्रकी शिक्षाएँ लगभग एक-सी हैं। अपनी आवश्यकताओंको पूरा करनेके उपायोंका ज्ञान इस प्रकार हो सकता है—

१. बच्चोंको विश्वका मानचित्र दिखाया जाय। उसमें पहले महापुरुषोंकी जीवनी पढ़ाई जाय और पीछे सामाजिक-सांस्कृतिक उथल-पुथल एवं उन्नति। ऐसी शिक्षा न दी जाय कि किसीके प्रति घृणा उत्पन्न हो और वे पिछली उन्नतिके ही गर्वमें भूले रह जायँ।

२. लड़कोंको पंचायत, ज़िलाबोर्ड, नगरपालिका आदि जनसंस्थाओंका ज्ञान कराया जाय।

३. भूगोल पढ़ाते समय विश्वके मानचित्रमें भारतकी स्थिति एवं

अन्य देशोंसे उसका सम्बन्ध बताया जाय। इसके लिये कुछ बातें आवश्यक हैं—

क. भारत एवं अन्य देशोंके पेड़-पत्तों, पशुओं और मनुष्योंका वर्णन, ख. जलवायुका वर्णन, ग. मानचित्र देखनेकी क्षमता होना, घ. सम्वाद-वाहन एवं यातायातके साधनोंका ज्ञान, ङ. विभिन्न प्रकारकी कृषि और उद्योग-धन्धोंका ज्ञान।

५. साधारण विज्ञान

इसका उद्देश्य है कि—

१. बच्चे अपने आस-पासके विश्वको जान सकें, २. सामने आई वस्तुओंको ठीक वास्तविक रूपमें जान सकें, ३. वैज्ञानिक सिद्धान्तोंको समझने योग्य बन सकें और ४. प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंका जीवन-चरित जान सकें।

पाठ्यक्रममें विज्ञानके निम्नलिखित विषय सम्मिलित होने चाहिएँ—

क. प्रकृतिका पढ़ना : वनस्पति, पक्षी एवं चौपायोंका ज्ञान और विशेष ऋतुमें होनेवाली कृषिका ज्ञान।

ख. वनस्पतियोंका ज्ञान : पौधोंके अंगभेद, उनका उगना, बढ़ना और फैलना। विद्यालयकी फुलवारी एवं उपवनका निरीक्षण।

ग. पशु-विज्ञान : कुछ विशेष प्रकारके कीड़े-मकोड़ों, चौपायों और पक्षियोंका ज्ञान प्राप्त करना कि इसमें कौन मनुष्यके मित्र और कौन शत्रु हैं।

घ. शरीर-विज्ञान : मनुष्यका शरीर, उसके अंग और कार्य।

ङ. आरोग्य और स्वच्छता : (क) कुछ विशेष इन्द्रियों और त्वचा आदिकी स्वच्छता, (ख) घर और गाँवकी स्वच्छता, (ग) छूआछूतके रोग और उनसे बचनेके उपाय तथा (घ) दूसरोंकी सहायता तथा व्यायाम-द्वारा स्वास्थ्य बढ़ाना।

६. चित्रकला : इसमें आकृतियोंका ज्ञान एवं विभिन्न रंगोंका

प्रयोग। इसके लिये आवश्यक है कि बालक देखकर एवं सोचकर आकृतियाँ बनावें।

७. संगीत : बच्चे अच्छे और सुन्दर गीत कण्ठाग्र करें और लय तथा तालके साथ गा सकें। सामूहिक गान अच्छा है।

८. हिन्दी : इसको पढ़ानेका उद्देश्य यह है कि बच्चे प्रत्येक प्रान्तके साथ एक भाषामें सम्बन्ध रख सकें और एक दूसरेके भावोंको जान सकें।

तीसरा भाग

अध्यापकोंकी शिक्षाका पूरा पाठ्यक्रम :
(तीन वर्षका)

१. कपासका बोना, चुनना और धुनना, चर्खेका ज्ञान, विभिन्न प्रकारके मिस्त्रीके कार्य।

२. कोई एक उद्योग सीखना।

३. शिक्षाका उद्देश्य कुछ उत्पन्न करना हो अर्थात् शिक्षा ऐसी हो जिससे कुछ उत्पन्न हो। इसके लिये पहले ही रूपरेखा बना लेनी चाहिए।

४. शरीर-विज्ञान—स्वास्थ्य एवं स्वच्छताका ज्ञान।

५. जो कुछ समाजका ज्ञान साधार शिक्षामें पढ़ाया गया हो उसकी आवृत्ति करनी चाहिए और पिछले पचास वर्षके भारत एवं विश्वके विषयमें जानना चाहिए।

६. मातृभाषाका ज्ञान, जिससे उसके द्वारा प्रत्येक विषय पढ़ाया जा सके।

७. हिन्दीका ज्ञान—भारतके प्रत्येक भागमें फ़ारसी और नागरी पत्रोंको पढ़ना।

८. श्यामपट्टपर लिखना और चित्र बनाना।

९. शारीरिक व्यायाम और खेल।

१०. ट्रेनिंग स्कूलोंसे सम्बन्धित स्कूलोंमें पढ़ाना ठीक है। इस प्रकार चतुर, विज्ञ तथा सच्चे अध्यापक उत्पन्न हो सकेंगे।

अध्यापकोंकी शिक्षाका छोटा पाठ्यक्रम :

इसके लिये आवश्यक है कि एक वर्षका पाठ्यक्रम हो और पढ़ानेवाले सब प्रकारसे योग्य हों। इस पाठ्यक्रममें धुनाई, कताई आवश्यक होगी। कोई एक ऐसी हस्तकला रहेगी जो समाजके लिये लाभदायक हो। थोड़ा इतिहास-भूगोल भी रहेगा।

चौथा भाग

निरीक्षण और परीक्षण

क. निरीक्षण

निरीक्षणके लिये सहृदय और योग्य अध्यापक होने चाहिएँ।

ख. परीक्षण

प्रचलित प्रकार सर्वथा ही अशुद्ध है। एक श्रेणीसे दूसरीमें उन्नति कार्यके आधारपर होनी चाहिए।

पाँचवाँ भाग

प्रबन्ध

१. सात वर्षतक बालकोंका स्कूलमें रहना आवश्यक है। शिक्षा सात वर्षसे चौदह वर्षतक हो। हाँ, कन्याओंकी शिक्षा बारह वर्षसे भी प्रारम्भ हो सकती है। २. हमने जो सात वर्षकी आयु रक्खी है उसमें जीवनका वह महत्त्वपूर्ण भाग छूट जायगा जो निर्धन माता-पिताके बीच कटता है। ३. पाठ्यक्रम पढ़ानेमें साढ़े पाँच घण्टे लगेंगे। हस्तकलाके लिये विद्यालय २८८ दिन और महीनेमें चौबीस दिन पड़ता है। ४. अन्तिम दो श्रेणियोंमें कई हस्तकौशलोंका प्रबन्ध हो। ५. स्कूलका अपना उपवन

और क्रीड़ाक्षेत्र हो। ६. बालकोंको विद्यालयके घण्टेके बीचमें साधारण जलपान मिलना चाहिए। ७. अध्यापकका वेतन २५) और कमसे कम २०) होना चाहिए। ८. प्रारम्भमें योग्य अध्यापक हों और उनको अधिक वेतन दिया जाय। ६. श्रेणीमें बीस से अधिक छात्र न हों। १०. हो सके तो जिस गाँवमें विद्यालय हो वहींके व्यक्ति अध्यापक चुने जायँ। ११. स्त्रियाँ अपने मनकी शिक्षा चुनें और उन्हें शिक्षामें सुविधा दी जाय। १२. ट्रेनिंग स्कूलमें योग्य व्यक्ति ही लिए जाने चाहिएँ क्योंकि अध्यापक बननेवाला प्रत्येक व्यक्ति योग्य एवं अध्यापनमें रुचि रखनेवाले नहीं होता। १३. ट्रेनिंग स्कूलमें प्रत्येक वर्ग, धर्म और जातिके लोग हों जो साथ-साथ रहें। १४. हस्तकौशल सिखानेके लिये कुशल कारीगर होने चाहिएँ, भले ही निर्मित वस्तुओंके विक्रयमें अध्यापकोंसे सहायता ले ली जाय। १५. ट्रेनिंग कौलेजों और स्कूलोंमें अधिक परिमाणमें पाठ्य-क्रम रक्खे जायँ जिससे छुट्टीके दिनोंमें अध्यापक-वर्ग कार्य करके अपनी योग्यता नवीन बनाए रह सकें। १६. प्रत्येक ट्रेनिंग स्कूलके साथ ऐसे साधार विद्यालय रहने चाहिएँ जहाँ ट्रेनिंग पानेवालोंको वास्तविक शिक्षा दी जा सके। १७. स्कूलोंमें जो पाठ्यक्रम रक्खे जायँ उनमें विभिन्न विषयोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध होना चाहिए। अध्यापकोंके लिये उचित पुस्तकालय और पुस्तकें होनी चाहिएँ। पुस्तकें जो लिखी जायँ वे उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर ही लिखी जायँ। १८. परीक्षाके लिये प्रत्येक प्रान्तके शिक्षा-बोर्डको कुछ ऐसे अध्यापक रखने चाहिएँ जो विद्यालयके छात्रोंके कामका निरीक्षण करें और आगेकी श्रेणीमें उन्नति दें। १९. सरकारी शिक्षा-संघके अतिरिक्त कुछ असरकारी संस्थाएँ भी होनी चाहिएँ जिनका कार्य हो—(क) शिक्षाकी पौलिसीमें उचित सलाह देना, (ख) भारत एवं अन्य देशोंके शिक्षा-प्रयोगोंका अध्ययन करना तथा सूचना देना, (ग) शिक्षा-कार्यकी सूचनाएँ इकट्ठी करना, (घ) शैक्षणिक रिसर्चका कार्य (ङ) छोटी-छोटी पुस्तकें और पत्रिकाएँ निकालना। २०. सरकारके

विभिन्न विभागों (कृषि, स्वायत्त, राजस्व आदि) का शिक्षासे सम्बन्ध होना चाहिए।

वर्धा शिक्षा-योजनामें परिवर्त्तन

गाँधीजीके सभापतित्वमें वर्धामें जो शिक्षा-योजना बनी उसमें चार मुख्य आधार माने गए थे—

१. शिक्षा अनिवार्य हो, २. मातृभाषाके माध्यमसे हो, ३. किसी हस्त-कौशलपर अवलंबित हो और ४. आत्म-निर्भर हो।

किन्तु इस नीतिकी विस्तृत योजना बनानेके लिये डाक्टर ज़ाकिर हुसैनकी अध्यक्षतामें जो समिति शिमलामें बैठी उसने इसके चतुर्थ आधार अर्थात् आत्मनिर्भरताको निकाल दिया। इस योजनाके मुख्य प्रवर्त्तकों तथा अनुयायियोंका यह विश्वास है कि आत्मनिर्भरता ही वास्तवमें इस योजनाका मूल तत्त्व है जिसे अलग करना इस शिक्षाकी हत्या करना है। सावास आश्रमोंमें तथा त्यागी, देशभक्त, उदारचेता महापुरुषोंके गुरुकुलोंमें यह योजना अपने चतुर्थ आधार अर्थात् आत्म-निर्भरताकी साधना भी अवश्य कर सकती है, जैसा कि आज भी सेवाग्राममें उसका परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु इस आत्मनिर्भरताके सिद्धान्तको व्यापक लोक-शिक्षाकी योजनामें डाल देनेसे उसकी असफलता निश्चित और असंदिग्ध है क्योंकि स्वार्थ-बुद्धिसे अथवा व्यावसायिक बुद्धिसे काम करनेवाले लोग इस प्रकारकी योजनाका न तो सात्त्विक महत्त्व समझ सकते हैं न उदारतापूर्वक सात्त्विक भावनासे उसे कार्यान्वित कर सकते हैं। इसलिये ज़ाकिर हुसैन-समितिने व्यापक शिक्षा-योजनाकी दृष्टिसे आत्म-निर्भरताका आधार निकालकर बुद्धिमत्ताका ही परिचय दिया। किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि आत्म-निर्भरताका आधार निकाल देना इस योजनाके मौलिक सिद्धान्तका विरोध करना और उसकी हत्या करना ही है क्योंकि यह योजना विशिष्ट प्रकारके सात्त्विक, विरक्त

तथा निश्चित महात्माओंके द्वारा ही उसी वृत्तिके छात्रोंके लिये प्रयुक्त की जा सकती है, विभिन्न वृत्तियोंके अध्यापकों और छात्रोंके द्वारा नहीं।

वर्धा शिक्षा-योजनाके गुण

वर्धा-योजनाके प्रसारसे हमारी शिक्षा-पद्धतिके बाह्य रूपमें कुछ विशेष स्वस्थ परिवर्त्तन दिखाई देने लगे हैं—

१. विद्यालय-कक्षाओंकी पुरानी नीरसता समाप्त हो गई है।

२. केवल मौखिक रटन्त कार्यके बदले विविध प्रकारका रचनात्मक शारीरिक कार्य होने लगा है।

३. छात्रोंको अपनी रचनात्मिका प्रतिभाके विकासके लिये उन्मुक्त अवसर प्राप्त होने लगा है।

४. अध्यापक भी कक्षाकी नीरस पढ़ाई और दोष-सुधार करनेकी निर्जीव पद्धतिके बदले अब पथ-प्रदर्शक और आदेष्टा बन गए हैं।

५. कक्षा-प्रकोष्ठकी भीतोंपर छात्रोंकी कलात्मक कृतियोंका रंगबहुल प्रदर्शन होने लगा है और कक्षाएँ हँसने लगी हैं क्योंकि जिन दीवारोंपर कभी भूलसे भी चूना नहीं पोता जाता था, वे भी चित्र-निर्माण और चित्ररक्षाके लिये सुरूप रक्खी जा रही हैं।

६. छात्रोंमें परिश्रमके प्रति आदर उत्पन्न हुआ है और उन्हें किसी प्रकारका काम या व्यवसाय करनेमें संकोचके बदले गर्व होता है।

७. भावी जीवनमें छात्र जो व्यवसाय अपनाना चाहते हैं उसका वे पहलेसे निर्धारण कर सकते हैं (यद्यपि करते नहीं)।

८. स्वयं अपने हाथकी रचनासे छात्रोंकी सौन्दर्य-वृत्तिका विकास होता है, उन्हें अपनी कृतिमें आनन्द आता है और इस प्रकार उनमें अध्यवसाय (लगन), सटीकता, एकाग्रता, नियमितता और स्वच्छताका भाव बढ़ता चलता है।

९. एक प्रकारका कार्य करनेवाले सहयोगी कारीगरकी भावनासे

साथ-साथ काम करनेके कारण धनी और कंगाल बालकोंके बीच परस्पर भ्रातृत्व-भावनाका सम्वर्द्धन होता है।

वर्धा शिक्षा-योजनाकी त्रुटियाँ

यद्यपि ऊपर हमने इस योजनाकी आलोचना कर दी है किन्तु वह इसका बाह्य विश्लेषण-मात्र है। यदि हम क्रमसे चलें तो प्रतीत होगा कि—

१. महात्मा गान्धी शिक्षाशास्त्री नहीं थे। उन्होंने अपने आश्रममें कताई-बुनाईका प्रयोग करके जो परिणाम निकाले थे, वे एकदेशीय ही नहीं वरन् एकाश्रमीय थे, जहाँका प्रत्येक सदस्य सेवा, त्याग और आत्मसंयमके भावसे काम करता था। अतः ऐसे एक प्रकार और एक संकल्पके लोगोंके प्रयोगको सारे देशके लिये प्रयुक्त करना अत्यन्त अनुचित और भ्रमपूर्ण बात थी।

२. इन विद्यालयोंसे जो यह आशा की गई थी कि इनसे निकलनेवाले लोग परस्पर सहयोग करनेवाले समाजकी नींव डालेंगे, वह भी सिद्ध नहीं हुआ। उल्टे ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने लूटना-खाना प्रारम्भ किया और समाजको कलंकित किया।

३. विद्यालयोंसे विद्यालयका व्यय निकल आनेका विरोध तो प्रारम्भसे ही होता रहा, यहाँतक कि शिमलेमें जो इस योजनापर विचार हुआ उसमें स्वावलम्बी होनेकी बात छोड़ ही दी गई।

४. हाथके कामपर इतना बल दिया गया और इतना समय निश्चित किया गया कि बौद्धिक ज्ञान ठण्डा पड़ गया और यह परिणाम हुआ कि जिन प्रारम्भिक विद्यालयोंसे गणितके अच्छे कुशल छात्र निकलते थे, वहाँसे निकम्मे छात्र निकलने लगे और छात्रोंका सुलेखन-अभ्यास नष्ट हो गया।

५. विद्यालयोंमें छात्रोंने जो हाथका काम किया, वह न तो छात्रोंके काम आया, न सरकारने ही उसे मोल लिया। सब रद्दी करके फेंक दिया जाता है, जिससे राष्ट्रकी बड़ी क्षति होती है।

६. हस्तकौशलके द्वारा जो अन्य विषयोंकी शिक्षा देनेकी बात चली वह अत्यन्त अतिकृत, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक, अमनोवैज्ञानिक, आडम्बरपूर्ण तथा हास्यास्पद बनी रही।

७. इससे नैतिक या सामाजिक सहयोगके बदले अनैतिक और असामाजिक भावनाएँ उद्दीप्त हुईं और परस्पर असहयोग तथा अविश्वास बढ़ा। यहाँतक कि जात-पाँतके जो बन्धन यह प्रणाली तोड़ना चाहती थी वे अधिक कटु होकर दृढ़ होते गए। वर्त्तमान ग्राम-जीवन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

८. इससे समाज-सेवाकी भावनाके बदले स्वार्थ-साधनाकी वृत्ति ही बढ़ी।

९. जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह पाँच वर्षकी अवस्थासे प्रारम्भ होना चाहिए और उसमें चार वर्षसे अधिक नहीं लगने चाहिएँ। कारीगरों और किसानोंके बच्चे तो यह सब काम चार-पाँच महीनेमें ही आदिसे अन्ततक सीख सकते हैं।

१०. खेती, फल और साग-सब्ज़ी उत्पन्न करना कोई हस्त-कौशल नहीं है। यह तो शुद्ध व्यवसाय-वृत्ति है जो गाँवोंमें स्वभावतः होती है और नगरोंके लिये व्यर्थ है क्योंकि वहाँ भूमि प्राप्त नहीं है।

११. बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सबको सिखाकर उस स्थानके बढ़इयों और मोचियोंकी जीविकामें बाधा देना है और व्यर्थमें उनके मनमें गाँठ उत्पन्न करके समाजकी संयुक्त भावनाको छिन्न-भिन्न करके अनावश्यक रूपसे अस्वास्थ्यकर प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त जिन विद्यालयोंमें बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सिखाया जाता रहा है, वहाँके पाँच प्रतिशत छात्रोंने भी उसे व्यवसाय-वृत्तिके रूपमें स्वीकार नहीं किया, केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होने-भरके लिये वे उसका प्रयोग करते रहे।

१२. पाठ्यक्रममें समाजके ज्ञानके लिये जो विवरण दिया गया है

वह इतना विस्तृत, अव्यावहारिक और शिक्षा-विरोधी रख दिया गया है कि वह छात्रके लिये भारस्वरूप ही होगा। शिक्षाके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलना चाहिए अर्थात् अपने देशसे प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु इस योजनामें प्रारम्भसे ही संसारका इतिहास पढ़ानेकी कष्टकल्पना की गई है और इसी अवस्थामें म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदिके नियम भी सिखानेकी निरर्थक योजना बना दी गई है। यह तो हाई स्कूलके पश्चात् सिखानी चाहिए जब वे वयस्क होने लगें, जब उन्हें लोककार्यमें संलग्न होना पड़े उनके कच्चे मस्तिष्कपर यह भार क्यों डाला जाय!

१३. इसी प्रकार साधारण विज्ञानमें बहुत-सा ज्ञान तो गाँवके बालकोंको इस पाठ्यक्रमसे अधिक होता है, विशेषतः प्रकृति, वनस्पति और पशुविज्ञान। शरीर-विज्ञान, रसायन-शास्त्र और वैज्ञानिकोंकी कहानियाँ सीखकर वे क्या करेंगे!

१४. ड्राइंग और संगीत सबके लिये नहीं है। उसके लिये रुचि और प्राकृतिक साधन—उँगली और कण्ठ चाहिए। ऐसे व्यक्तिको ड्राइंग सिखानेसे क्या लाभ जो करैलेको कटहल और बैंगनको लौकी बना दे और ऐसे व्यक्तिको संगीत सिखानेमें समय क्यों नष्ट किया जाय जो सदा गर्दभ-स्वरमें रेंकता हो एवं फटे बाँससे स्वर मिलाता हो। ये विषय अनिवार्य न रखकर ऐच्छिक रक्खे जा सकते हैं। हाँ, सामूहिक गान या भजनके अभ्यासमें कोई दोष नहीं है।

१५. हिन्दुस्तानीकी अनिवार्यता इस योजनाकी सबसे बड़ी भूल थी, विशेषतः दो लिपियोंके साथ। यह अच्छा हुआ कि राष्ट्रने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिको राष्ट्रीय व्यवहारके लिये स्वीकार कर लिया।

१६. परीक्षाका पाप अभीतक बना हुआ है जो शिक्षाका सबसे भयंकर घुन है।

१७. अध्यापकोंके वेतनके सम्बन्धमें जो बीस और पचीस रुपए मासिकका विधान किया गया है वह अत्यन्त लज्जाजनक है। जान पड़ता है इसके विधायकोंने यह समझ लिया है कि अध्यापक वेदान्ती संन्यासी होता है जिसके पास न परिवार होता है न अन्य कोई आवश्यकता।

१८. केवल हस्त-कौशलपर अधिक एकाग्र होनेसे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और मनन-शक्ति शिथिल होने लगती है।

१९. हस्त-कौशलमें रचना-शक्तिके विकासके लिये अत्यन्त परिमित क्षेत्र है।

२०. भारत जैसे दरिद्र देशमें रूई, रंग, दफ्ती और लकड़ी जैसे आवश्यक पदार्थोंका अत्यन्त विनाश श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि शिक्षा तो ऐसी होनी चाहिए कि 'हल्दी लगे न फिटकिरी, रंग चोखा आवे'।

२१. एक ही आकार-प्रकार तथा रूपकी सामग्री विद्यालयोंमें अधिक बना देनेसे उसकी खपत नहीं होती और इस प्रकार प्रोत्साहनके अभावमें छात्रोंमें निरुत्साहिता और नीरसता व्याप्त हो जाती है।

२२. साथ-साथ काम करनेपर भी ऊँच-नीचका भेद बना ही रहता है।

२३. एक ही प्रकारके या कुछ गिने-चुने प्रकारके हस्त-कौशलके साथ माथा-पच्ची करते-करते धीरे-धीरे उससे विराग हो जाता है क्योंकि नई वस्तुमें ही कुतूहल होता है, एक ही वस्तु दिन-रात देखते-देखते मनुष्यका मन ऊबने लगता है।

२४. विद्यालयके पाठ्यक्रमके अन्तर्गत सभी विषय हस्त-कौशलके आधारपर नहीं सिखाए जा सकते और यदि सिखाए भी जायँ तो वे कृत्रिम आधार ग्रहण करनेके कारण अस्वाभाविक, सटीकताके अभावमें अवैज्ञानिक और उचित वातावरणमें उपस्थित न किए जानेके कारण असंगत या अमनोवैज्ञानिक होंगे। हस्त-कौशलपर इतना अधिक बल देनेसे राष्ट्रीय बौद्धिक चेतनाके कुण्ठित हो जानेकी अधिक सम्भावना

है क्योंकि व्यवसायमें फँसे रहनेवाले व्यक्तिमें राष्ट्र-धर्म तथा राष्ट्रीय आत्म-सम्मानकी भावना उतनी प्रस्फुरित नहीं होती जितनी व्यापक और उदार शिक्षा पाए हुए व्यक्तिमें।

२५. शिक्षासे विषयोंके अन्तर्योगका तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक रूपसे पाठ्य विषयोंमें पारस्परिक एकात्मता स्थापित हो। किन्तु वर्धा-शिक्षा-योजनामें हस्त-कौशलके साथ पाठ्य-क्रमके विभिन्न विषयोंका अन्तर्योग कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है।

२६. अध्यापकके व्यक्तित्वका कोई महत्त्व नहीं रह गया और वे पुतलीघरोंके फ़ोरमैन मात्र बने रह गए हैं।

२७. इस शिक्षा-योजनामें धार्मिक, नैतिक तथा शारीरिक शिक्षाके लिये किसी प्रकारका कोई विधान नहीं है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणों और दोषोंका भली-भाँति परीक्षण कर लेनेपर यह समझनेमें तनिक भी सन्देह न रहेगा कि यह शिक्षा-योजना व्यापक रूपसे प्रयोग करनेपर तो सफल नहीं हो सकती किन्तु कुछ विशिष्ट अध्यापकोंके द्वारा इसका सफल प्रयोग अवश्य किया जा सकता है। इसमें यदि उचित सुधार न हुआ और इसे ठीक रूपसे व्यवस्थित न किया गया तो बची-खुची शिक्षा भी चौपट हो जायगी।

यह योजना बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त (अब उत्तर-प्रदेश), आसाम और उड़ीसाकी सरकारोंने कुछ थोड़ा हेर-फेर करके चलाई। उत्तरप्रदेश-सरकारने तो प्रयागमें बेसिक ट्रेनिंग कौलेज भी खोल दिया। मद्रास, बंगाल, पंजाब और सीमाप्रान्त तथा सिन्ध (अब पाकिस्तानमें) ने यह आधार-योजना नहीं स्वीकार की; यद्यपि निजी विद्यालयोंको इसका प्रयोग करनेके लिये छूट अवश्य दे दी। उड़ीसा-सरकारने तो दो वर्षमें ही कन्धा डाल दिया और ६ फ़रवरी १९४१-को आधार विद्यालय बन्द करनेका निश्चय भी घोषित कर दिया। सन् १९४१ के अप्रैलमें जब दिल्लीमें द्वितीय आधार-शिक्षा-सम्मेलन (सेकेंड बेसिक

एजुकेशन कौन्फ़रेन्स) हुआ तो उसमें इस योजनाके बड़े गीत गाए गए और सबसे अधिक घातक निर्णय यह किया गया कि इसमें कोई हेरफेर न किया जाय। यह हठवादिता अक्षम्य है क्योंकि शिक्षाके क्षेत्रमें तो सदा अच्छेका ग्रहण और बुरेका त्याग मान्य होना चाहिए।

सार्जेण्ट शिक्षा-योजना

ब्रिटिश शिक्षा-पद्धतिके युद्धोत्तर प्रसारके सम्बन्धमें पार्लियामेण्टके सम्मुख प्रस्तुत किए हुए श्वेतपत्रका प्रारम्भ इन शब्दोंसे हुआ है--

"इस देश (भारत) का भाग्य इस देशकी जनताकी शिक्षापर अवलंबित है।"

"और यदि ग्रेट ब्रिटेन इस देशका उद्धार चाहता है तो वह जहाँ अपने देशमें एक व्यक्तिपर तैंतीस रुपए दो आने प्रतिवर्ष व्यय कर रहा है और उसकी तुलनामें भारतमें जहाँ एक व्यक्तिपर आठ आने नौ पाई प्रतिवर्ष व्यय करता है वहाँ उसे भारतीय शिक्षापर अधिक व्यय करना चाहिए।"

विचारणीय विषय

सन् १९३५ में भारतका केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-मण्डल (सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड औफ़ एजुकेशन) पुनः संघटित हुआ और उसने शिक्षाके निम्नलिखित विषय अध्ययन करने और उनपर अपना अध्ययन-विवरण प्रस्तुत करनेका संकल्प किया--

१. बेसिक एजुकेशन या आधार-शिक्षा

२. एडल्ट एजुकेशन या प्रौढ़-शिक्षा

३. फ़िज़िकल वैलफेयर औफ़ स्कूल-चिल्डरन या विद्यालयके छात्रोंकी स्वास्थ्य-रक्षा

४. स्कूल बिल्डिंग या विद्यालय-भवन

५. सोशल सर्विस या समाज-सेवा

६. प्रारम्भिक मिडिल और हाई स्कूलोंके अध्यापकोंकी शिक्षा और सेवाके अभिसंधान।

७. शिक्षाधिकारियोंकी भरती।

८. टेकनिकल एजुकेशन या व्यावसायिक शिक्षा, जिसके अन्तर्गत वाणिज्य और कला भी हैं।

सदस्य

इस केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-मण्डलके अध्यक्ष सरदार जोगेन्द्रसिंह थे जो उस समय वाइसरायकी कार्यकारिणी-समितिके शिक्षा, स्वास्थ्य तथा भूमि-विभागोंके सदस्य थे। भारत-सरकारके शिक्षा-परामर्शदाता जौन सार्जेण्ट इसके पदेन सदस्य थे। अन्य सदस्योंमें कुछ भारत सरकार-द्वारा मनोनीत थे, कुछ सामन्त-सभा-द्वारा, कुछ व्यवस्थापिका सभा-द्वारा, और कुछ भारतके अन्तर्विद्यालय-मण्डल-द्वारा।

शेष सदस्य विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा-सचिव और शिक्षा-संचालक थे। इसके मंत्री थे श्री डी० एन्० सेन, भारत-सरकारके सहायक शिक्षा-परामर्श-दाता। यह योजना मुख्य रूपसे जौन सार्जेण्टने ही प्रस्तुत की थी इसलिये यह उनके ही नामसे प्रसिद्ध है।

प्रस्ताव

भारतके इस केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-मण्डल (सेण्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड औफ़ एजुकेशन) ने १९ जनवरी सन् १९४४ को भारतीय शिक्षाका पूर्ण पर्यवेक्षण करके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना प्रस्तुत की जो सार्जेण्ट योजनाके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें मुख्य बातें ये कही गईं कि—

१. छःसे चौदह वर्षतकके अवस्थावाले सब बच्चों (बालक-बालिकाओं) को अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

२. शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो।

३. सर्वबोध्य भारतीय भाषा हिन्दुस्तानीको हिन्दी (नागरी) और उर्दू लिपिके माध्यमसे पढ़ाया जाय।

४. सांस्कृतिक विषय स्वतन्त्र रूपसे पढ़ाए जायँ।

५. अध्यापकोंका सामाजिक मान बढ़ाया जाय।

६. कोई अध्यापक तीस रुपये मासिकसे कम वेतन न पावे।

७. प्रारंभिक कक्षाओंमें महिला अध्यापिकाओंकी संख्या बढ़ा दी जाय, विशेषतः पूर्व प्रारंभिक कक्षाओंमें निःशुल्क शिक्षाके लिये केवल ऐसी अध्यापिकाएँ ही रक्खी जायँ जो सामाजिक शिष्टाचार सिखा सकें।

८. पाठ्यक्रमका पुनः संस्कार किया जाय।

९. धार्मिक शिक्षा ऐच्छिक हो, अनिवार्य न हो।

१०. जूनियर या उत्तर प्रारम्भिक अवस्थामें अँगरेजी न पढ़ाई जाय किन्तु उच्च माध्यमिक अवस्था (सीनियर स्टेज) में प्रान्तीय शिक्षा-विभाग आवश्यकतानुसार उसका संयोजन करें।

११. किसी प्रकारकी सार्वजनिक परीक्षाएँ (मिडिल या हाई स्कूल) न ली जायँ।

विस्तृत योजना

सार्जेण्ट शिक्षा-समितिने भारतीय समाजकी आवश्यकताओंका ध्यान रखते हुए जो विस्तृत योजना बनाई उसमें उन्होंने शिक्षाकी सभी अवस्थाओंपर विचार किया।

१. शिशुशाला (नर्सरी स्कूल) : छः वर्षसे कम अवस्थाके बालकोंके लिये शिशु-विद्यालय खोले जायँ, जिनमें बाल-शिक्षा-शास्त्रमें निष्णात केवल महिलाएँ ही अध्यापन-कार्य करें और वे केवल शिष्टाचारकी शिक्षा दें। इस पूर्वप्रारंभिक अवस्थामें जो शिक्षा दी जाय वह देशव्यापी, निःशुल्क और अनिवार्य हो।

२. आधार-शिक्षा (बेसिक एजुकेशन : प्राइमरी तथा मिडिल) : छःसे चौदह वर्षकी अवस्थाके बालकों और बालिकाओंको यथाशीघ्र व्यापक, अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा देनेकी व्यवस्था की जाय। जब बालक छः वर्षके हो जायँ तब उन्हें प्रारम्भिक (प्राइमरी)

अथवा लघ्वाधार (जूनियर बेसिक) पाठशालामें भरती किया जाय जहाँ वे कम-से-कम पाँच वर्षतक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करें। लघ्वाधार पाठशाला (जूनियर बेसिक स्कूल) पार कर चुकनेपर वे उच्चाधार (सीनियर बेसिक या मिडिल) श्रेणीकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उच्चाधार विद्यालयों (सीनियर बेसिक स्कूलों) में तीन वर्षतक (ग्यारहसे चौदह वर्षकी अवस्थातक) अध्ययन करें।

३. प्रारम्भिकोत्तर विद्यालय (पोस्ट प्राइमरी स्कूल) : प्रारम्भिक या लघ्वाधार (प्राइमरी या जूनियर बेसिक) पाठशालाके पाठ्यक्रमके पश्चात् उच्चाधार (सीनियर बेसिक या मिडिल) विद्यालयोंके अतिरिक्त एक और भी प्रकारके प्रारम्भिकोत्तर विद्यालय हों जिनमें ग्यारह वर्षकी अवस्थाके बालक भरती किए जायँ और जिनमें पाँच वर्षतक अनेक प्रकारके विषयोंकी शिक्षा दी जाती रहे जिससे कि वे व्यवसाय और वाणिज्यमें भी सीधे प्रवेश कर सकें या उसमेंसे निकलकर विश्व-विद्यालयोंमें भी प्रवेश पा सकें। ऐसा भी विशेष प्रबन्ध किया जाय कि उच्चाधार विद्यालय (सीनियर बेसिक या मिडिल स्कूल) में पढ़ानेवाले या पढ़े हुए विद्यार्थी भी इन प्रारम्भिकोत्तर विद्यालयोंमें भरती किए जा सकें।

४. उच्चाधार कन्या-विद्यालय (सीनियर बेसिक गर्ल्स स्कूल) लघ्वाधार (जूनियर बेसिक) अथवा प्रारम्भिक अवस्थामें तो बालक और बालिकाओंकी शिक्षा समान हो किन्तु उच्चाधार (सीनियर बेसिक) अवस्थामें कन्याओंके पाठ्यक्रममें अप्राकृत विषय बढ़ा दिए जायँ—पाकशास्त्र (भोजन बनाना), धुलाई-रँगाई, सीने-पिरोने तथा कसीदेका काम, बुनाई, गृहस्थी, बच्चोंकी देखभाल और आकस्मिक चिकित्सा।

५. उच्च विद्यालय (हाइ स्कूल) उच्च विद्यालयोंमें ग्यारह वर्षकी अवस्थाके बालक चुनकर भरती किए जायँ जो वास्तवमें शिक्षासे

लाभ उठा सकें। इन विद्यालयोंकी शिक्षावधि छः वर्षकी हो और इनमें विभिन्न प्रकारके पाठ्यक्रमोंकी योजना की जाय। इस प्रकार इन विद्यालयोंके निम्नलिखित रूप हों—

क. शास्त्रीय उच्च विद्यालय (ऐकेडेमिक हाइ स्कूल)

ख. व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक विद्यालय (टेकनिकल हाइ स्कूल)

ग. उच्च कन्या विद्यालय (गर्ल्स हाइ स्कूल)

६. **विश्वविद्यालयकी शिक्षा** : विश्वविद्यालयोंमें उपाधि (डिग्री अथवा बी० ए० के समकक्ष) परीक्षाके लिये दो वर्षके बदले तीन वर्ष लगाए जायँ। इण्टर कक्षाएँ तोड़ दी जायँ और उस इण्टरका पहला वर्ष हटाकर विद्यालयमें जोड़ दिया जाय और दूसरा विश्वविद्यालयमें, जिससे विश्वविद्यालयमें पढ़नेवाले छात्रको कम-से-कम तीन वर्षतक विश्वविद्यालयका सम्पर्क प्राप्त हो सके।

७. **व्यावसायिक शिक्षा** : व्यवसाय (इण्डस्ट्री), वाणिज्य (कौमर्स) और कला (आर्ट) के सम्बन्धमें सार्जेण्ट-समितिने वे ही सुझाव दिए जो ऐबट और वुडने व्यावसायिक शिक्षाके सम्बन्धमें प्रस्तुत किए थे। किन्तु सार्जेण्ट-समितिने बहुशिल्पीय विद्यालयों (पौलिटेकनिकल) के बदले एक-शिल्पीय (मोनो-टेकनिकल) विद्यालय खोलना अधिक श्रेयस्कर बताया।

८. **सयानोंकी शिक्षा (ऐडल्ट एजुकेशन)** : सरकारको चाहिए कि अगले बीस बरसोंतक वह साक्षरता-आन्दोलन चलावे और इस कार्यको स्वयं अपने हाथमें लेकर शिक्षा-संस्थाओंके सहयोगसे इसे समृद्ध तथा शक्तिशाली बनावे।

९. **अध्यापकोंकी शिक्षा** : अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये जो आजकल क्रम चल रहा है उसमें थोड़ा-सा परिवर्त्तन करके यह व्यवस्था की जाय कि शिशुशालाकी अध्यापिकाओंको दो वर्ष, लघु तथा उच्चाधार

पाठशालाओंके अध्यापकोंको तीन वर्ष, जो बी० ए० उत्तीर्ण न हों उन्हें दो वर्ष और बी० ए० उत्तीर्ण अध्यापकोंको एक वर्षतक विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंकी आवश्यकताके अनुरूप शिक्षाशास्त्रका अध्ययन कराया जाय।

१०. **स्वास्थ्य** : विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्रों तथा छात्राओंके स्वास्थ्य-वर्धन तथा स्वस्थ वातावरणमें उनके पोषणकी व्यवस्थाका प्रबन्ध सरकारको करना चाहिए।

११. **जड़ तथा विकलांगोंकी शिक्षा** : हमारे देशमें जो असंख्य जड़, पागल, विकलांग (अन्धे, लँगड़े, लूले आदि) हैं उनकी शिक्षाका विशेष प्रबन्ध करना सरकारका परम धर्म है; विशेषतः बहरे और अन्धे बालकोंके लिये विदेशोंमें जो नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ चल निकली हैं उनका प्रयोग सरकारको तत्काल करना चाहिए।

१२. **मनोरंजन तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ** : विभिन्न प्रान्तके शिक्षा-विभागोंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने विद्यालयोंको ऐसी मनो रंजनात्मक तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंके संयोजनके लिये पेरित करें जिनसे युवकोंमें उत्साह भरे और उन्हें नेतृत्वकी शिक्षा मिले।

१३. **वृत्ति विमर्श केन्द्र (ऐम्प्लौयमेंट ब्यूरो)**: सरकारको स्थान-स्थानपर ऐसे वृत्ति-विमर्श-केन्द्र खोल देने चाहिएँ जहाँ पहुँचकर विद्यालयोंसे निकले हुए छात्र अपनी योग्यताके अनुरूप वृत्ति, व्यवसाय या स्थान प्राप्त कर सकें और आवश्यक आदेश, निर्देश और परामर्श प्राप्त कर सकें।

इन सुझावोंके अतिरिक्त सार्जेण्ट-समितिने विस्तारसे यह समझानेका प्रयत्न किया है कि विद्यालयोंकी देखभाल और उनका निरीक्षण किस प्रकार किया जाना चाहिए। अपनी योजनाका उपसंहार उन्होंने इस चीनी कहावतसे किया है—

यदि एक वर्षकी योजना बनानी हो तो अनाज बोओ।
दस वर्षकी बनानी हो तो पेड़ लगाओ।
सौ वर्षकी बनानी हो तो मनुष्य बनाओ।

सार्जेण्ट-योजनाका विश्लेषण

भारतवर्षमें अभीतक जितनी शिक्षा-योजनाएँ बनीं, उन सबमें सर्वाङ्गपूर्ण, व्यवस्थित तथा शिक्षासे सम्बद्ध सब क्षेत्रोंको स्पर्श करनेवाली यदि कोई योजना बनी तो यह सार्जेण्ट-योजना ही थी। किन्तु इस योजनामें भी सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अनेक प्रकारके ऐसे विद्यालय खोलनेका सुझाव दे दिया गया जिनकी व्यवस्था करना सरकार और जनता दोनोंकी शक्तिसे बाहर है। दूसरी त्रुटि यह रह गई कि शिक्षाको व्यावसायिक बनानेके फेरमें नैतिक तथा धार्मिक शिक्षाकी पूर्णतः उपेक्षा की गई। शारीरिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी कोई ठीक योजना प्रस्तुत नहीं की गई और सबसे मुख्य बात तो यह है कि अध्यापकोंके वेतन-मानके सम्बन्धमें इस समितिने भी अत्यन्त कृपणताका परिचय दिया है। अध्यापकोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें भी जो दो-दो तीन-तीन वर्षका पाठ्य-क्रम रक्खा है, वह भी निरर्थक है क्योंकि अध्यापकके लिये शिक्षा-कला और शिक्षा-शास्त्रका जितना आवश्यक अंग है वह तो छः मासमें ही पूरा हो सकता है। ध्यान केवल यही रखना चाहिए कि ऐसे ही व्यक्ति अध्यापन-कार्यके लिये लिए जायँ जिनमें शिक्षणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो। इस समितिने जड़ तथा विकलांग व्यक्तियोंकी शिक्षाके लिये जो सुझाव दिया है वह अवश्य श्लाघ्य है और वृत्ति-विमर्श-केन्द्र खोलनेकी भी जो सम्मति दी है वह यदि सद्भावनाके साथ कार्य-रूपमें परिणत की जाय तो देशकी बेकारी घटानेमें वह अवश्य सहायक हो सकती है। व्यापक रूपसे देखा जाय तो यह योजना अपने ढंगकी नई, पूर्ण, व्यापक तथा सर्वाङ्ग-स्पर्शी है।

विश्वविद्यालय शिक्षा-समीक्षण मण्डल [१९४८]

स्वतन्त्र भारत सरकारने ४ नवम्बर १९४८ को डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्की अध्यक्षतामें निम्नलिखित विषयोंपर विचार करनेके लिये एक शिक्षा-समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया—

विचारणीय विषय

१. भारतीय विश्वविद्यालय-शिक्षा और अन्वेषणके उद्देश्य।

२. भारतीय विश्वविद्यालयोंकी प्रबन्धकारिणी समितियोंमें आवश्यक परिवर्तन और प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारसे उनका सम्बन्ध।

३. विश्वविद्यालयोंकी आर्थिक योजना।

४. विश्वविद्यालयों और उनके अधीन महाविद्यालयोंमें शिक्षा तथा परीक्षाके उच्चतम मान (स्टैण्डर्ड) की स्थापना।

५. मानव-वृत्तियों और विज्ञानोंके बीच तथा शुद्ध विज्ञान और शिल्प-शिक्षाके बीच उचित सन्तुलनकी स्थापनाको दृष्टिमें रखते हुए विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रम।

६. अनुचित भेद-भावको दूर रखते हुए और विश्वविद्यालयकी प्रवेशिका परीक्षाके स्वतन्त्र औचित्यकी दृष्टिसे विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रममें प्रविष्ट होनेका मान (स्टैण्डर्ड)।

७. विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाका माध्यम।

८. भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, भाषा, दर्शन तथा ललित कलाओंके उच्चतम अध्ययनकी व्यवस्था।

९. प्रादेशिक अथवा अन्य आधारोंके अनुसार अधिक विश्वविद्यालयोंकी आवश्यकता।

१०. विश्वविद्यालयों तथा उच्चतम अन्वेषणकी संस्थाओंमें ज्ञानकी समस्त शाखाओंके सम्बन्धकी श्रेष्ठतम खोजका कार्य ऐसी सुसंबद्ध रीतिसे व्यवस्थित करना कि जिससे शक्ति और साधनोंका अपव्यय न हो।

११. विश्वविद्यालयोंमें धार्मिक शिक्षा।

१२. काशी, अलीगढ़, दिल्ली आदि अखिल भारतीय रूपके विश्वविद्यालयों तथा विद्यापीठोंकी विशेष समस्याएँ।

१३. अध्यापकोंकी योग्यता, सेवाके अभिसंधान, वेतन-मान, अधिकार तथा कर्त्तव्य और अध्यापकोंके द्वारा मौलिक खोजके लिये प्रोत्साहन।

१४. छात्रोंका विनय और शील, छात्रावास, शिक्षा-व्यवस्था तथा अन्य ऐसे सभी विषय जो विश्वविद्यालयकी शिक्षा तथा भारतमें अभ्युन्नत खोजकी पूर्ण तथा व्यापक जिज्ञासाके लिये आवश्यक हों।

सदस्य

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्के अतिरिक्त इस मण्डलके अन्य नौ सदस्योंमें डा० ताराचन्द, सर जेम्स डफ़, डा० ज़ाकिर हुसैन, डा० आर्थर ई० मोर्गन, डा० ए लक्ष्मणस्वामी मुदालियर, डा० मेघनाद साहा, डा० कर्मनारायण बहल, डा० जौन० जे० टिगर्ट तथा श्री निर्मलकुमार सिद्धान्त थे। इस मंडलने अनेक शिक्षा शास्त्रियोंसे विचार विमर्श करके, अनेक विश्वविद्यालयों और विद्यालयोंमें घूमकर, सबका विवरण लेकर, अनेक विद्वानोंसे अपनी प्रश्नमालाका उत्तर लेकर, सन् १९४९ में ६७० पृष्ठका एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

मंडलका निष्कर्ष

इस मण्डलने विश्वविद्यालय-शिक्षाकी समस्त शाखाओंका भली प्रकार निरीक्षण करके यह सुझाव दिए कि—

१. उच्च श्रेणीकी व्यापक, व्यावसायिक तथा जीविका-योग्य शिक्षापर ही लोकतंत्र अवलम्बित है अतः सामाजिक उद्देश्योंके आधारपर ही हमें

अपना नीति स्थापित करनी चाहिए। यदि हम आत्माको भूखा रखकर केवल व्यावसायिक और शिल्पीय शिक्षा देंगे तो ऐसा राक्षस-राज्य बनेगा जिसके वैज्ञानिकोंमें अध्यात्म-चेतना नहीं होगी तथा यांत्रिकोंमें नैतिक शून्यता व्याप्त होगी। अतः सभ्य होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने समाजमें दीनोंके लिये दया, महिलाओंके लिये आदर, मनुष्य-मात्रके लिये भ्रातृत्व, शान्ति और स्वातंत्र्यके लिये प्रेम, निर्दयताके लिये घृणा और न्याय-प्राप्तिके लिये अनवरत भक्तिकी भावनाको समृद्ध करें। अत: विश्वविद्यालयोंका काम यह है कि वे इन आदर्शोंका पालन करें और अधिकाधिक संख्यामें लोगोंको शिक्षित करनेके उचित साधन प्रस्तुत करके उन्हें उचित रीतिसे शिक्षा दें।

२. अध्यापकोंका महत्त्व, उत्तरदायित्व तथा वेतनमान बढ़ा दिया जाय और चार प्रकारके प्राध्यापक हों—महाध्यापक (प्रोफेसर), संप्राध्यापक (रीडर), प्राध्यापक (लैक्चरर) और निर्देशक (इंस्ट्रक्टर); खोज करनेके लिये कुछ विद्वद्वृत्तियाँ दी जायँ, योग्यताके आधारपर वेतनमान बढ़ाया जाय, उचित प्राध्यापकोंके चुनावपर विशेष ध्यान दिया जाय, साठ वर्षकी अवस्थापर अवकाश दिया जाय (किन्तु महाध्यापकोंकी अवधि चौंसठ वर्षतक भी बढ़ाई जा सकती है); और पोषण-कोष (प्रोविडेंट फण्ड), छुट्टी तथा शिक्षण-अवधिके सम्बन्धमें निश्चित नियम बना दिए जायँ।

३. विश्वविद्यालयोंमें इण्टरमीजिएट परीक्षाके पश्चात् ही छात्र भरती किए जायँ, छात्रोंको विभिन्न व्यवसायोंकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये व्यावसायिक विद्यालय खोले जायँ, हाइ स्कूल और इन्टरमीजिएटके अध्यापकोंका ज्ञान अभिनव बनानेके लिये पुनर्नवा-पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) चलाया जाय, विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयोंके शास्त्र-(आर्ट्स) विभागमें ३००० और विज्ञान-विभागमें १५०० से अधिक छात्र न लिए जायँ, वर्षमें परीक्षाके दिन छोड़कर कम-से-कम १८० दिन अवश्य पढ़ाई हो, ग्यारह-ग्यारह सप्ताहके तीन सत्र हों, केवल

व्याख्यानोंके बदले व्यक्तिगत शिक्षा, पुस्तकालय-प्रयोग तथा लिखित अभ्यासोंकी प्रधानता हो; किसी भी विषयके लिये निर्धारित पाठ्य-पुस्तकें न हों, छात्रोंकी उपस्थिति अनिवार्य हो, निजी रूपसे परीक्षा देनेकी आज्ञा गिने-चुने विशिष्ट लोगोंको ही दी जाय, विभिन्न प्रकारके कार्यालयोंमें काम करनेवाले लोगोंके लिये सान्ध्य विद्यालय चलाए जायँ और प्रयोग-शालाएँ सम्पन्न की जायँ।

४. एम्. ए. और एम्. एस्-सी. उपाधिके लिये समान नियम हों तथा विज्ञानकी पढ़ाईके लिये विशेष व्यवस्था हो।

५. चिकित्सा-विद्यालयोंमें सौ विद्यार्थी भरती किए जायँ, व्यवसाय-शिक्षाके लिये विशेष व्यावसायिक कौशलकी शिक्षा दी जाय, सरकारी नौकरीके लिये विशेष शिक्षाका प्रबन्ध किया जाय, व्यावसायिक शिक्षा, मज़दूरोंकी समस्या तथा बाज़ारके सम्बन्धमें अन्य ज्ञातव्य बातोंकी शिक्षा देनेके लिये एक अलग पाठ्य-क्रम बनाया जाय।

६. धार्मिक शिक्षाके लिये शांत ध्यान, धार्मिक नेताओंके जीवन-चरित, धर्मग्रन्थ तथा धर्मदर्शनकी क्रमशः शिक्षा दी जाय।

७. राष्ट्र-भाषामें वे सब शब्द लिए जायँ जो विभिन्न स्रोतोंसे चल पड़े हैं किन्तु वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दोंके लिये अन्ताराष्ट्रिय शब्द लेकर उन्हें भारतीय ध्वन्यनुकूल रीतिसे लिखा जाय। उच्च शिक्षाके लिये भारतीय भाषा ग्रहण की जाय (किन्तु संस्कृत नहीं)। उच्च विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके छात्रोंको प्रादेशिक भाषा, राष्ट्रभाषा और अँगरेज़ी जाननी चाहिए। राष्ट्रभाषा केवल देवनागरी लिपिमें ही लिखी जाय। नवीनतम ज्ञानसे परिचित रहनेके लिये हाई स्कूलों और विश्वविद्यालयोंमें अँगरेज़ी पढ़ाई जाय किन्तु राष्ट्र-भाषाके शिक्षणके लिये तत्काल उपाय किए जायँ।

८. सार्वजनिक परीक्षा बंद करके विभिन्न नौकरियोंके लिये सरकार अपनी परीक्षा ले; वर्ष-भरके कामपर एक तिहाई अंक दिए जायँ; परीक्षाएँ

छोटे-छोटे खंडोंमें और एक-एक विषयके अनुसार अलग-अलग समयपर ली जायँ, इकट्ठी नहीं, और जब कोई छात्र एक पाठ्य-क्रमके सब विषयोंमें उत्तीर्ण हो जाय तब उसे उपाधि दी जाय। सब विश्वविद्यालयोंमें उत्तीर्ण होनेके अंक समान हों और मौखिक परीक्षा केवल परस्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) तथा व्यावसायिक परीक्षाओंमें ही ली जाय।

९. छात्रोंकी भरती योग्यताके आधारपर हो; योग्य तथा वास्तवमें दीन छात्रोंको ही छात्रवृत्ति दी जाय; छात्रोंके स्वास्थ्यका ध्यान रक्खा जाय और ऐसे सब उपाय किए जायँ जिनसे उनके शारीरिक वैभवका विकास हो; राष्ट्रीय सैन्यमण्डल (नेशनल केडेट कोर) में सभी छात्र और छात्राओंको भरती किया जाय; समाज-सेवाकी भावना छात्रोंमें भरी जाय; छात्रावासोंसे जातीयता हटाकर शिक्षित भोजन-शास्त्रियोंके अधीन पाक-शालाएँ चलाई जायँ; अध्यापकोंके साथ छात्रोंका संपर्क बढ़ाया जाय; अत्यन्त सुशील तथा मेधावी छात्र ही अग्रणी (मौनीटर) बनाए जायँ; छात्र-संघोंकी प्रवृत्तियाँ यथासंभव राजनीतिक प्रवृत्तियोंसे दूर हों और उनमें विश्वविद्यालयोंके अधिकारियोंका कोई हस्तक्षेप न हो; छात्रोंको दलगत राजनीतिसे दूर रखकर उन्हें स्वशासनके कार्यमें प्रवृत्त किया जाय और अध्यापक, अभिभावक, राजनीतिक नेता, जनता और समाचार-पत्रोंका भी सहयोग लिया जाय और छात्र-सुविधा-मंडल (एडवाइज़री बोर्ड औफ़ स्टूडेंट्स वेलफेयर) स्थापित किया जाय जो निरन्तर छात्रोंकी सुविधाओंके उपाय सोचे।

१०. महिलाओंकी शिक्षाके सम्बन्धमें अधिक ध्यान देकर उन्हें शिक्षाकी अधिक सुविधाएँ दी जायँ; शिक्षाके तत्त्वोंमेंसे कुछ तो महिला और पुरुष दोनोंके लिये समान हों किन्तु दोनोंकी पूरी शिक्षा एक सी न हो और महिला अध्यापकोंको पुरुषोंके समान ही वेतन दिया जाय।

११. शुद्ध सम्बन्धकारी विश्वविद्यालय बन्द कर दिए जायँ और सभी सरकारी महाविद्यालय किसी न किसी विश्वविद्यालयसे सम्बद्ध कर दिए

जायँ; महाविद्यालयोंकी प्रबन्धकारिणी-समितियाँ सुधार दी जायँ और विश्वविद्यालयमें निम्नलिखित अधिकारी हों—(क) समवेक्षक (विज़िटर, जो राष्ट्रपति ही हों), (ख) महाकुलपति (चांसलर, प्रायः प्रान्तीय राज्यपाल), (ग) कुलपति (वाइस चांसलर) जो सर्वकालिक अधिकारी हों, (घ) महासद (सीनेट या कोर्ट), (ङ) व्यवस्था परिषद् (एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल), (छ) शास्त्र संमण्डाएँ (फ़ैकल्टीज़), (ज) शिक्षा-मण्डल (बोर्ड्स औफ़ स्टडीज़), (झ) अर्थसमिति (फाइनेंस कमेटी) और (ञ) चयन-समितियाँ (सिलेक्शन कमिटीज़)।

१२. केन्द्रीय सरकारको उच्चतर शिक्षाका भार अपने ऊपर लेकर भवन-निर्माण तथा उपकरण (इक्विपमेंट) के लिये धन देना चाहिए।

१३. बनारस, अलीगढ़ और देहली विश्वविद्यालय भी सम्बन्धकारी और शिक्षणकारी हों। इन विश्वविद्यालयोंका शिक्षा-माध्यम राष्ट्रभाषा हो और इनका जातीय स्वरूप दूर करके इनकी प्रबन्ध-समितियोंमें अन्य जातियोंके लोग भी लिए जायँ।

१४. शान्ति-निकेतनकी विश्वभारती और दिल्लीके पास जामिया-नगरकी जामिया मिल्लियाको भी विश्वविद्यालय मान लिया जाय।

१५. ग्राम-प्रदेशोंमें उच्चतम शिक्षाका विकास करनेके लिये विशेष उद्योग किया जाय।

विश्लेषण

इस मण्डलने शिक्षाके विभिन्न पक्षोंपर विचार करके यद्यपि विशेष रूपसे विश्वविद्यालयकी शिक्षके सम्बन्धमें ही अपने सुझाव दिए हैं किन्तु वे सब प्रकारकी भारतीय शिक्षा-नीतिके लिये भी अधिक सहायक सिद्ध होंगे। किन्तु इस मण्डलने पाठ्य-क्रम और परस्पर संयुक्त विषयोंकी सीमा और परिधिका न तो ठीक सम्बन्ध सुझाया और न उनके क्रमिक संयोगका विधान ही बताया। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस मण्डलने भी परीक्षाकी आवश्यकता समझकर इस सम्बन्धमें

जो सुझाव दिए वे उस सम्पूर्ण नीतिके लिये घातक हैं जो अपने व्यापक विवरणके प्रारम्भमें मण्डलने आदर्श रूपमें उपस्थित किए हैं। इस मण्डलने छात्रोंको समाज-सेवी और स्वशासन-संचालक बनानेकी सम्मति तो दी, किन्तु कोई ऐसी व्यवस्था नहीं सुझाई जिससे समाज-सेवा और स्वशासनका स्वरूप स्पष्ट हो सके। छात्रोंके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें भी मंडलने बहुत चलतेसे सुझाव दिए हैं जिनमेंसे अधिकांश या तो अस्वाभाविक हैं (जैसे सबके लिये अनिवार्य सैन्य-शिक्षा) या अप्रयोजनीय। धार्मिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी जो इसने नीति अपनाई है वह मध्यम-मार्गी है जिससे न कोई उद्देश्य सिद्ध होगा न प्रयोजन, क्योंकि महापुरुषोंके जीवनचरित तो छात्र यों ही अनेक रूपोंमें पढ़ और सुन लेते हैं किन्तु व्यवस्थित धर्म-शिक्षासे आचार-विचार, नैतिकता और ईश्वरभीरुताके जो सात्त्विक भाव प्रदीप्त होते हैं वे इस चलती धर्म-शिक्षासे संभव नहीं हो सकते। इसी प्रकार कन्याओंकी शिक्षाके सम्बन्धमें कोई स्पष्ट शिक्षा-नीति प्रतिपादित नहीं की गई। अधिक आश्चर्य इस बातका है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयको निर्जाति बनानेका जो सुझाव दिया गया है वह कैसे और क्यों दिया गया क्योंकि ये विश्वविद्यालय स्पष्ट रूपसे विभिन्न संस्कारोंके धार्मिक स्वरूपको शिक्षा-द्वारा सम्पन्न करनेके लिये बनाए गए थे। यह नैतिक दृष्टिसे कहाँतक उचित है कि एक उद्देश्यसे जनताके माँगे हुए धनका उपयोग किसी दूसरे उद्देश्यके लिये किया जाय ? विश्वविद्यालयोंकी व्यवस्थाके लिये भी जो बहुत सी प्रबन्ध-समितियाँ बना दी गई हैं, वे भी निरर्थक ही हैं। एक समिति नीति निर्धारित करनेके लिये और दूसरी समिति प्रबन्धके लिये बना देना ही इसके लिये पर्याप्त होता। अधिक समितियाँ बनानेसे संघर्ष अधिक बढ़ता है और शिक्षण-कार्यमें बाधा पड़ती है। प्राध्यापकोंकी कई श्रेणियाँ बनाना भी न तो नैतिक दृष्टिसे ठीक है, न सामाजिक

दृष्टिसे। प्राध्यापकोंकी एक ही श्रेणी होनी चहिए और विभागके अध्यक्ष-पदका भार योग्यता, अनुभव तथा वयोवृद्धताके आधारपर बारी बारीसे दिया जाया करे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मण्डलने बहुतसे अत्यन्त महत्त्वके सुझाव भी दिए हैं जिनमें सबसे बड़ी बात है आध्यात्मिक शिक्षाका महत्त्व बढ़ाना, सार्वजनिक परीक्षा बन्द कर देना, सम्बन्धकारी विद्यालय बन्द करके शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालयोंको प्रोत्साहन देना तथा ग्रामीण प्रदेशोंमें उच्चतम शिक्षाके विकासका उद्योग करना।

अभी यह योजना नई ही है किन्तु फिर भी विश्वविद्यालयोंका रूप इनके अनुसार धीरे-धीरे ढाला जा रहा है और विश्वास है कि निकट भविष्यमें ही इसके उपादेय प्रस्ताव व्यापक रूपसे मान लिये जायँगे।

शिक्षाके नये प्रयोग

हमारे देशमें नवीन अँगरेज़ी शिक्षासे ऊबकर अनेक शिक्षाचार्यों तथा महापुरुषोंने कुछ तो प्राचीन शैलीके विद्यालय खोले जिनमें गुरुकुल और ऋषिकुल प्रमुख रूपसे उल्लेखनीय हैं; कुछने प्राचीन और नवीनका सामंजस्य स्थापित करके अथवा अपनी नई शैलीपर ही नये प्रयोग किए जिनमेंसे मुख्य मुख्यका परिचय यहाँ दिया जाता है।

विश्वभारती

सन् १८३३ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोरने साधकोंके लिये बंगालमें बोलपुरके पास जो शान्तिनिकेतन स्थापित किया था, उसीमेंसे विश्वभारतीकी उत्पत्ति हुई। सन् १९०१ ई० में कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोरने यह बाल-विद्यालय स्थापित किया कि इसमें बच्चोंको ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे प्रकृतिसे विलग न हों, जहाँ वे परिवारके वातावरणका अनुभव करें अर्थात् संस्थाको आत्मीय समझें, जहाँ वे स्वतन्त्रता, पारस्परिक विश्वास और उल्लासके साथ अध्ययन करें और रहें। ६ मई सन् १९२२ ई० को अन्ताराष्ट्रिय विश्वविद्यालयके रूपमें विश्वभारतीकी स्थापना हुई जिसके उद्देश्य थे—

१. पूर्वकी विभिन्न संस्कृतियोंको उनकी मौलिक एकताके आधारपर सन्निकट लाना ;

२. इसी एकताके आधारपर पश्चिमके विज्ञान और संस्कृतिके समीप पहुँचना; और,

३. अध्ययन तथा मानवीय चेतनाके सर्वसाधारण सहबन्धुत्वका अनुभव करना. पूर्व और पश्चिमका समन्वय करना और इस प्रकार

ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिससे विश्व-बन्धुता और विश्व एकता सम्भव हो सके।

विश्वभारतीकी स्थापनाके समय जो महान् उद्देश्य दृष्टिमें रक्खे गए थे और जिस विश्वबन्धुत्वकी उस समय कल्पना की गई थी उसकी कुछ सिद्धि तो अवश्य हुई है, किन्तु उस भावनाके पीछे कवीन्द्र रवीन्द्रका व्यक्तित्व इतना प्रमुख था कि उसके अभावमें उसका उद्देश्य आज शिथिल पड़ गया है। इतने महान् उद्देश्य वास्तवमें धन-बलपर नहीं, व्यक्तित्वके बलपर चलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस संस्थाके द्वारा भारतीय कलाओंका बड़ा प्रचार हुआ; किन्तु विश्वबन्धुत्व और सांस्कृतिक एकताकी जिस उदात्त भावनाके साथ विश्वभारतीका जन्म हुआ था वह अभीतक पूरी नहीं हो पाई और अब पूरी होगी भी नहीं क्योंकि यह संस्था भी विश्वविद्यालयोंका पाठ्यक्रम पूरा करनेके फेरमें पड़ गई है। वास्तवमें इसमेंसे ऐसे सांस्कृतिक दूत उत्पन्न किए जा सकते थे जो संसार भरके विभिन्न देशोंमें पहुँचकर सांस्कृतिक विनिमय करके इस संस्थाके मूल उद्देश्यकी पूर्त्ति कर सकते। अब तो वह शुद्ध रूपसे अन्य विश्वविद्यालयोंके समान केन्द्रीय सरकारके अधीन सांस्कृतिक विश्व-विद्यालयके रूपमें परिणत हो गई है और थोड़े दिनोंमें उसकी भी वही दशा हो जायगी जो अन्य विश्वविद्यालयोंकी हो गई है या होती जा रही है, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्यचक्रके केन्द्रीय शासनमें रहकर वह कितनी सांस्कृतिक रह सकेगी यह अत्यन्त विचारणीय है।

बौएज़ ओम होन (छात्राणां स्वर्गोहम्)

कलकत्तेके पास कासीपुरमें श्री रेवाचन्द अणिमानन्दने सन् १६०७ में प्राचीन भारतीय गुरुकुलकी मर्यादा और रीतिके अनुसार भारतीय बालकोंको आदर्श ढंगसे शिक्षा देनेके लिये गिने-चुने थोड़ेसे विद्यार्थियोंको

लेकर बीएड्ज़ ओन होम (छात्राणां स्वगेहम् या बालकोंका अपना घर) नामका विद्यालय स्थापित किया। उनका उद्देश्य था कि—

१. थोड़ेसे बालक ही लिए जायँ जिनका ठीक-ठीक अध्ययन करके उन्हें शिक्षा दी जा सके।

२. प्रवेशके समय उनकी अवस्था पाँचसे ऊपर और दससे नीचे हो अर्थात् वे न बहुत छोटे हों न बहुत बड़े, जिससे वे घरके वातावरण तथा भावनाको भली भाँति ग्रहण कर सकें।

३. सोलह वर्षकी अवस्था-तक वे विद्यालयमें रहें।

४. विद्यालयका छोटेसे छोटा काम करनेमें भी उन्हें संकोच न हो अर्थात् वे प्राचीन शिष्योंके सामने झाड़ू-बुहारू करना, लीपना-पोतना, मरम्मत करना, हाट करना और भोजन बनाना आदि सब कार्य रुचि-पूर्वक कर सकें।

५. उनका कोई घरेलू अध्यापक (प्राइवेट ट्यूटर) न हो।

उस विद्यालयमें आचार्य अणिमानन्दको लिए-दिए कुल चार अध्यापक हैं जिनका सम्बन्ध छात्रोंसे पिता-पुत्रका है। ये अध्यापक भी उसी विद्यालयके प्राचीन छात्र हैं, इसलिये उनमें विद्यालयकी भावना पूर्ण रूपसे ओत-प्रोत है। इस विद्यालयमें सब विषयोंका अध्यापन सहज प्रणाली (डाइरेक्ट मैथड), अर्थात् विज्ञानका संप्रेक्षण और अनुभवसे, भाषा और साहित्यका वाचन और प्रश्नोत्तरसे तथा भूगोलका मानचित्रसे कराया जाता है। इस प्रणालीसे छात्रोंमें ऐसी आत्म-प्रेरणा तथा सक्रियता आती है, जो साधारण विद्यालयोंमें देखनेको नहीं मिलती। सर माइकेल सैडलरने इस विद्यालयको अत्यन्त कुतूहलजनक विद्यालयोंमेंसे एक बताते हुए कहा है कि "इस विद्यालयके छात्रोंकी अँगरेज़ी और भाषा शैली, अँगरेज़ लड़कोंसे कहीं अधिक शुद्ध है।" होम या गृह (विद्यालय) छोड़नेसे पूर्व प्रत्येक छात्रको अध्यापनका भी कार्य करना पड़ता है, जहाँ बड़े छात्र, छोटे छात्रोंको पढ़ाते हैं। इस प्राचीन

शिष्याध्यापक-प्रणालीसे बड़े विद्यार्थियोंमें विनयकी भावना तो आती ही है, साथ ही अपने भाव स्पष्टतासे व्यक्त करनेकी शक्ति भी सुव्यवस्थित होती चलती है।

इस विद्यालयमें कक्षाएँ नहीं हैं, केवल विभिन्न विषयोंकी योग्यताके अनुसार छात्रोंकी श्रेणियाँ बनी हैं। एक ही बालक अँगरेज़ीके लिये एक श्रेणीमें, बँगलाके लिये दूसरी श्रेणीमें और भूगोलके लिये तीसरी श्रेणीमें अपनी योग्यता और गतिके अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। इसीलिये न वहाँ वार्षिक परीक्षा है न अग्रारोहण। प्रति शनिवारको सप्ताह भरके पढ़े हुए पाठकी आवृत्ति हो जाती है और जब कोई ग्रन्थ या विषय समाप्त हो जाता है तभी उसकी परीक्षा ले ली जाती है। इस प्रकार जब एक बालक किसी एक श्रेणीमें श्रेष्ठ प्रमाणित हो जाता है तो वह तत्काल ऊँची श्रेणीमें भेज दिया जाता है और वह एक वर्षतक एक ही कक्षामें पड़े सड़ते रहनेकी लज्जाजनक और अनैतिक पद्धतिके चक्रमें नहीं डाला जाता।

इस विद्यालयमें प्रातः दस बजेसे सायं साढ़े पाँच बजेतक सब छात्र अपने अध्यापकोंसे शिक्षा पाते, उनकी बातें सुनते, भारतीय खेल खेलते, शारीरिक श्रम करते और एक साथ अपने अध्यापकोंकी पितृच्छायामें तैरते-खेलते हुए व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार उनके चरित्रमें विनय, आज्ञाकारिता, कर्तव्यशीलता, नियमितता, स्वच्छता और सद्वृत्तिकी भावना उदय होती है। यद्यपि वहाँ विशिष्ट रूपसे कोई धर्मकी शिक्षा नहीं दी जाती किन्तु वहाँका सारा वातावरण ही धार्मिक है।

यह 'बौएज़ ओन होम' सर्वप्रथम शान्तिनिकेतनमें ही स्वामी उपाध्याय ब्रह्मबान्धवने प्रारम्भ किया था। विश्व-भारती या शान्ति-निकेतनकी अपेक्षा भारतीय-शिक्षा-समस्याको उचित रूपसे सुलझानेके लिये यह अधिक श्रेष्ठ आदर्श है।

चिपलूणकर योजना

सन् १८८० ई० में लोकमान्य बाल गंगाधर टिलक, श्री आगरकर और श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकरके प्रयाससे पूनेमें 'न्यू इंग्लिश स्कूल'की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय शिक्षा देना था। सन् १८८५ में इन्होंने सोचा कि एक समाज बनाकर पूनेमें सार्वजनिक विद्यालय खोल दिया जाय। यही विद्यालय था फर्गुसन कौलेज, जिससे परांजपे, गोखले, कर्वे और टिलक जैसे बड़े-बड़े नेता सम्बद्ध थे। इस प्रकारकी विद्यालय-व्यवस्थाका नाम ही चिपलूणकर-योजना पड़ गया।

चिपलूणकर-योजनाकी विशेषता यह है कि इस प्रकारके सब विद्यालय चन्दा देनेवालोंके द्वारा नहीं वरन् उन काम करनेवालोंके द्वारा ही संचालित होते हैं जो सेवा और आत्म-त्यागका व्रत ले लेते हैं और लगभग २० वर्षतक नाम मात्रका जीवन-यापन-योग्य वेतन लेकर सेवा करते हैं। इन संस्थाओंमेंसे महाराष्ट्रके बड़े-बड़े नेता, लेखक, साहित्यकार और देशसेवक निकले हैं।

भारत सेवक समिति (सर्वेण्ट्स औफ़ इण्डिया सोसाइटी)

सन् १९०५ ई० में श्री गोपालकृष्ण गोखलेने भारत-सेवक-समिति (सर्वेंट्स औफ़ इण्डिया सोसाइटी) की स्थापना की जहाँ लोग कम वेतन लेकर देश-सेवा करते हैं। यह संस्था लोक-प्रसिद्ध है। इसके प्रमुख सदस्योंमें महामाननीय पं० श्री निवास शास्त्री तथा पं० हृदय नाथ कुँजरू प्रसिद्ध हैं। इस संस्थाका उद्देश्य राजनीतिक आन्दोलन करनेके बदले राजनीतिक शिक्षा देना है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्रके जैसे धुरंधर पण्डित यहाँसे निकले उतने किसी दूसरी संस्थासे नहीं।

रैयत-शिक्षण संस्था

सन् १९१९ ई० में श्री भाऊराव पटेलने निम्नलिखित उद्देश्योंसे सताराके पास रैयत-शिक्षण-संस्था स्थापित की—

१. शुद्ध शिक्षा-सुधारके उद्देश्यसे भारतकी जागरणशील पीढ़ीके लिये सामान्यतः तथा सतारा जनपदके निवासियोंके लिये विशेषतः प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा प्रदान करना।

२. उपर्युक्त उद्देश्योंके लिये उपयुक्त अध्यापक तैयार करना।

३. ग्राम-सुधार तथा ग्रामोद्योगके लिये सेवक तैयार करना।

यह विद्यालय अत्यन्त सुंदर स्थानमें नगरसे दूर बसा हुआ है जहाँ छोटे-छोटे भवन स्वयं छात्रोंने तैयार किए हैं। यहाँ खेती और उद्यान-कलाकी शिक्षा दी जाती है। यहाँ कोई भी वेतन-भोगी कर्मचारी नहीं है। यहाँके सब लोग अनाज, तरकारी आदि स्वयं उत्पादन करते हैं, सब जाति और धर्मके विद्यार्थी एक साथ खाते, पीते, रहते और पढ़ते हैं। पारस्परिक प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता और विश्वबंधुत्वकी दृष्टिसे यह विद्यालय आदर्श है। विद्या और शिक्षाके प्रसारके लिये इस संस्थाने बड़ा कार्य किया है किन्तु दुःख यह है कि भारतके प्रांतीय शिक्षा-विभागोंने इसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

व्रताचारी समाज

बंगालमें व्रताचारी आन्दोलन भी एक प्रकारका राष्ट्रीय शिक्षान्दोलन है। इसके कुछ विशेष आदर्श हैं और उन आदर्शोंको प्राप्त करनेके लिये एक व्यावहारिक क्रम है। व्रताचारी वह पुरुष है जो व्रत लेकर किसी आदर्शके अनुकूल उस आदर्शकी प्राप्तिके लिये शिक्षा ग्रहण करे।

व्रताचारी प्रणालीका उद्देश्य है पूर्ण मनुष्य बनाना और इसीलिये इसके शिक्षाक्रममें ऐसे विषय हैं जिनसे मनुष्यकी सब शक्तियोंका एक साथ और समवेत विकास हो। इस प्रणालीमें जाति, धर्म, अवस्था और लिंगका कोई भेद नहीं है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको पाँच व्रत लेने पड़ते हैं—ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और आनन्द। इस पंचांगी आदर्शको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक वयस्क ब्रह्मचारीके लिये सोलह

सरल और उत्साहवर्धक प्रण और सत्रह निषेध स्वीकार करने पड़ते हैं तथा अल्पवयस्क व्रताचारीको बारह प्रण।

इस प्रणालीका मूल सिद्धान्त है बन्धुत्व, जो गीतों और शारीरिक व्यायामोंकी तालसे उत्पन्न होता है। इस तालसे शरीर और मन दोनोंकी शिक्षा होती है, जड़ता दूर हो जाती है, श्रमके लिये शक्ति और तेज प्राप्त होता है, विचार और क्रियामें सन्तोष और उत्साह मिलता है। अतः इस प्रणालीमें तालका बड़ा महत्त्व है। स्वस्थताके लिये अन्य व्यायामोंकी अपेक्षा देशी खेल और लोक-नृत्योंको अधिक स्थान दिया गया है। इस आन्दोलनकी प्रेरणा श्री जी० एस० दत्तकी उन विस्तृत खोजोंसे मिली है जो उन्होंने सन् १९२१ ई० और ३२ के बीच ग्राम-गीतोंके सम्बन्धमें की थीं।

इस प्रणालीकी प्रशंसा रवीन्द्रनाथ टैगोर, सर राधाकृष्णन्, सर माइकेल सैडलर, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि बड़े बड़े शिक्षा-शास्त्रियोंने की है। किन्तु इतने अधिक नियम व्रत और प्रणोंका पालन करना सरल कार्य नहीं है इसीलिये यह प्रयोग सार्वजनिक और व्यापक रूपसे सम्भव नहीं है।

आचार्य कर्वेका महिला विश्वविद्यालय

आचार्य कर्वेने दीन विधवाओंकी करुण कथासे द्रवित होकर उनके लिये पूनेमें एक छोटा-सा विद्यालय, छात्रावास, प्रारम्भिक पाठशाला और शिक्षण-कला विद्यालय खोल दिया था। इस संस्थाकी लोकप्रियतासे प्रभावित होकर आचार्य कर्वेने यह निश्चय किया कि एक निश्चित पाठ्यक्रमके द्वारा कन्याओंको ऐसी उच्च शिक्षा दी जाय कि १८ वर्षकी अवस्थासे पहले ही वे गृहिणी और माताकी सब शिक्षा प्राप्त कर चुकें। इसी उद्देश्यसे सन् १९१६ ई० में पूनेमें 'इण्डियन वीमेन्स यूनिवर्सिटी' (भारतीय महिला विश्वविद्यालय) की स्थापना हुई और पिछले ३५ वर्षोंमें इस संस्थासे कई सहस्र छात्राओंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। आचार्य

कर्वेकी इन संस्थाओंने मौन सामाजिक क्रान्ति भी की। उनकी संस्थाओंके कारण दक्षिणकी महिलाओंमें बड़ी जागर्ति भी हुई। इस विश्वविद्यालयके उद्देश्य ये हैं—

१. वर्तमान भारतीय भाषाओंके माध्यमसे स्त्रियोंकी उच्चतर शिक्षा देना।

२. महिलाओंकी आवश्यकताके अनुकूल पाठ्य क्रम बनाना और पूर्ण विश्वविद्यालय शिक्षाको नियमित करनेके लिये नई संस्थाएँ स्थापित करना, चलाना और उन्हें सम्बद्ध करना।

३. प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयोंके लिये अध्यापिकाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध करना।

४. नियमानुसार उपाधि, प्रमाण-पत्र, पद तथा अन्य प्रकारके सम्मान प्रदान करना।

इस समय संस्थाके अन्तर्गत १९ संस्थाएँ काम कर रही हैं।

वनस्थली विद्यापीठ

जयपुर राज्यमें कन्याओंकी शिक्षाके लिये 'वनस्थली-विद्यापीठ' नामकी एक संस्था खुली है जिसमें सात वर्षसे ऊपरकी अविवाहिता कन्याएँ ली जाती हैं, यद्यपि ऊपरकी कक्षाओंमें विवाहिता कन्याएँ भी ली जा सकती हैं।

विद्यापीठका उद्देश्य स्त्रियोंको ऐसी शिक्षा देना है जिससे वे केवल सफल गृहिणी और माता ही नहीं, वरन् जागरूक और सफल नागरी भी बनें। इसी उद्देश्यसे भारतीय संस्कृति और विशुद्ध राष्ट्रीयताके आधारपर विद्यापीठने पंचमुखी शिक्षा-क्रमका निर्माण किया है जिसके पाँच अंग इस प्रकार हैं—

विद्यापीठका समूचा शिक्षाक्रम दो विभागोंमें बाँटा गया है—१. संस्कृत विभाग तथा २. बाह्य-परीक्षा विभाग।

संस्कृत विभागमें शिक्षाके पाँचों अंगोंके लिये विद्यापीठका अपना स्वतन्त्र पाठ्यक्रम है और वह १ से ८ कक्षाओंमें बाँटा गया है।

जहाँतक पुस्तकीय शिक्षाका सम्बन्ध है, इस विभागमें वर्त्तमान हाइ स्कूल, इन्टरमीजिएट तथा बी० ए० की परीक्षाओंके लिये छात्राएँ तैयार की जाती हैं। शिक्षाके दूसरे चार अंगोंके लिये विद्यापीठकी अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था है।

उपर्युक्त परीक्षाओंके अतिरिक्त विद्यापीठमें जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट्स, बम्बईकी ड्राइंग (चित्रकला) परीक्षा, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद-सम्मेलन तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी आयुर्वेदकी परीक्षाएँ तथा भातखण्डे यूनिवर्सिटी, लखनऊकी संगीत परीक्षाओंके लिये भी छात्राएँ तैयार की जाती हैं।

इस पाठ्य-क्रममें दो बड़े दोष हैं—एक तो यह कि महिलाओंके शारीरिक व्यायाममें घुड़सवारी आदि ऐसे व्यायाम भी हैं जो पुरुषोंके लिये ही उपयुक्त हैं और जिनसे कन्याओंकी स्वाभाविक कोमलता नष्ट होती जाती है। दूसरा महादोष यह है कि यहाँ भी अन्य विश्वविद्यालयों और बोर्डोंकी परीक्षाओंके लिये छात्राओंको शिक्षा दी जाती है। यह एक प्रकारका ऐसा द्वैध है जिसका कोई समाधान और समर्थन नहीं किया जा सकता और जिससे अन्य उद्देश्य स्वतः नष्ट हो जाते हैं क्योंकि परीक्षा ही वर्त्तमान प्रणालीका सबसे बड़ा पाप है। वह यदि बनी रहती है तो सुधार क्या हुआ ?

आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ोदा

बड़ोदेके आर्य-कन्या महाविद्यालयकी स्थापना कन्याओंको ऐसी उदार और सांस्कृतिक शिक्षा देनेके लिये की गई कि वे घर या बाहर समान रूपसे योग्य सिद्ध हों। यद्यपि वहाँका धार्मिक शिक्षण तथा पाठ्यक्रम तो सुन्दर और व्यवस्थित है किन्तु वहाँकी कन्याओंको जो सैनिक शिक्षा दी जाती है और उन्हें जाँघिया कमीज पहनाकर जो रक्खा

जाता है वह पूर्णतः आर्य संस्कृतिसे भिन्न है अतः उसका भी किसी प्रकारसे समर्थन नहीं किया जा सकता।

पूना सेवासदन

पूनेमें न्याय-मूर्ति महादेव गोविन्द रानडेकी धर्मपत्नी श्रीमती रमाबाईने प्रौढ़ महिलाओंको शिक्षित करनेके लिये सेवा-सदनकी स्थापना की जिसमें स्त्रियोंको लिखना-पढ़ना और गणित सिखानेके अतिरिक्त सीने-परोने और संगतिकी शिक्षा भी दी जाती है। पीछे सर्वेण्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटीके सदस्य श्री देवधरके प्रयाससे इसमें एक अध्यापिका-विद्यालय और एक हाइ स्कूल भी खुल गया और अब यह संस्था दक्षिणमें महिला-शिक्षाकी प्रमुख संस्था मानी जाती है।

लेडी इरविन कालेज, दिल्ली

अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन (औल इण्डिया वीमैन्स कौन्फ़रेंस) के निर्णयानुसार दिल्लीमें लेडी इरविन कालेजकी स्थापना की गई। वहाँकी नियमावलीकी प्रस्तावनामें लिखा है—"भारतीय युवतियोंके लिये लेडी इरविन कालेज ही ऐसी प्रथम संस्था है जिसने भारतीय परिस्थितिके अनुकूल गार्हस्थ्य-शास्त्रकी वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी है।

इस विद्यालयका पाठ्यक्रम इस आधारपर बनाया गया कि वहाँ महिलाओंको ऐसी शिक्षा और सुविधा प्रदान की जाय कि वे—

अ. योग्य पत्नी, योग्य माता और समाजकी उपयोगी सदस्या बन सकें।

आ. कन्या-पाठशालाओंमें जाकर गार्हस्थ्य-शास्त्रकी योग्य अध्यापिका बन सकें।

इस विद्यालयके दो विभाग हैं—गृहविज्ञान और अध्यापन-शिक्षा। गृह-विज्ञानका शिक्षाक्रम दो वर्षका है जिसके आगे एक वर्षतक अध्यपन-कलाकी शिक्षा दी जाती है। किन्तु इस पिछली अध्यापन-

कलाका शिक्षाक्रम ऐच्छिक है। इस विद्यालयमें १८०) प्रतिवर्ष तो शुल्क देना पड़ता है और छात्रावासका व्यय भी लगभग ७५) मासिक पड़ता है।

इस विद्यालयके गृह-विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा-क्रममें निम्नलिखित विषय सिखाए जाते हैं—

१. रसोईका काम—जिसमें चटनी, आचार, मुरब्बा, पनीर आदि बनाना तथा पश्चिमी और भारतीय सलाद बनाना भी है। इसमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों ढंगके भोजनालयोंके कामकी शिक्षा दी जाती है।

२. भोजन-शास्त्रका ज्ञान।

३. गृहस्थीका सँभाल, जिसमें हिसाब-किताब आदि भी है।

४, साधारण जीवाणु तथा कीटाणु-शास्त्र जिसमें अनेक प्रकारके कीड़ों और जीवोंका वैज्ञानिक विवेचन और इतिहास पढ़ाया जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य, कपड़े धोना, रँगना तथा सिलाई बुनाई-कढ़ाई आदि सब प्रकारका काम सिखाया जाता है और इन सबपर वैज्ञानिक पुट देनेके लिये कुछ भौतिक और रसायनशास्त्र भी सिखाया जाता है।

अध्यापन-कलाके अन्तर्गत शिक्षाके सिद्धान्त, स्वास्थ्य-विज्ञान, अध्यापन-कला तथा सुईका काम आदि विषय हैं।

इस पाठ्यक्रममें कुछ विषय अनावश्यक और अधिक भी रक्खे गए हैं। जब भारतीय परिस्थितके अनुकूल शिक्षा देना इसका उद्देश्य है तो इसमें विदेशी भोजनालयकी प्रथाका शिक्षण क्यों किया जाता है। इसमें छः-छः सौ रुपये के बिजलीके चूल्हे हैं जिनपर भारतकी भावी पत्नियाँ और माताएँ रोटी सेंकना सीखती हैं। कपड़े धोनेके यन्त्र भी कम मूल्यवान् नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कीटाणुओंके इतिहास और भौतिक तथा रसायन शास्त्रके अध्ययनका निरर्थक पचड़ा बढ़ाकर पाठ्य-क्रमको दुरूह करनेका अर्थ क्या है? बड़े आश्चर्यकी बात है कि भारतकी

आर्थिक तथा सामाजिक स्थितिसे अत्यन्त प्रतिकूल शिक्षा देनेवाली यह संस्था भारतकी राजधानीमें पोषित की जा रही है और वह भी अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनकी ओरसे।

तालयुक्त व्यायाम (यूरिथ्मिक्स)

यों तो पुरुषों और स्त्रियों दोनोंके लिये क्रमशः ताण्डव और लास्य-की क्रियाएँ शरीरमें स्फूर्ति देने और शरीरको सुन्दर बनानेमें अत्यन्त योग देती हैं किन्तु विद्यालयके वातावरणको अधिक नियमित, संगीतमय और तालमय करनेके लिये एक नई प्रणाली चली है तालयुक्त व्यायाम-की, जिसमें छात्रोंका एक दल ढोल और बाजे बजाता है और विद्यालयके सब छात्र सामूहिक रूपसे उसके साथ गाते और व्यायाम करते हैं। कभी-कभी ग्रामोफ़ोन मशीनमें किसी गतका तवा (रेकार्ड) लगा दिया जाता है जिसकी ताल-ध्वनिके साथ सब विद्यार्थी या तो पैर मिलाकर चलते हैं या आंगिक व्यायाम करते हैं। इस प्रकारके व्यायामसे संगीतका भी आनन्द चलता रहता है, शरीरकी चेष्टाएँ भी तालसे बँध जाती हैं और इस प्रकारका व्यायाम करानेसे, सैन्य-व्यायाम (ड्रिल)-से ऊबे हुए बालकोंकी अरुचि भी दूर हो सकती है। आजकल बच्चोंके विद्यालयोंमें लेज़िमके साथ इसका सफल प्रयोग हो रहा है। कन्याओंके विद्यालयोंमें अन्य व्यायामोंके बदले इसका प्रयोग निश्चित रूपसे अधिक लाभकर सिद्ध होगा।

दारुल् उलूम, देवबन्द

आजसे ८९ वर्ष पहले इस्लामी विद्या, कौशल और आचार (इस्लामी उलूम, फ़नून और इस्लामी ज़िंदगी) के प्रसार, प्रचार, उद्धार तथा अध्ययनके लिये देवबन्द (ज़िला सहारनपुर) में दारुल्-उलूम (विद्या-मन्दिर) खोला गया। इसमें अध्ययनकी पद्धति वही रही जो मुसलमानी संस्थाओं (मदरसों) में पहलेसे चली आती रही। सर्वप्रथम सन् १८६६ में मदरसए अरबी (अरबी भाषाकी पाठशाला) के रूपमें यह

प्रारम्भ हुआ जिसका शेख़ अलउस्सलम मौलाना मोहम्मद क़ासिम साहबने बीजारोपण किया, हज़रत शमशुल्-उलूम आरिफ़ रब्बानी मौलाना मोहम्मद सर सैयद अहमद साहब गंगोईाने जिसे पल्लवित किया और हज़रत शेखउल्-हिन्द महमूदहसन साहब देवबन्दीने जिसकी अभ्युन्नति की। इस प्रकार यह सम्पूर्ण एशिया भरके इस्लामी संसारका सांस्कृतिक केन्द्र बन गया जिसमेंसे आजतक दूर-दूरके लगभग बारह हज़ार मुसलमान छात्र उच्च इस्लामी दार्शनिक और सांस्कृतिक शिक्षा पाकर इस्लामी धर्म और संस्कृतिके प्रचारमें योग दे चुके या दे रहे हैं।

पब्लिक स्कूल या लोक-विद्यालय

नये शिक्षा-प्रयोगोंमें सबसे अधिक आश्चर्यजनक और विडम्बनापूर्ण वे विद्यालय हैं जो कहलाते तो हैं पब्लिक स्कूल, किन्तु जो हैं पूर्णतः अ-पब्लिक। देहरादूनका दून स्कूल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसे विश्वभारतीका ठीक उल्टा समझना चाहिए। यह योरोपीय शैलीका विद्यालय भारतीय राजाओं तथा धनिकोंके आग्रहपर भारत सरकारने स्थापित किया था। इसका प्रबन्ध शुद्ध अँगरेज़ी है। इसमें ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयोंकी परीक्षाओंके लिये शिक्षा दी जाती है और शारीरिक शिक्षा, खेल-कूद, घुड़सवारी, तैराकी आदिपर अधिक ध्यान दिया जाता है। इन विद्यालयोंमें इतना अधिक व्यय पड़ता है कि केवल अत्यन्त धनी लोग ही अपने बच्चोंको वहाँ भेज सकते हैं। वहाँ सब बालक एक साथ रहते हैं और प्रत्येक गृह (छात्रावास)-की देखरेख ईटनके समान गृहपति (हाउस मास्टर) करता है। इसमें सामिष और निरामिष-भोजियोंकी अलग-अलग व्यवस्था है। भारत जैसे देशके लिये यह व्यय-साध्य तथा विभेदकरी प्रणाली तत्काल बन्द कर देनी चाहिए।

संचेष्टन-विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल)

आजकल योरोपमें कुछ नये प्रकारके विद्यालय चले हैं जिनमें

साधारण गणित तथा लिखने-पढ़नेका ज्ञान देकर बालकोंकी जीवनकी विभिन्न समस्याओं और प्रवृत्तियोंका साक्षात् परिचय दे दिया जाता है और स्वयं उन्हें ही सचेष्ट होकर उन कार्योंको संपन्न करनेकी प्रेरणा दी जाती है। ऐसे सचेष्टन विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल) हमारे देशमें श्रीनगर (कश्मीर) में चलाए जा रहे हैं। इन विद्यालयोंमें मुख्यतः इतने प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं—

१. विद्यालयका भवन स्वच्छ रखना और सजाना, २. फुलवारी लगाना और बेलें चढ़ाना, ३. पाचनालय (रसोईघर) और भोजनालयमें चौका लगाना, बर्त्तन माँजना-धोना, दाल-चावल बीनना, आटा पीसना, मसाला पीसना-कूटना, हाटसे तरकारी आदि लाना, तरकारी बिनारना, भोजन पकाना, पीढ़ा-पानी लगाना, परोसना, हाथ धुलाना और थाली-पीढ़े उठाकर रखना, ४. डाकका काम करना, ५. टेलीफ़ोनकी व्यवस्था करना, ६. टाइप करना, ७. दूकान लगाना और विभिन्न वस्तुएँ बेचना, ८. कपड़े बनाना, सीना, धोना, छापना, ९. बुनना, बेल-बूटे काढ़ना, १०. प्रकाशका प्रबन्ध करना, ११. नाटक या सिनेमाका प्रबन्ध करना, १२. पर्वोत्सवका प्रबन्ध करना, १३. विशिष्ट अतिथिके स्वागत, निवास तथा भाषणका प्रबन्ध करना, १४. खेल-खिलौने बनाना, १५. चित्र बनाना, १६. सम्मिलित रूपसे गीत-नृत्य करना, १७. पर्यटनका प्रबन्ध करना, १८. तेल-साबुन बनाना, १९. औषधालय चलाना, रोगीकी सेवा करना, २०. सभा या गोष्ठी करना, २१. बच्चोंकी देख-भाल करना।

इस विद्यालयमें अध्यापिकाएँ होती हैं और वे केवल निर्देशमात्र करती हैं, शेष सब कार्य बच्चे ही करते हैं। इस विद्यालयमें तीन से आठ वर्षतकके बच्चे ही रहते हैं और जब वे अत्यन्त फुर्तीके साथ हँसमुख होकर झट-झट अत्यन्त तत्परताके साथ सब कार्य करते रहते हैं तो उन्हें देखनेमें आनन्द तो मिलता ही है, बड़ी प्रेरणा भी मिलती है। ऐसे विद्यालयोंकी संख्या बढ़नी चाहिए।

प्रौढ़ोंकी शिक्षा

भारतमें आज ९२% पुरुष और ९८% प्रौढ़ स्त्रियाँ अपढ़ हैं। इनकी शिक्षाके लिये भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें कुछ सामूहिक साक्षरता-आन्दोलनके रूपमें, कुछ रात्रि-पाशालाओंके रूपमें, कुछ जर्मनीके फोर्टबिल्डुँग-शूलेन (कन्टिनुएशन स्कूल या धारागत विद्यालयों) के आधारपर कुछ ऐसी कक्षाएँ खोली गईं, जिनमें संध्याको जाकर वे लोग सीख पढ़ सकें जिनकी पढ़ाई छूट गई है और जो दिनमें कहीं काम करते हैं। किन्तु भारतकी प्रादेशिक सरकारों, केन्द्रीय सरकार तथा शिक्षा-संस्थाओंने इसमें कोई रुचि नहीं दिखाई और इसीलिये यह आधे मनसे किया हुआ प्रौढ़ शिक्षाका कार्य असफल रहा। यह कार्य केन्द्रीय सरकारको अपने हाथमें ले लेना चाहिए और श्रव्य-दृश्य प्रणाली (ऑडियो विजुअल एजुकेशन मेथड) से चित्र, कथा, व्याख्यान, मेले, प्रदर्शनी आदिके द्वारा इसका विधान करना चाहिए। आन्दोलन और रात्रि-पाठशालासे यह काम नहीं हो सकता।

विकलांगोंकी शिक्षा

यद्यपि सब प्रकारके विकलांगोंकी शिक्षाकी कोई अखिल भारतीय योजना तो नहीं बनी किन्तु दिल्ली, पटना, प्रयाग, काशी, बम्बई तथा मद्रासमें ब्रेल-पद्धतिसे अन्धोंको शिक्षा दी जाती है। गूँगे-बहरोंके लिये भी कुछ विद्यालय खुले किन्तु सरकार और जनताने उसपर विशेष ध्यान नहीं दिया। हमारे देशमें छः लाख गूँगे, तीन लाख बहरे और बारह लाख अन्य प्रकारके विकलांग हैं। इन्हें शिक्षित करनेकी तत्काल योजना बनाना केन्द्रीय सरकारका अत्यावश्यक कर्त्तव्य है।

[द्वितीय खण्ड]

योरोपीय शिक्षाका इतिहास

१

सोलहवीं शताब्दितक शिक्षाका विकास

मिस्रमें अधिकसे अधिक देवताओंकी तुष्टि करनेका उपाय जाननेवाले पुरोहित लोग स्वाभाविक रीतिसे लोक-नेता बन गए, क्योंकि लोगोंको भी भय होने लगा कि कहीं हमारे पुरोहित लोग रुष्ट होकर देवताओंके द्वारा कोई विपत्ति न बुला दें। इसलिये यद्यपि केवल अध्यापन करनेवाले लोगोंका भी एक वर्ग धीरे-धीरे वहाँ रूप धारण कर रहा था और विद्वान् लोग स्थान-स्थानपर स्वयं अपनी पाठशाला खोलकर पढ़ाने भी लगे थे फिर भी मिस्रमें पुरोहित ही अध्यापक बन गए। उनकी पाठन-प्रणाली बस यही थी कि जो बताया जाय उसे कंठाग्र करो और जैसा अपनेसे बड़ोंको करते देखो वैसा ही आचरण करो। वहाँ लोहेके कलमसे लकड़ीपर खोदकर या स्याहीसे सरपतके फट्टोंपर लिखनेका अभ्यास कराया जाता था, लिखे हुएको पढ़वाया जाता था और गिनती गिनवाई जाती थी। आचार-नियम बड़े कठोर थे। शारीरिक दण्ड कसकर दिए जाते थे। अध्यापकका बड़ा आतंकपूर्ण आदर व्याप्त हो गया था। उसके विरुद्ध मुँह खोलना पाप समझा जाने लगा था।

सेमेटिक जातियोंकी शिक्षा

बाबुली, (बैबीलोनियन), असीरी (असीरियन), हिब्रू, फ़िनीशी (फ़िनीशियन) लोगोंकी शिक्षा-प्रणाली बड़ी ढीली-ढाली चलती रही। इन जातियोंमें पढ़ना, लिखना, गणित, इतिहास, धर्म, स्तोत्र, वगैरह

शिल्प, गीत, नृत्य और व्यापार सिखलाया जाता था। राजशास्त्र, नीति-शास्त्र, ज्यौतिष और भूगोलकी शिक्षा केवल वे लोग ग्रहण करते थे जो अपने घरका व्यापार छोड़कर इन विद्याओंके द्वारा जीविका चलाना चाहते थे। शिक्षक सभी पुरोहित या धर्म-गुरु लोग होते थे और इन्हीं लोगोंके कारण वहाँकी शिक्षा-पद्धतिमें वह व्यापकता और उदारता नहीं आ पाई जो यूनान और रोमकी शिक्षा-प्रणालीसे आ पाई थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन सेमेटिक जातियोंकी सम्पूर्ण शिक्षा अत्यन्त संकुचित तथा अनुदार घेरेमें घिरकर घुट गई, पनप नहीं पाई, बढ़ नहीं पाई।

यूनानमें शिक्षा-योजना

यूनानमें होमरके समयसे जिस शिक्षा-पद्धतिका श्रीगणेश हुआ था वह रोमके आक्रमणतक अनेक रूपोंमें परिवर्त्तित होती रही। यह परिवर्त्तन शिक्षाके आदर्शोंमें भी हुआ और पाठन-सामग्रीमें भी। जिस युगमें योरोपपर यूनानका प्रभुत्व था उस युगमें भी यूनानके विभिन्न राज्योंमें भिन्न-भिन्न शिक्षण-व्यवस्थाएँ थीं, जिनमें मुख्यतः दो प्रधान थीं—एक अथेन्स (एथेन्स) की और दूसरी स्पार्त्ता (स्पार्टा) की। दोनोंकी आदर्श-भिन्नताका कारण बहुत कुछ प्राकृतिक था। अथेन्सके लोग आयोनियों (आयोनियन्स) की सन्तान थे—अत्यन्त कल्पनाशील, कलात्मक और साहित्यिक रुचिवाले। स्पार्त्तीय लोग दोरियों (डोरियन्स) की सन्तान थे—अत्यन्त कल्पनाहीन, अपने कामसे काम रखनेवाले और परम योद्धा। अथेन्सीय लोग समुद्रके पास रहते थे और विभिन्न देशोंके साथ व्यापारका सम्बन्ध स्थापित कर लेनेके कारण उनकी वृत्ति, संस्कृति और भावना अत्यन्त उदार और परिष्कृत हो गई थी। उधर स्पार्त्तीय लोग पर्वतोंसे घिरी हुई घाटियोंके परिमित संस्कारमें पले थे और बाहरके जगत् तथा उदार व्यवहारसे नितान्त विच्छिन्न थे।

इस भिन्न प्राकृतिक जीवनके परिणामस्वरूप अथेन्सियोंकी शिक्षाका

आदर्श बना 'सुन्दरता तथा सुखके साथ पूर्ण जीवनका उपभोग करना'। फल यह हुआ कि एथेन्समें व्यक्ति, उसकी रुचि तथा सम्मतिका बड़ा आदर किया जाने लगा। सौन्दर्यकी उदात्त भावनाके साथ वहाँके बालकोंको यूनानी व्याकरण, काव्य, भाषा-शैली, अलंकार-शास्त्र, वक्तृत्व-कला, संगीत, गणित, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिकी शिक्षा दी जाने लगी। वहाँके अध्यापक सब परम स्वतन्त्र और मनस्वी थे। वे पैदागौग (अध्यापक) ही धीरे-धीरे दैमागोग (राजनीतिज्ञ) भी बन गए। उन्होंने अपने व्यक्तिवादको तो आवश्यकतासे अधिक समुन्नत किया ही, साथ ही अपने शिष्योंको भी ऐसे अवाञ्छनीय रूपसे प्रगतिशील, स्वच्छन्द, उच्छृङ्खल, झगड़ालू और उद्दण्ड बना दिया कि उनके हृदयमें न तो राज्यके ही प्रति निष्ठा रह गई न अपने गुरुओंके ही प्रति। चारों ओर अविनय फैल गया।

स्पार्त्तियोंका आदर्श हुआ 'साहस और विनय (डिसिप्लिन) का इस प्रकार संवर्द्धन करना कि व्यक्ति सब प्रकारसे राज्यके लिये आत्म-समर्पण कर सके।' वहाँ साहित्य तथा कलाके अध्ययनके लिये बहुत ही कम प्रोत्साहन दिया गया। हुआ यह कि अपने आदर्शकी रक्षाके फेरमें सारी राजकीय शिक्षाने सैनिक बाना पहन लिया और कठोर शासनके लिये 'स्पार्त्ती नियम' एक लोकशब्द बन गया। वहाँ युद्धमें जानेवाले सैनिकको ढाल देकर यही कहा जाता था—'इसे साथ लेकर आना या इसपर चढ़कर आना।' जो युद्धमें जीतकर आता था वह अपनी ढाल साथ लेकर आता था और जो वीरगतिको प्राप्त होता था उसे उसीकी ढालपर डालकर घर लाया जाता था। कठोर सैनिक-शिक्षाका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत शिक्षा दी नहीं गई और इसीलिये स्पार्त्तियोंकी नैतिक दशा कभी सुधर नहीं पाई।

व्यक्तिगत समुन्नतिकी शिक्षाके अभावमें स्पार्त्तासे एक भी तेजस्वी शिक्षा-शास्त्री उत्पन्न नहीं हो सका। यूनानके सभी प्रसिद्ध शिक्षा-विशेषज्ञ,

गुरु और लेखक अथेन्सवासी ही थे जिनमेंसे चार महापुरुषोंकी ख्याति आजतक बनी हुई है। वे हैं (सोक्रतेस्, सुकरात या सौक्रेटीज़), चीनोफन (क्सेनोफ़न या ज़ेनोफ़न), अफ़लातून (प्लातो या प्लेटो) और अरस्तू (अरिस्तोतल या ऐरिस्टौटिल), जिन्होंने योरोपकी शिक्षाके इतिहास और विधानको बहुत दिनोंतक प्रभावित किए रक्खा।

रोमी शिक्षा-पद्धति

रोमवाले भी प्रकृतितः अथेन्सियोंकी अपेक्षा स्पार्तियोंसे अधिक मिलते-जुलते थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षाका केन्द्र था घर, जहाँ एकमात्र गृहपतिका शासन चलता था। बालकोंको बारह सरखियोंके नियम, व्यापार, खेती, नागरिक कर्त्तव्य, पढ़ने, लिखने और गणितकी शिक्षा दी जाती थी। कन्याओंको केवल घरके कामकी शिक्षा दी जाती थी।

जब रोमवालोंने यूनानको जीता तब एक उल्टी बात यह हुई कि रोमकी शिक्षा-प्रणालीपर यूनानियोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। सैकड़ों यूनानी शिक्षक रोममें आ धमके और रोमवालोंकी शुद्ध व्यावहारिक शिक्षामें साहित्य और कलाका भी समावेश हो गया। फल यह हुआ कि छोटे बच्चोंको तो यूनानी काव्य और गद्यकी शिक्षा दी जाने लगी और ऊँची कक्षाओंमें इतिहास, विज्ञान, दर्शन, वक्तृत्व कला, वाक्चातुर्य और शास्त्रार्थ-कलाकी। इस शिक्षाके व्यापक प्रभावसे रोममें सिसरो, सेनेका और क्विन्तिलियन जैसे प्रतिभाशील शिक्षा-शास्त्री और वक्ता उत्पन्न हुए, धड़ाधड़ विद्यालय खुलने लगे और थोड़े ही समयमें रोम-साम्राज्यमें शिक्षाका प्रशस्त प्रसार हो चला। इसी बीच सहसा ट्यूटोनी दस्युओंने आक्रमण करके रोम-साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर डाला और यूनानी तथा रोमी शिक्षा-शास्त्रियोंके समस्त परिश्रमपर पानी फिर गया। इस बर्बर आक्रमणका अत्यन्त भयानक दुष्परिणाम यह हुआ कि यूनान और रोमकी वह प्रशस्त शिक्षा-पद्धति फिर पनप ही नहीं पाई, उसका अन्त हो गया।

योरोपीय शिक्षापर ईसाई पादरियोंका प्रभुत्व

योरोपमें ईसाई पादरियोंका जब प्रभुत्व हुआ तब उन्होंने केवल धार्मिक व्यवस्थापर ही नहीं वरन् शासन-व्यवस्थापर भी अधिकार कर लिया। उनके अनुसार जीवनका उद्देश्य यही था कि सब लोग साधु-वृत्ति धारण कर लें और ससारकी सब वस्तुओंसे विरक्त हो जायँ। इसलिये शिक्षाका भी उद्देश्य हो चला परलोककी साधनाके लिये तैयारी करना। फलतः ईसाई मठोंमें इसी प्रकारकी शिक्षा दी जाने लगी और वहाँके सभी विद्यार्थी अपना अधिकांश समय प्रार्थना और ध्यानमें लगाने लगे, प्राचीन धार्मिक शिक्षाओं और ग्रन्थोंका आदर होने लगा और इन ईसाई मठोंमें रहने और पढ़नेवाले छात्र इन ग्रन्थोंकी सुन्दर कलात्मक प्रतिलिपि करना ही अपना सौभाग्यवर्द्धक व्यवसाय समझने लगे। इस कार्यमें अधिक दक्ष करनेके लिये नये मूँड़े हुए चेलोंको पढ़ना, लिखना, गाना, गिरजाघरमें पूजा करना और साधारण-सा गणित भी सिखाया जाने लगा। इसके पश्चात् उन्हें विद्यात्रयी [लैटिनका व्याकरण, भाषण-कला तथा तर्कशास्त्र] और ज्ञान-चतुष्टय [गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष, संगीत] सिखानेकी व्यवस्था की गई और इस प्रकार 'सप्त ज्ञान-विस्तारक कलाओं' (सेविन लिबरल आर्ट्स) के शिक्षणका क्रम चलने लगा।

नागरता या सामन्तवाद (शिवेलरी)की शिक्षा

धार्मिक व्यूहसे मुक्त व्यक्तियोंने इन ज्ञानविस्तारक कलाओंसे भले ही कुछ लाभ उठाया हो, किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य धार्मिक अभ्युत्थान ही था, यहाँतक कि अलकुइनके नेतृत्वमें चार्लमैग्नेने जो इस सम्बन्धमें प्रयास किए वे भी शिक्षाके उद्देश्यको बहुत बदल नहीं पाए। उनकी मृत्युके समयतक पढ़े-लिखे लोग केवल पादरी ही होते थे। साधारण जन, यहाँतक कि कुलीन वर्ग भी, नाममात्रकी ही शिक्षा पाते थे। कुलीन वर्गको जो शिक्षा दी जाती थी उसे शिक्षाके बदले साहसपूर्ण नागरिकता (शिवेलरी), सामन्तवाद या संक्षेपमें नारी-सेवा कहा जा

सकता है। किसी भी युवकको प्रारम्भमें किसी सरदार या किसी महिलाके साथ उसका सेवक होकर रहना पड़ता था, उसे काव्य और संगीतकी शिक्षा दी जाती थी और चतुरङ्ग (शतरंज) खेलना सिखाया जाता था। कुछ और बड़े होनेपर उसे सैनिक शिक्षा दी जाती थी और आखेट करना, घुड़सवारी करना, घोड़ेपर चढ़कर भालेसे द्वन्द्व-युद्ध करना, तैरना और गाना सिखाया जाता था। इसीके साथ-साथ ईसाई धर्मका भी उसे ज्ञान कराया जाता था। जब वह स्वयं सरदार बन जाता था तब उसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा दी जाती थी, सदाचारका अभ्यास करना सिखाया जाता था और तब ईसाई धर्म तथा महिलाओंकी रक्षाके लिये दीक्षित कर लिया जाता था।

विद्वन्मंडलकी स्थापना

ईसाई मठोंके विद्यालयोंमेंसे ही एक नये प्रकारके विद्वन्मण्डल आविर्भूत हुए जिनका उद्देश्य यह था कि धर्मकी समुन्नतिके निमित्त यूनानी भाषाका प्रयोग किया जाय। इन लोगोंने तर्कवादको बड़ा महत्त्व दिया जिसके अध्ययनका यह उद्देश्य था कि उसके द्वारा नये ज्ञान-तत्त्वोंकी खोज करनेके बदले प्राचीन ज्ञान-तत्त्वोंका समर्थन किया जाय और उन्हें सत्य प्रमाणित किया जाय। इन लोगोंने अरस्तू और उसके ग्रन्थोंको ही ज्ञानका मूल मान लिया और अपनी सारी शक्ति उन्हींका अध्ययन करने और उन्हींको सिद्ध करनेमें लगा दी।

ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियोंमें कारीगरों, मिस्त्रियों और व्यापारियोंकी चेष्टासे बहुतसे छोटे-छोटे गाँव भी बड़े-बड़े नगर बन गए। इन लोगोंने अपने-अपने व्यावसायिक संघ (गिल्ड) बना लिए और इन संघोंने निश्चय कर लिया कि अपने भावी सदस्योंको शिक्षित करके ही साँस लेंगे। इन संघोंने कुछ पादरी अध्यापक नियुक्त कर लिए जो बच्चोंको पढ़ना-लिखना और गणित सिखाते थे। नगरोंमें इस प्रकारके विद्यालय खुलते गए और इन संघीय विद्यालयोंमें शिक्षाकी प्रणाली यह हो गई कि

बालकोंको कुछ दिनोंतक किसी भी व्यवसायीके साथ रहकर उसका काम सीखना पड़ता था और काम सीखकर एक निश्चित अवधितक उसके यहाँ काम भी करना पड़ता था।

विश्वविद्यालयोंका प्रादुर्भाव

ग्यारहवीं शताब्दिके निर्वाण काल और बारहवीं शताब्दिमें विश्व-विद्यालय खुलने लगे। जैसे भारतवर्षमें विशिष्ट विद्वानोंकी परिषदें पीछे चलकर गुरुकुलके रूपमें परिणत हो गईं वैसे ही योरोपमें भी प्रारम्भमें कुछ विद्यार्थी किसी विशेष विद्याके अध्ययनके लिये एकत्र होते थे—जैसे सालेनोंमें भैषज्य-विद्याके लिये या बोलोनामें न्यायनीति (क़ानून) सीखनेके लिये—और वहाँ विश्वविद्यालय बन जाता था। पारी (पैरिस) विश्वविद्यालयका उद्‌भव एक गिरजाघरसे संबद्ध विद्यालयसे हुआ जो वास्तवमें अध्यापकोंका ही एक संघटन मात्र था। वहाँ पहले केवल ईसाई धर्मशास्त्र पढ़ाया जाता था। उन दिनों आजकलके समान अनेक भवनों और विभागोंसे युक्त लंबा-चौड़ा भूमिभाग विश्वविद्यालयोंको प्राप्त नहीं था यहाँतक कि व्याख्यान सुननेके लिये भी छात्रगण किसी भलेमानुसके घरमें या किरायेके भवनमें जुटा करते थे।

मध्यकालीन युगकी शिक्षा

मध्यकालीन युगमें कला, सौन्दर्य-प्रेम, साहित्य, कविता और विज्ञानने ईसाई धर्म और गिरिजाघरको सहायता देते हुए बड़ी उन्नति की। मुसलमानोंके हाथसे अपना धर्मदेश—ईसाका जन्मस्थान जेरूसलम—छीननेके लिये सोलहवीं शताब्दीमें इसाइयोंने जो धर्मयुद्ध किया था उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि लोगोंके विचार बदलने लगे और पादरियोंके प्रभावसे जो विषय अबतक त्याज्य समझे जाते थे वे भी जागरणकालमें जाग उठे। साहित्य और ज्ञानकी अभिवृद्धिके निमित्त यूनानी और लातिन भाषाएँ पढ़ाई जाने लगीं और शिक्षाका उद्देश्य हुआ व्यक्तित्वका संवर्द्धन। पादरियोंका प्रभाव घटने लगा और

लोग यश तथा नाम कमानेके फेरमें पड़ गए। यद्यपि शिक्षणका काम तो इस समयतक भी पादरियोंके ही हाथमें था किन्तु शिक्षण-सामग्रीमें वृद्धि हो गई। जागरणकालके इन अध्यापकोंने विशेषतः पेत्रार्कने भाषाकी शिक्षाको इतनी प्रधानता दे दी कि शारीरिक, सामाजिक, कलात्मक और वैज्ञानिक शिक्षाके तत्त्व पीछे छूट गए। किन्तु पेत्रार्कके स्वदेशवासी विक्तोरिनो द फ़ेल्त्रे ने उससे असहमत होकर इतिहास और सभ्यताकी शिक्षाको अधिक महत्त्व दिया।

सुधार और प्रतिसुधारके युगमें शिक्षा

सुधार और प्रतिसुधारके युगमें जब धर्मके विषयमें परिवर्तन हुए तो शिक्षाका क्षेत्र भी उसके प्रभावसे अछूता न बच सका। लूथर और मैलांख्थौन दोनोंने यह पुकार मचाई की कि राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा दी जाय और राज्यका यह धर्म हो कि वह नये विद्यालय स्थापित करके, उनका पोषण करके प्रत्येक बालकको वहाँ पढ़ानेके लिये विवश करे। इस प्रकार सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षाका शंख फूँका गया और यह कहा गया कि जनताकी तात्कालिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भाषा तथा व्यावहारिक विषयोंकी शिक्षाका प्रबन्ध प्रारम्भिक पाठशालाओंमें कर दिया जाय। माध्यमिक पाठशालाओंमें अर्थात् लातिन पाठशालाओंमें (इंगलैंडमें ये ग्रैमर स्कूल्स कहलाती थीं) उदात्त काव्य, इतिहास सर्वगणित, व्याकरण, भाषण-कला, तर्कशास्त्र, संगीत और व्यायामकी शिक्षा दी जाने लगी। कहा तो यह जाता था कि इन पाठशालाओंसे निकले हुए छात्र लोकनेता होंगे, किन्तु वास्तवमें ये सब विश्वविद्यालयके प्रवेशार्थी ही निकले, जिनका मुख्य उद्देश्य अध्यापक या राजमन्त्री बनना होना था। जागरणकालने शिक्षाक्षेत्रमें जिस उदारताकी आशा दिलाई थी वह सुधारकालमें ठंढी पड़ गई और शिक्षकोंद्वारा उन विभिन्न सम्प्रदायोंका समर्थन किया जाने लगा जो रोमन कैथोलिकोंके विरुद्ध विद्रोह करनेके फलस्वरूप उत्पन्न हो चले थे। इन प्रोटेस्टेंटों

पाठशालाओंसे मिलती-जुलती जेसुइतोंकी पाठशालाएँ थीं जिन्होंने शिक्षामें पूर्णता और सुशिक्षित अध्यापकोंकी नियुक्तिको इतनी महत्ता दी कि यह बात लोकोक्ति-सी बन गई।

सोलहवीं शताब्दीके पिछले अर्द्धमें और पूरी सत्रहवीं शताब्दीमें शिक्षापर इस धार्मिक शासन और रूढ़िका बड़ा प्रभाव बना रहा। देखनेमें तो पाठ्यक्रम बड़ा मानवोचित और स्वाभाविक लगता था किन्तु वास्तवमें वह वैसा ही कठोर और पंडिताऊ था जैसा मध्ययुगमें।

यथार्थवादी या प्रत्यक्षज्ञानवादी

इस शिक्षा-पद्धतिका राबैल, मिल्टन, मौन्टेन तथा सर फ्रान्सिस बेकन जैसे विद्वानोंने बड़ा विरोध किया। ये लोग यथार्थवादी या प्रत्यक्षज्ञान-वादी (सेन्स-रीअलिस्ट्स) कहलाते हैं। इनका कथन था कि यदि साहित्यका अध्ययन करना हो तो उसके शब्द-रूपों और उसके व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगोंपर माथापच्ची और शास्त्रार्थ न करके उसके भाव, उसकी ध्वनि और उसके अर्थको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार यदि प्रकृति, न्यायविधान, कला या शिल्पका अध्ययन करना हो तो उसका मौखिक शब्दबोध करनेके बदले उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण, अनुभव और प्रयोग करना चाहिए। पाठ्यक्रममें साहित्य और भाषाकी प्रधानता थी और इसका विरोध भी नहीं हुआ। इसके समर्थकोंका उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा हम राष्ट्रको 'नियमित संयम' (फ़ौर्मल डिसिप्लिन) सिखा सकते हैं और इस नियमित संयम-सिद्धान्तके आचार्य हुए प्रसिद्ध अँगरेज़ जौन लौक। 'उनका कहना था कि क्या सीखा या पढ़ा जाता है इसका कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व इस बातका है कि कैसे पढ़ा या सीखा जाता है। छात्रके लिये शिक्षाका फल यही है कि वह पढ़ने या सीखनेकी क्रियाके साथ-साथ संयम भी सीखता चले।

२

शिक्षामें तथ्यवाद

मिल्टन, मौन्टेन, लौक

सुधार तथा जागरणके युगमें जो बौद्धिक जागति हुई थी उसका एक रूप तो था मानवतावाद (ह्यूमेनिज्म), जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है किन्तु एक दूसरी प्रवृत्ति इसमेंसे प्रादुर्भूत हुई जिसने प्रारम्भिक अवस्थामें तथ्यवाद (रीअलिज़्म) का रूप धारण किया। उसका स्पष्ट उद्देश्य यह था कि मनुष्यको ईश्वरने जो बुद्धि दी है उसका उपयोग ठीक-ठीक करके और जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं उनसे अनुभव करके मनुष्य जिस बातको सत्य या वास्तविक समझता हो उसे ही शुद्ध ज्ञान समझकर ग्रहण करे, किसी पोथीको प्रमाण न माने चाहे वह किसीने भी लिखी हो। इसका तात्पर्य यह है कि इस नये मानवतावादका आधार हुआ प्रत्यक्ष या गोचर तथा युक्तियुक्त अथवा बुद्धिसंगत बातोंको ही वास्तविक ज्ञान मानना। इसका कारण स्पष्ट यह था कि सम्पूर्ण साहित्यमें अनेक इस प्रकारकी बातें, घटनाएँ, वर्णन और कथाएँ भरी पड़ी थीं कि उन्हें किसी प्रकार भी सत्य या वास्तविक नहीं समझा जा सकता था। अतः इन नवीन आन्दोलनकारियोंका कहना था कि ज्ञान सत्य होता है और सत्य या तो प्रत्यक्ष होता है या बुद्धिसंगत। क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षाका लक्ष्य है इसलिये मनुष्यको ज्ञानके रूपमें वही ग्रहण करना चाहिए जो स्वानुभूत तथा युक्तिसंगत हो।

तथ्यवाद तथा स्वानुभूतिवाद

इस प्रवृत्तिका सबसे अधिक स्पष्ट और अन्तिम रूप था

इन्द्रियानुभववाद या स्वानुभूतिवाद (सेन्स-रीअलिज़्म), जिसका तत्त्व यह था कि हमें अपनी इन्द्रियों और बुद्धिगम्य तर्कों-द्वारा ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, पोथा रटने और रूढ़ियोंमें अंध-विश्वास करनेसे नहीं। उनका कहना था कि संसारकी सब वस्तुएँ अलग-अलग अध्ययनीय विषय हैं और इसलिये उनका अध्ययन भी अलग-अलग होना चाहिए। अतः शिक्षाके क्षेत्रमें इस तथ्यवादने प्राकृतिक विज्ञानोंकी खोजपर ही विशेष ध्यान दिया। इस तथ्यवादके दो पक्ष थे, एक था मानवतावादी तथ्यवाद (ह्यूमेनिस्टिक रीअलिज़्म) और दूसरा था समाजवादी तथ्यवाद (सोशलिस्टिक रीअलिज़्म)।

मानवतावादी तथ्यवाद

पिछले खेवेके मानवतावादियोंने संसारके समस्त पदार्थोंका वास्तविक तथ्य समझनेके लिये यह प्रयत्न किया कि किसी भी लेखकके शब्दोंमें जिन भावोंके अभिव्यक्ति हुई है उनमें वास्तविक वस्तुओं तथा तत्त्वोंकी खोज करें। इस उदार मानवतावादका फल यह हुआ कि लोगोंने उदात्त साहित्य (क्लासिकल लिटरेचर) के शब्दों और बँधे हुए रूपोंकी उपेक्षा करके उसके वर्ण्य विषयकी ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया। यही था मानवतावादी तथ्यवाद क्योंकि इसमें उदात्त काव्योंके विषयका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये काव्यमें वर्णित कथाके समयकी सामाजिक, भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थतिके अध्ययनकी प्रवृत्ति लोगोंमें बढ़ चली, यहाँतक अंग्रेज़ कवि मिल्टन (१६०८-१६७४ ई०) तो कोरे लातिन वैयाकरणों और कोरे साहित्यकारोंसे चिढ़कर यह कहने लगा था कि साहित्यकी विषय-सामग्रीका ठीक परिज्ञान करनेके लिये पहले कृषिशास्त्रियोंके लातिन ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ और प्राकृतिक इतिहास, भूगोल तथा भेषजविज्ञानमें पूर्ण प्रवेश पानेके लिये पहले यूनानी ग्रन्थकारोंके ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ। मिल्टन भली प्रकार समझता था कि प्रकृतिका वर्णन करनेवाला जो कवि अपने देशकी ऋतु, जलवायु, लता,

गुल्म, वृक्ष, पशु-पक्षी आदिसे अपरिचित होगा वह उस देशकी प्रकृतिमें जीवनलीला दिखानेवाले व्यक्तियोंपर प्रबंध-काव्य कैसे लिख सकेगा।

समाजवादी तथ्यवाद

जहाँ एक ओर लिखित साहित्यमें वास्तविकता ढूँढ़नेका प्रयत्न हो रहा था वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लोग थे जो यह समझ रहे थे लिखित ज्ञान प्राप्त करनेके अतिरिक्त मनुष्यका अपना वास्तविक जीवन भी है जिसे वह सामाजिक प्राणी होनेके नाते निबाहना चाहता है और जो उसे निबाहना पड़ता है। अतः केवल कुछ तथ्य बताना मात्र ही शिक्षाका चरम लक्ष्य या ज्ञानकी परमावधि नहीं मान लेनी चाहिए क्योंकि शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करनेका उद्देश्य तो यही है कि जीवन-निर्वाहमें मनुष्य उस ज्ञानका प्रयोग कर सके। यदि यह न हो सका तो उस तथ्य-ज्ञानसे लाभ क्या हुआ और उस ज्ञानार्जनके निमित्त समय तथा द्रव्य लगानेका क्या प्रयोजन रहा। इस विचारके आधारपर तथ्य-वादियोंका एक नया पन्थ चल पड़ा—सामाजिक तथ्यवाद। इन समाज-वादी तथ्यवादियोंके मतसे शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि वह छात्रोंको इस वास्तविक संसारमें रहने और जीवन वहन करने योग्य बना सके तथा जीवनके अवसरों और कर्तव्योंके लिये सीधी व्यावहारिक बातें बता सके। इन लोगोंका विश्वास था कि उच्च समाजके उच्च वर्गको साहित्यिक शिक्षाके साथ मध्ययुगीन वीरताकी शिक्षा भी दी जाय जिससे वह वर्ग शिष्ट और सज्जन भी बन सके। इनका विचार था कि छात्रोंको विद्यालयोंमें पढ़ानेकी अपेक्षा किसी एक घरेलू अध्यापक-द्वारा या देशाटन-द्वारा शिक्षा देनी चाहिए और इसीलिये इन्होंने अपने पाठ्यक्रममें दौत्यकर्म (राजदूतका काम), मुख-सामुद्रिक-शास्त्र (किसीका मुख देखकर उसका उसका स्वभाव जान लेना), अश्वारोहण, बर्छी चलाना और फुर्तीले व्यायामके साथ-साथ वर्तमान भाषाओं तथा पास-पड़ोसके देशोंकी रीति-नीति और आचार-विचार आदि विषयोंको स्थान दिया था।

मौन्टेन और लौक

इस प्रकारकी शिक्षाका ठीक विवरण मौन्टेन (१५३३ से १५९२ ई०) के "बच्चोंकी शिक्षा" नामक निबन्धोंमें तथा जौन लौक (१६३२ से १७०४ ई०) के "शिक्षा-सम्बन्धी कुछ विचार" नामक ग्रन्थमें मिल सकता है। लौकने महत्त्वके क्रमसे शिक्षाके उद्देश्य रक्खे हैं—१. सद्गुण या सदाचार, २. ज्ञान (सांसारिक या इहलौकिक समस्त विषयोंका ज्ञान), ३. भाव-संस्कार अथवा मनकी उदारता और ४. विद्या। उसका कहना है कि यह शिक्षा केवल ऐसे शिक्षक-द्वारा ही प्राप्त हो सकती है जो स्वयं अच्छे संस्कारोंमें पला हो, जिसे विभिन्न प्रकारके अवसरों और स्थनोंके अनुकूल नागरिक आचरणोंका ज्ञान हो और जो अपने शिष्यको युगका आवश्यकताके अनुसार इन सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी व्यवस्था करा सके। पाठ्यक्रमके विषयमें उसका मत है कि पुस्तक-ज्ञानके अतिरिक्त उसे सज्जनों या शिष्ट नागरिकोंके भी कुछ गुण प्राप्त करने चाहिएँ जैसे नृत्यकला, अश्वारोहण, बर्छी चलाना और मल्लयुद्ध करना।

मानवतावादी तथ्यवादपर मिल्टनका मत

वास्तवमें न तो मानवतावादी ही सामाजिक पक्षको छोड़ना चाहते थे न सामाजिकतावादी मानव पक्षको। मानवतावादी तथ्यवादके समर्थक मिल्टनने कहा है कि भाषा और पुस्तककी शिक्षाके साथ-साथ पाठ्यक्रमके अन्तमें इतिहास, नीति-शास्त्र (ईथिक्स), राजनीति, अर्थशास्त्र और धर्मविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञान भी सिखाने चाहिएँ एवं ऐसी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए जो विद्यार्थीको जीवनके निकटतम पहलुओंसे सम्पर्क करा दे। उसका विचार है इँग्लैण्ड तथा अन्य देशोंमें विद्यार्थियोंको देशाटन-द्वारा भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसने विद्यालयोंके सुधारका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये एक ज्ञानमन्दिर (ऐकेडेमी) स्थापित किया और सन् १६४४ में एक शिक्षा-प्रबन्ध (ट्रैक्टेट औफ़ एजुकेशन) लिखा। मिल्टनका विचार था कि किसी काव्यके

बँधे-बँधाए शब्दरूपोंकी रटाई छोड़कर हमें उन विचारों और तथ्योंका अध्ययन करना चाहिए जिनकी अभिव्यक्ति शब्दों-द्वारा होती है। काव्यका भाव समझना, उसका सन्देश समझना ही वास्तवमें हमारे अध्ययनका लक्ष्य होना चाहिए और उस अध्ययनसे हमारे व्यवहार और विचारमें जो परिवर्त्तन हो वही हमारे लिये ग्राह्य होना चाहिए। इसी ज्ञानको आचार्योंने मानवीय सानुभवज्ञान कहा है।

मौन्टेन

सामाजिक तथ्यवादी मौन्टेनने भी वास्तविकतापूर्ण मानवतावादको अधिक महत्त्व दिया। "दिखावटी विद्वत्तापर" (ओन पेडेण्ट्री) नामक अपने ग्रन्थमें उसने तत्कालीन संकुचित मानवतावादी शिक्षापर बड़ा कठोर व्यंग्य किया है और तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीकी आलोचना करते हुए कहा है कि 'हमारे विद्यालयोंमें जो शिक्षा दी जा रही है वह अत्यन्त नियन्त्रित, कृत्रिम और संकुचित मानवताकी है।' उस शिक्षाका फल था लातिन और यूनानी भाषाओंके शब्द और धातु-रूप रटना, न रटनेपर अध्यापकके डंडे खाना, मार सहना, कोठरियोंमें बन्द किए जाना और पढ़-लिख चुकनेपर अत्यन्त व्यवहार-शून्य, शब्द-संचय-मात्रसे युक्त ऐसे साधनहीन, प्रयोगहीन तथा अनुभवहीन नागरिक बनकर निकलना जिनकी रचनात्मिका शक्ति कुण्ठित हो गई हो और जिन्हें मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें चारों ओर शून्य ही शून्य दिखाई पड़ता हो। इसीलिये मौन्टेनने यह व्यवस्था दी कि अध्यापकका कर्त्तव्य केवल यही नहीं है कि वह पाठके शब्दोंमें ही विद्यार्थीकी परीक्षा ले, उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह पाठके अर्थ और भावका भी परीक्षण करे। उसे केवल यही नहीं देखना चाहिए कि विद्यार्थीने कितना रटा है प्रत्युत यह भी देखना चाहिए कि छात्रने कितना समझा है और कितना लाभ उठाया।

मानवतावादी शिक्षाके अन्य आचार्य

इस मानवतावादी शिक्षाके अन्य आचार्योंमें राबैले (१४९५-

१५५३ ई०) और मलकास्टर (१५३०-१६११ ई०) के अतिरिक्त आथवेट आदि बहुतसे विद्वान् हुए जिन्होंने और भी उदार तथा बहुमुखी शिक्षाके साथ-साथ प्राकृतिक और सर्वसाधारण पद्धति-द्वारा शिक्षा देनेके सुझाव प्रस्तावित किए थे, यहाँतक कि मलकास्टरने तो सार्वभौम प्रारम्भिक शिक्षा, अध्यापकोंकी शिक्षा, कन्याओंकी शिक्षा एवं शिक्षाके दार्शनिक तत्त्वके आधारपर बालकोंके मनका विश्लेषण करनेका भी सुझाव दिया था। वर्त्तमान शिक्षाके लिये इन सब प्रारम्भिक वास्तविकता-वादियोंने इतने सुझाव दिए थे कि इन्हें लोग नवप्रवर्त्तक कहने लगे थे। इन्होंने प्राचीन रूढ़िवाद और बन्धनयुक्त मानवतावादको छिन्न-भिन्न कर डाला और वास्तविक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी शिक्षाका प्रचार किया जिसमें पाठ्य-विषयोंकी बहुलता थी।

सामन्त शिक्षालय या रिट्टेर आकाडेमियन

इसी समय जर्मन राज्योंमें सत्रहवीं शताब्दिमें इस सामाजिक-वास्तविकतावादसे प्रभावित एक प्रकारके नये विद्यालय खुले जिनमें सामन्तों और सरदारोंके बच्चोंको फ्रांसीसी, इतालवी, स्पेनी और अँगरेज़ी भाषाओंके साथ-साथ शिष्टाचार, नृत्य, बर्छी चलाना, अश्वारोहण, दर्शनशास्त्र, सर्वगणित, भौतिक विज्ञान, भूगोल, गणनाशास्त्र, न्यायविधान, मुख-सामुद्रिक-विज्ञान और दौत्य-कर्मकी शिक्षा दी जाती थी। इन विद्यालयोंको रिट्टेर-आकाडेमियन या सामन्त-शिक्षालय कहते थे। इनमें व्यायामशाला (जिमनेशिया) के सब कार्योंके साथ-साथ वर्त्तमान भाषाओं, विज्ञानों और सामन्तवादी कलाओंका भी शिक्षण होता था। इनमें विश्वविद्यालयोंका भी थोड़ासा पाठ्यक्रम मिला लिया गया था।

मानवतावादी तथा समाजवादी तथ्यवादका विश्लेषण

समाजवादी तथ्यवादियोंने जहाँ काव्योंमें वास्तविक ज्ञान ढूँढ़नेका प्रयास किया था वहाँ उन्होंने शिक्षाके उद्देश्य और आदर्शको समझनेका कोई प्रयत्न नहीं किया और यही कारण है कि उन्होंने चरित्र-निर्माणका

उदार, विश्वमान्य तथा सर्वोद्देश्य-युक्त लक्ष्य छोड़कर शिक्षाका लक्ष्य समझा केवल जीवन-वहन करनेकी योग्यता। इसका स्वाभाविक कुपरिणाम यही हुआ कि छात्रोंमें स्वार्थकी भावना अधिक बलवती हो गई तथा उदात्त आचरणके साथ उत्पन्न होनेवाली परहित और लोक-कल्याणकी भावनाएँ नष्ट हो गईं। यद्यपि इन समाजवादी तथ्यवादियोंने साहित्यके साथ शीलकी शिक्षाका भी विधान किया था किन्तु वह आचार-विचारकी अनुकरणीय सांस्कारिक शिक्षाके अभावमें निरर्थक ही थी। इन समाजवादी तथ्यवादियोंकी यह उल्टी सूझ थी कि विद्यालय बन्द करके घरपर छात्रोंको पढ़ाया जाय और देशाटन कराया जाय, किन्तु इन्होंने यह विचार नहीं किया कि इतने अध्यापक कहाँ प्राप्त हो सकेंगे जो घर-घर जाकर पढ़ा सकें, सबके घरपर पढ़ने-लिखनेकी सुविधा और उसके साधन कहाँ होंगे और सब विद्याएँ जाननेवाले ऐसे अध्यापक कहाँ मिलेंगे जो सब कुछ पढ़ा सकें। देशाटनवाली योजना इससे भी अधिक अव्यावहारिक थी। यद्यपि यह सत्य है कि देशाटन-द्वारा बहुत अनुभव प्राप्त हो सकता है किन्तु यह अनुभव केवल भौगोलिक और सामाजिक-मात्र होता है। तर्क, विज्ञान, इतिहास, गणित, कला आदि अनेक ऐसे विषय हैं जो देशाटनसे सीखे नहीं जा सकते। फिर देशाटन करनेका सामर्थ्य भी तो सबमें नहीं होता। इतने बड़े विश्वमें इतने धनपतियोंमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो यह कह सके कि मैं इस धरित्रीके सब प्रदेश देख चुका हूँ। इसलिये जहाँ ये समाजवादी तथ्यवादी अपने छात्रोंको व्यावहारिक बनाना चाहते थे वहाँ उनकी शिक्षण-पद्धति ही स्वयं अव्यावहारिक बन गई थी। लौकने इस शिक्षाका रूप ठीक समझा था और वही एक ऐसा शिक्षा-शास्त्री है जिसने ज्ञान और विद्याके साथ सद्गुण और संस्कारका मेल करके 'विद्या ददाति विनयम्' के भारतीय सिद्धान्तका महत्त्व समझा। मिल्टनने तथ्यवादको जिस रूपमें समझने और सुलझानेका प्रयत्न किया वह बड़ा बेढंगा था। वह काव्यके

भावको प्रधानता देना ही मानवतावाद समझकर रह गया। उसने यह नहीं विचार किया कि कवि अपने काव्यमें जिस आदर्शकी प्रस्थापना करता है वह सदा सब कालके लिये मान्य नहीं हो सकता। वीरताकी भावना भिन्न देशोंमें भिन्न रूपसे हुई है और वह प्रत्येक देशकी संस्कृतिके अनुसार मान्य या अमान्य होती रही है। अतः काव्यके भावको महत्त्व न देकर मनुष्यके व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवनको समुन्नत करना ही शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिए था, किन्तु इस ओर इन तथ्यवादियोंका ध्यान ही नहीं गया। मानवतावादी आचार्योंको यह श्रेय अवश्य दिया जायगा कि उन्होंने सार्वभौम प्रारम्भिक शिक्षा, अध्यापन-कलाकी शिक्षा और कन्या-शिक्षाकी व्यवस्था की और बालकोंके मानसिक विकासका अध्ययन करनेके लिये मार्ग खोल दिया।

———

३

स्वानुभव-तथ्यवादी और विज्ञानका आन्दोलन

सत्रहवीं शताब्दिमें चारों ओर वैज्ञानिक उन्नतिकी लहर उठ खड़ी हुई और शिक्षा-शास्त्रियोंने वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति तथा प्रत्येक वस्तुका वास्तविक तत्त्व पहचाननेके लिये पाठ्यक्रममें विज्ञान भी जोड़ दिया। उस विज्ञानमें बहुतसी ऐसी बातें भी थीं जो धार्मिक अन्धविश्वाससे टक्कर खाती थीं। इसलिये पादरियोंके कान खड़े हुए। वे भला कब सहन कर सकते थे कि कोई वैज्ञानिक आकर यह कह दे कि पृथ्वी, सूर्य्यके चारों ओर घूम रही है। इसी प्रकार शरीर-विज्ञान तथा ज्योतिष-विज्ञानमें भी निरन्तर नई-नई बातें ज्ञात होती चली जा रही थीं। इसलिये पादरियोंने इस नये आन्दोलनका बड़ा विरोध किया और इन सब वैज्ञानिकोंको नास्तिक तथा धर्मद्रोहीतक घोषित कर डाला।

बेकन

फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६ ई०) को ही वैज्ञानिक खोजकी वह सर्वप्रथम व्यवस्थित पद्धति निकालनेका श्रेय है जिसका नाम उसने परिणाम-पद्धति (मैथड ऑफ़ इण्डक्शन) रक्खा। शिक्षाके क्षेत्रमें यह सर्वप्रथम वैज्ञानिक पद्धति मानी गई और इसीलिये लोग बेकनको सबसे पहला स्वानुभव-तथ्यवादी अर्थात् अपने अनुभवसे तथ्यको जानने और समझनेवाला मानते हैं। उसने अरस्तूकी सिद्धान्त-पद्धति (डिडक्टिव मैथड) का खण्डन किया जिसमें वैज्ञानिक लोग पहलेसे ही एक सिद्धान्त मानकर उसकी सिद्धिके लिये उदाहरण खोजते थे।

राटिख

बेकनका प्रभाव राटिखपर अधिक पड़ा। वह मानता था कि एक

समय एक ही विषय इस प्रकार पढ़ाया जाय कि उसकी आवृत्ति होती रहे। उसने शिक्षाके कुछ मूलमंत्र या गुर स्थिर किए थे जैसे "प्रकृतिके अनुसार चलो, प्रत्येक बात प्रयोग और परिणामके द्वारा सीखो, रटकर कुछ कंठाग्र न करो।" अनुभव-शून्यता तथा अन्य कई कारणोंसे वह अपनी योजनामें सफल न हो सका किन्तु उसके विचारोंने शिक्षाके क्षेत्रमें हलचल अवश्य मचा दी और उसके अनुयायी कमीनियसने इस जर्मन शिक्षाशास्त्रीको पैस्तालौज़ी. फ्रोबेल् और हर्बार्टका आध्यात्मिक पूर्वज सिद्ध कर दिया।

कमीनियस

जौन ऐमौस कमीनियस (१५९२-१६७१ ई०) का जन्म मोरावियाके निवनित्स नामक गाँवमें हुआ था और वह मोरावी चर्च (ईसाई धर्म-पद्धति) का प्रधान अनुगामी था। लातिन पाठशालामें शिक्षा पानेके पश्चात् वह हेरबोर्नके ल्यूथिरन कौलेज तथा हीडेलबर्ग विश्वविद्यालयमें दो वर्षतक शिक्षा पाता रहा। जीवनकी कुछ झंझटोंमें फँस जानेके कारण उसे बहुत इधर-उधर घूमना पड़ा और ऐसे बहुत प्रकारके लोगोंसे उसका सम्बन्ध हुआ जो उस समय शिक्षाके सुधार और संघटनमें दत्तचित्त होकर लगे हुए थे। यद्यपि उन सबकी शिक्षा-समस्याएँ भी कमीनियस जैसी ही थीं और उनका प्रभाव भी कमीनियसपर भरपूर पड़ा किन्तु कमीनियसने उन सबको परास्त कर दिया। उसके शिक्षा सम्बन्धी कार्य स्वानुभवतथ्यवादसे ही प्रभावित थे। उसने तीन दिशाओंमें प्रमुख रूपसे अपनी विशेषता प्रकट की—१. लातिन सीखनेके लिये पुस्तकमाला (जानुआ लिंग्वारम रेसेराता) की रचना की, २. महाशिक्षाशास्त्र' (दि ग्रेट डायडेक्टिक) रचा और ३. 'ज्ञानकी सर्वतोमुखी व्यवस्था करनेके उपाय' (पैनसोफ़िया) लिखा।

सन् १६३१ में कमीनियसने "जानुआ लिंग्वारम रेसेराता" (भाषाके द्वारका उद्‌घाटन) नामक लातिन पुस्तकमाला प्रकाशित की

जिसका उद्देश्य था लातिनके अध्ययनके लिये मार्ग खोलना। इस पुस्तकमालामें क्रम यह था कि अत्यन्त परिचित वस्तुओं और विचारोंके लिये प्रयुक्त होनेवाले कई सहस्र लातिन शब्दोंको वाक्योंमें क्रमबद्ध कर दिया गया था। पृष्ठके दाहिनी ओर लातिन छपी रहती थी और बाईं ओर देशी भाषाओंमें उसका अर्थ छपा रहता था। इस प्रकार छात्रको साधारण विज्ञानका भी परिचय मिल जाता था और लातिन शब्द-भांडारका भी अच्छा ज्ञान हो जाता था। थोड़े ही दिनोंमें कमीनियसने अनुभव किया कि प्रारम्भिक छात्रोंके लिये यह पुस्तकमाला कठिन होगी। तब उसने एक परिचय-पुस्तिका 'वेस्तीबुलेन' (ज्ञानकी दालान) लिखी जिसमें अत्यधिक साधारण तथा अति परिचित कुछ सौ शब्द थे।

शिक्षाके सम्बन्धमें उसने अपना पूरा मत "महाशिक्षाशास्त्र" (दि ग्रेट डायडेक्टिक) में प्रतिपादित किया है जो सन् १६५७ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। इसमें उसने तथ्यवादी आन्दोलनके भी सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंका समावेश कर लिया था और राटिख, बेतिअस तथा अन्य शिक्षा-शास्त्रियोंके सिद्धान्तों और शिक्षण-विधानोंका ठीक रूप भी समुन्नत कर दिया था। उसने ज्ञान, सदाचार और पवित्रताको ही शिक्षाका आदर्श माना था और बालक-बालिका, अच्छे-बुरे, धनी-निर्धन सबके लिये सार्वभौम शिक्षाका समर्थन किया था। छात्रकी शिक्षण-अवधिमें उसने छः-छः वर्षकी चार अवस्थाएँ सम्मिलित की थीं—शिशु-शिक्षाकी अवधि अर्थात् जन्मसे लेकर छः वर्षतक माताकी गोदमें, छःसे बारह वर्षतक बालकोंको देशी भाषाकी ग्राम-पाठशालाओंमें बालशिक्षा, बारहसे अट्ठारह वर्षतक नगरोंके लातिन विद्यालयोंमें किशोर-शिक्षा और अट्ठारहसे चौबीस वर्षतक प्रत्येक प्रान्त या राज्यके विश्वविद्यालयमें युवक-शिक्षा।

इनके अतिरिक्त कमीनियसने जो ग्रन्थ लिखे हैं वे इसी 'महाशिक्षाशास्त्रके विस्तृत रूप समझने चाहिएँ। उसने 'पैनसोफ़िया' या

सर्वविषयक ज्ञानके नामसे जो वास्तविक शिक्षाकी योजना बनाई थी वही उसका मूल ध्येय था। उसका विश्वास था कि सर्वतोमुखी शिक्षा चारों प्रकारके विद्यालयोंमें अर्थात् मातृ-कक्षा, ग्रामकी देशी भाषा-पाठशाला, नगरोंके लातिन विद्यालय और राज्यके विश्वविद्यालय सभीमें दी जाय और आगेके प्रत्येक विद्यालयमें ज्ञानकी परिधिका उत्तरोत्तर विकास होता चले अर्थात् शिशुशिक्षा-कालसे ही भूगोल, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, भाषणकला, संगीत, शास्त्रार्थकला, गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष, अर्थशास्त्र राजनीति, तत्त्वज्ञान और धर्म सबका थोड़ा-थोड़ा साधारण परिचयात्मक ज्ञान कराते रहना चाहिए और आगेकी श्रेणियोंमें क्रमशः उस ज्ञानका निरन्तर विस्तार कराते रहना चाहिए जिससे नये विषय लानेकी आगे कोई आवश्यकता ही न रह जाय। यही प्रणाली आगे चलकर कन्सेण्ट्रिक मैथड (परिधि-विस्तार-पद्धति) के नामसे पसिद्ध हुई। इन शिक्षा-विद्यालयोंके अतिरिक्त कमीनियसकी इच्छा थी कि संसारमें कहीं एक ऐसा शिक्षण-शास्त्रका विद्यालय खोला जाय जिसमें सब देशों और जातियोंके वैज्ञानिक एक साथ मिलकर वैज्ञानिक शोध कर सकें।

शिक्षण-पद्धतिके सम्बन्धमें उसका सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण ज्ञान स्वाभाविक-पद्धतिसे ही दिया जाय। यद्यपि उसकी बहुतसी बातें सनकसे भरी थीं किन्तु फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं था। कमीनियस ही वह व्यक्ति था जिसने परिणाम-प्रणाली या इण्डिक्टिव मैथडका शिक्षामें सर्वप्रथम प्रयोग किया था। पढ़ना, लिखना, संगीत, विज्ञान, भाषा, सदाचार और धर्मकी शिक्षाके लिये भी उसने बेकनकी परिणाम-प्रणालीका ही प्रयोग किया। उसका कहना है कि विज्ञान सिखाते समय यदि वास्तविक वस्तुएँ न मिल सकें तो उनकी प्रतिकृति और चित्र आदि बनाकर दिखाए जायँ अर्थात् विद्यार्थीको प्रत्येक वस्तुका प्रत्यक्ष या स्वानुभव-ज्ञान मिलना ही चाहिए। इस प्रकार कमीनियसने स्वानुभव-तथ्यवादका आधार लेकर उसमें अनेक सुधार भी किए और बहुतसे

नये तथ्य भी जोड़े। इसीलिये उसे सत्रहवीं शताब्दिके शिक्षाशास्त्रियोंमें सबसे बड़ा सिद्धान्ताचार्य और व्यावहारिक सुधारक कहा जा सकता है क्योंकि उसकी शिक्षाभावना केवल फ्रांके, रूसो, बेसडो, पैस्टालौज़ी, हर्बार्ट तथा फ्रोबेल आदि पीछेके शिक्षाचार्योंके विचारोंमें ही प्रस्फुटित नहीं हुई वरन् आनेवाली शिक्षण-संस्थाओंके पाठ्यक्रम और उनकी शिक्षण-पद्धतियोंमें भी अभिव्यक्त हुई। एक बार फिर विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें विज्ञानका बोलबाला हो गया।

ल क

शिक्षा-शास्त्रियोंमें जौन लोक (१६३२-१७०४ ई०) ही ऐसा भाग्यवान् पुरुष है जिसे लोग तथ्यवादी, स्वानुभव तथ्यवादी या प्रकृतिवादी कहते हैं। अपने "शिक्षा-सम्बन्धी विचार" नामक ग्रन्थमें जो प्रवृत्ति उसने प्रकट की है उससे उसकी गणना पुराने खेवेके तथ्यवादियोंमें की जा सकती है। साथ ही उसमें कुछ ऐसे भी तत्त्व प्राप्त होते हैं जिनके कारण उसे स्वानुभव-तथ्यवादियोंकी श्रेणीमें भी रक्खा जा सकता है। उसके बहुतसे विचार तो रूसोसे इतने मिलते-जुलते हैं कि वह प्रकृतिवाद-तकका समर्थक कहा गया है। किन्तु सत्य बात यह है कि लौकने वास्तवमें सज्जनकी शिक्षाके लिये व्यावहारिक सुझाव दिए हैं जो उसने अपने एक मित्रके पुत्रकी शिक्षाके सम्बन्धमें उसे लिख भेजे थे। यदि लौक-द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक शिक्षाके तत्त्वोंका एक शब्दमें समास करें तो वह शब्द है— 'विनय या आत्मसंयम'। यहाँ विनयका अर्थ है भली प्रकार विशिष्ट नियमके अनुसार अपना आचरण संयत रखना। यह शब्द अँगरेज़ीके "डिसिप्लिन" शब्दका पर्यायवाची है। लौकके विचारसे सम्पूर्ण ज्ञान-लाभ अनुभवसे ही होता है। उसका कहना है कि मस्तिष्क कोरे कागज या मोम-पट्टी (टेबुला राज़ा या तबुला रासा) के समान है जिसपर हमारी इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य संसारकी छाप पड़ती चलती है। अतः मनको

विवेकशील बनानेके लिये अभ्यास तथा विनयकी बड़ी आवश्यकता है और मनके संयमके लिये सर्वंगणित तथा विज्ञानकी शिक्षा आवश्यक है।

नैतिक शिक्षाके लिये भी लौकका यह आदर्श है कि मनुष्यको अपनी इच्छाओंका तिरस्कार करके, अपनी रुचिकी उपेक्षा करके, मनकी वृत्तियोंका दमन करके, उचित विवेक तथा तर्कके अनुसार सुमार्ग ग्रहण करना चाहिए और यह शक्ति नित्य व्यवहार और बचपनसे अभ्यास करनेसे प्राप्त हो सकती है। इससे भी अधिक निश्चित विनयपूर्ण उसका प्रसिद्ध कठोरीकरणका प्रयोग (हार्डनिंग प्रोसैस) है उसका कहना है कि "बच्चोंको जाड़े-पालेमें बहुत पहना-उढ़ाकर नहीं रखना चाहिए बच्चोंके सब अंगोंको ठीक सधाना चाहिए। उनके पैर नित्य ठंढे पानीसे धुलाए जायँ। उनके जूतोंके तल्ले इतने पतले हों कि यदि वे पानीमें चलें तो जूतोंमें पानी भर सके। उन्हें बिना टोपी उढ़ाए धूप और वायुमें खेलनेको छोड़ दिया जाय। उनकी खाटें भी कड़ी लकड़ीकी हों।" लौकके इस कठोर विनयके सिद्धान्तके कारण शिक्षा-शास्त्री लोग उसे 'नियमित विनय' (फ़ौर्मल डिसिप्लिन) के शिक्षा-सिद्धान्तका सर्वप्रथम महान् प्रवर्त्तक मानते हैं। लौकके इस शिद्धान्तका यह प्रभाव पड़ा कि उसके अनुयायियोंने यह नियम कर दिया कि चाहे बालककी रुचि, योग्यता और आकांक्षा हो या न हो किन्तु उसे लातिन, यूनानी और गणित अवश्य पढ़ाना ही चाहिए, क्योंकि गणितसे तर्क-बुद्धि बढ़ती है और भाषाओंसे स्मृति शक्ति बढ़ती है। यह सिद्धान्त इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि वैज्ञानिकोंने भी "नियमित विनय" का यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और प्रायः सभी प्रकारके विद्यालयोंमें इस "नियमित विनय" का प्रचार बढ़ने लगा।

४

शिक्षामें लोकतंत्रवाद और प्रकृतिवाद

अठारहवीं शताब्दिमें योरोप तथा अमेरिकामें पादरियोंके प्रभुत्व तथा व्यक्तित्वके बन्धन एवं एकाधिकारत्वके विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ। चारों ओर यह प्रयत्न होने लगा कि जो रूढ़ियाँ या संस्थाएँ अस्वाभाविक और अयुक्तियुक्त जान पड़ें उन्हें उखाड़ फेंका जाय और व्यक्तिको एकाधिकारियोंके चंगुलसे मुक्त कर दिया जाय। यह आन्दोलन इस शताब्दिके पूर्वार्द्धमें तो बौद्धिक दमनके विरुद्ध चला और उत्तरार्द्धमें राजनीतिक अधिकारोंके दमनके विरुद्ध। पहले आन्दोलनका नेता था वौल्तेया, जिसने कहा कि 'समाज और शिक्षाका आधार तर्क या विवेक होना चाहिए।' दूसरे प्रकारके आन्दोलनका नेता था रूसो, जिसने तत्कालीन युगके मनोभावोंके अनुकूल प्रकृतिवादका प्रवर्त्तन किया।

वोल्तेया (वौल्टेयर)

वौल्तेया (१६९४ से १७७८ ई०) तथा उसके सहकारी दिदेरो, कोंद्रिलाक दे' अलम्बे आदि फ्रांसीसी आचार्योंने रूढ़िगत संस्थाओंका विरोध करके विवेकवाद (रैशनलिज़्म) की स्थापना की। इनका मुख्य आखेट लक्ष्य हुआ रोमन कैथोलिक चर्च, जिसके विरुद्ध इन्होंने पुकार लगाई—"मिटाओ इस अभद्र वस्तुको!" इस विवेकवादका उद्देश्य था एकतन्त्रवाद तथा अन्धविश्वासको मिटाना और उनके स्थानपर आचार-व्यवहारका स्वातन्त्र्य, सामाजिक न्याय और धार्मिक सहिष्णुता स्थापित करना। परन्तु प्राचीनताका विरोध करनेमें ये लोग इतने आगे बढ़ गए कि चारों ओर एक प्रकारका विप्लव, उच्छृङ्खलत्व और नास्तिकवादका साम्राज्य फैल गया। इस प्रकार जहाँ एक ओर विवेकवादने मानव-बुद्धिको

बन्धन-मुक्त करनेका प्रयास किया वहीं दूसरी ओर उसने उस साधारण मानव-समाजकी स्थिति सुधारनेका कोई यत्न नहीं किया जो अभीतक दरिद्र, अपढ़ और चारों ओरसे पीड़ित था।

रूसो

इस बुद्धिवादी और विवेकवादी प्रवृत्तिके विरुद्ध जीन जेक्स रूसो (१७१२–१७२८ ई०) ने अपना मनोवेगवाद और प्रकृतिवादका झंडा उठाया। २५ जून सन् १७१२ को इतालिया (इटली) के जिनेवा नगरमें रूसोका जन्म हुआ। उसकी माता उसे बचपनमें ही छोड़कर चल बसी अतः उसका पालन-पोषण उसकी कोमल-हृदया बुआ और उसके फक्कड़ पिताने किया। जब वह केवल छः वर्षका था, तभी उसके पिताने अपनी स्त्री-द्वारा संकलित भोंडी, अश्लील और उत्तेजक प्रेमकथाएं सुना-सुनाकर उसके भोले-भाले मस्तिष्कमें बचपनमें ही कुरुचिपूर्ण साहित्य कूट-कूटकर भर दिया। बचपनमें ही उसने अपने पिताकी उपन्यासोंसे भरी आलमारी पढ़कर समाप्त कर दी। इसके पश्चात् वह अपने दादाके पुस्तक-संग्रहकी ओर आकृष्ट हुआ। इन पुस्तकोंमें उसे प्लुतार्क द्वारा लिखित 'महापुरुषोंका जीवन-चरित' (प्लुतार्क्स' लाइव्ज़ औफ़ ग्रेट मैन्) और 'ईसाई-धर्म तथा साम्राज्यके इतिहास'का ज्ञान प्राप्त हुआ। रूसोके चरित्रपर इस साहित्यका अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ा और उसका कोमल हृदय वीरताके भावसे ओत-प्रोत हो गया।

सन् १७२० में रूसोके पिताको कुछ कारणवश जिनेवा छोड़ देना पड़ा और रूसो अपने मामाके पुत्रके साथ बोसी नामके गाँवमें दो वर्ष रहा। यहाँपर ये दोनों लातिन घोखनेकी अपेक्षा बोसीके प्राकृतिक सौंदर्यका आनन्द लेते रहे। एक बार उसपर दुष्टता करनेका झूठा आरोप लगाया गया और उसे दंड भी दिया गया। उसका बाल-हृदय उस कठोर दंडसे तिलमिला उठा और उसने यह परिणाम निकाला कि "मनुष्यकी गतिमें नियम-बद्धता, बाह्याडम्बर, उपदेश और दंडका प्रयोग

करके जब उसे प्रकृतिसे दूर रक्खा जाता है तभी उसके स्वाभाविक पवित्र मनमें विकार उत्पन्न होता है और उसकी सरलता तथा स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है ।" उसने अपने 'एमील' नामक पुस्तकमें कहा है—"प्रत्येक वस्तु प्रकृतिके हाथमें सुन्दर, स्वच्छ और पवित्र रहती है, किन्तु मनुष्यके हाथमें आते ही उसमें विकार आने लगता है ।"

बोसी छोड़नेके पश्चात् दोनों भाई जिनेवामें घर बैठे पतंग बाँधते, पिंजड़े बनाते, ढोल मढ़ते, मकान उठाते, घड़ी सुधारते और खिलौने गढ़ते थे । रूसो कभी-कभी अपने पिताके पास चला जाया करता था जहाँ महिलाएँ उसका बड़ा आदर करती थीं क्योंकि वह बड़ा सुन्दर था । इस समाजमें बारह वर्षकी अवस्थामें ही उसके मनमें उद्दाम काम-भावना जाग उठी । रूसो चार वर्षतक एक शिल्पीके पास भी काम सीखता रहा पर वहाँ भी उसे इतनी बुरी संगति मिली कि उसने झूठ बोलना, चोरी करना आदि सब कुकर्म धीरे-धीरे सीख लिए । अपने स्वामीकी कठोरतासे भी रूसो इतना ऊब गया कि उसने काम छोड़ दिया और तीन वर्षतक सेवौय प्रान्तमें इधर-उधर घूमता रहा । इस बीच बहुतसे स्थानोंके दृश्य-सौन्दर्य तथा प्रकृति-चमत्कारोंका उसके मनपर अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा । दुखी-पीड़ितोंसे सहानुभूति करना भी रूसोने इसी समय सीखा था । लोगोंकी कठिनाइयों और दुःखोंसे उसने यह जान लिया कि बाहरी बनावट-सजावट और टीम-टाम केवल आडम्बर ही नहीं वरन् मनुष्यकी वास्तविकताको कृत्रिम रूपसे ढक देना है । ग्रामीणोंके सरल देहाती जीवनमें जो निर्मलता, पवित्रता, नम्रता और सच्चाई पाई जाती है वह सभ्य, शिक्षित नागरिक कहलानेवाले व्यक्तियोंमें ढूँढ़नेपर भी नहीं पाई जा सकती । जीवनके इस अनुभवने रूसोको अपने सिद्धान्तपर और भी अधिक दृढ़ कर दिया कि मनुष्य प्रारम्भमें प्रकृतिके हाथमें ही शुद्ध और पवित्र रहता है ।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें मैदम् दे वारेन् नामकी एक सामान्या

दुश्चरित्रा स्त्रीके साथ वह सेवौयमें रहने लगा। इसी समय उसने संगीत, दर्शन तथा अन्य विज्ञानोंका ज्ञान भी उपार्जित किया। थोड़े ही दिनों पीछे रूसो और मैदम् दे वारेन् दोनोंमें खटपट हो गई और रूसो सन् १७२४ में पैरिस चला गया। पैरिसमें जाकर भी वह एक मूर्ख, भद्दी नौकरानी थोरे लेवासे नामकी लड़कीके चंगुलमें फँसकर उसके साथ रहने लगा।

सन् १७४१ में वह वेनिसमें फ्रांसीसी राजदूतका आत्म-सचिव बन गया पर वहाँ भी उसका निर्वाह न हो पाया। साढ़े सात वर्षके पश्चात् रूसोने संगीत-शाला खोलकर संगीत सिखानेका काम आरम्भ किया जिसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे साहित्यकारों और कलाविदोंमें उसका नाम होने लगा।

सन् १७५० से १७६५ तक रूसोने कई लेख प्रकाशित किए जिनसे साहित्यिक समाजमें उनका बड़ा आदर बढ़ा। उसका सर्वप्रथम लेख प्रकाशित हुआ "विज्ञान और कलाओंकी उन्नतिने लोकचरित्रको बिगाड़नेमें योग दिया है या सुधारनेमें?" सन् १७५५ में उसने "दि न्यू हैलोय" नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा और फिर एक लेख लिखा 'मनुष्योंमें असमानताका प्रादुर्भाव'। रूसोका कथन है कि व्यक्तिगत धनकी वृद्धिके साथ ही चोरी, डकैती आदि बढ़ने लगी और धनीकी रक्षाके लिये ही दंड-विधान, रक्षा-विधान और सभ्यता आदिका निर्माण हुआ था। नियमसे चलाए हुए समाजने सदा दीनोंकी उपेक्षा करके धनियोंकी ही शक्ति बढ़ाई।

सन् १७६२ में रूसोका प्रसिद्ध उपन्यास 'एमील' या 'एमिली' और 'सामाजिक धर्म' (सोशल कौन्ट्रैक्ट) निकला। 'सामाजिक धर्म' साम्राज्यवादका विरोधी था। धार्मिक अधिकारी उससे इतना चिढ़ गए कि पेरिस और जिनेवामें जहाँ कहीं वह पोथी पादरियोंके हाथ पड़ी, तुरन्त जला दी गई। रूसोको भी वहाँसे अपना प्राण लेकर भागना पड़ा।

'एमील' नामक उपन्यासमें उसने एमील नामक बालकका चित्रण करके अपने सम्पूर्ण आदर्श स्पष्ट कर दिए हैं।

रूसोने अपने प्रथम लेखमें ही कहा है कि 'कला और विज्ञानकी उन्नतिने मनुष्यके आचार और नीतिको बड़ी क्षति पहुँचाई है। परस्पर असमानता और भेद उत्पन्न करनेका सारा दोष उस समाजपर है जो धन संग्रह करता है। संसारमें प्रत्येक बालक समान बल और बुद्धि लेकर आता है किन्तु समाज उसकी बुद्धिमें भेद-भाव उत्पन्न कर देता है।' अपने 'हैलोय' शीर्षक लेखमें उसने जनतासे देश-प्रेमका आवेश भरा और इसके पश्चात् 'सामाजिक धर्म' लिखकर लोकतन्त्र-शासनका महत्त्व प्रकट किया। उसका कहना है कि 'राजा-प्रजामें आत्मीयताका सम्बन्ध होना चाहिए। यदि राजा अपनी प्रजाके सुख-दुःखका ध्यान नहीं रखता तो जनताको भी उसे अपना स्वामी न माननेका पूर्ण अधिकार है।' उसने जनतामें यह पुकार की कि संसारमें मनुष्य आता तो है स्वतन्त्र, किन्तु सर्वत्र वह दिखाई देता है बँधा हुआ। अतः इस लेखमें उसने मनुष्यके नैसर्गिक अधिकारकी घोषणा भी की है। रूसोकी इस पुकारका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस और अमेरिकामें स्वतन्त्र विचारकोंमें क्रान्ति मच गई और लोग नये ढंगसे सोचने-विचारने लगे।

रूसोका कथन है कि बच्चेके मन, मस्तिष्क और शरीरको स्वतन्त्रता-पूर्वक समुन्नत होनेका अवसर देनेके लिये उसे कृत्रिमतासे हटाकर स्वाभाविकताकी ओर छोड़ देना चाहिए और स्वाभाविक रूपसे ही उसे शिक्षा देनी चाहिए। यही रूसोका प्रकृतिवाद है। रूसोका शुद्ध विश्वास है कि बालकको प्रकृतिसे जो कुछ शिक्षा प्राप्त हो सके उसीपर छोड़ दिया जाय जिससे उसके निर्मल मस्तिष्क, मन और शरीरके विकासमें पूर्ण स्वतन्त्रता रहे और समाजके विचारोंकी छाया उसके निर्मल मनपर न पड़ पावे। इसीलिये उसने घोषणा की थी—'प्रकृतिकी ओर लौट चलो।'

रूसोके अनुसार प्रत्येक बालक, जन्मके समय निर्मल होता है। उस समय उसमें किसी प्रकारको दुष्प्रवृत्ति या विकृति नहीं रहती। उस अवस्थामें बच्चेकी प्रकृति, उसका मन, उसकी इच्छाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ सभी उच्च कोटिकी होती हैं इसलिये उनके संयोग तथा विकासमें किसी प्रकारकी बाधा न देकर यथासम्भव उसके विकासके लिये उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। यह स्वतन्त्रता तबतक सम्भव नहीं है जबतक बालकको समाजसे दूर न कर दिया जाय। उसका कहना है कि शिक्षक तथा समाजकी आवश्यकताओं और भावोंके अनुसार बालकको शिक्षा नहीं देनी चाहिए वरन् बालककी आवश्यकता और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको ही उसकी शिक्षाका पथप्रदर्शक होना चाहिए। ऐसा करनेसे प्रत्येक बच्चा अपनी योग्यता, आवश्यकता तथा समयके अनुसार अपने आप सरलतासे अपने आपको शिक्षित करता चल सकता है। शिक्षाके लिये यह अधिक उचित होगा कि शिक्षा देनेसे पूर्व,, बच्चेकी योग्यता, उसकी आवश्यकता, बुद्धि तथा रुचि भली प्रकार समझ-बूझ ली जाय। अध्यापकको चाहिए कि वह शिक्षा-विधि तथा पाठ्य-विषय दोनोंकी अपेक्षा बालकको अधिक महत्त्वपूर्ण समझे और बालककी प्रवृत्ति तथा प्रकृतिके अनुसार ही उसे शिक्षा दे। अपने 'प्रकृतिका अनुसरण करो' के सिद्धान्तके अनुसार वह चाहता था कि प्रत्येक क्षेत्रमें बालकका विकास स्वतन्त्रतापूर्वक हो, उसमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न हो क्योंकि यदि किसी प्रकारकी भी बाह्य बाधा दी जायगी तो उस बाह्य शिक्षाके प्रभावसे शरीरकी भी वृद्धि ठीक-ठीक नहीं हो पायगी। रूसोका यह भी मत था कि बालकके बौद्धिक विकासको प्रबुद्ध करनेके लिये शिक्षकको उसकी बौद्धिक परिधि तथा स्वाभाविक कुतूहल-भावनाका सहारा लेकर चलना चाहिए। शिक्षकको चाहिए कि बालकको ऐसे अवसर प्रदान करे जिनमें वह स्वयं सोच-विचारकर अपने अनुभवका परिणाम निकाले। स्वयं कोई बात बतानेकी अपेक्षा बालकके मनमें ऐसी

उत्सुकता जगा दी जाय कि वह स्वयं उसे ढूँढ निकाले क्योंकि इससे उसके मस्तिष्कका विकास भी भली प्रकार होता चलेगा। यही सिद्धान्त आगे चलकर स्वयंशोध (ह्यूरिस्टिक) प्रणालीका जनक भी सिद्ध हुआ।

रूसोका कहना है कि बालककी चालढाल तथा उसके आचार-व्यवहारमें शिक्षा तथा उपदेशसे इतना सुधार कभी नहीं हो सकता जितना वह स्वयं अपने अनुभवसे कर सकता है। वह अपने कुकर्मोंके कटु अनुभवसे अपने दोष अधिक स्वाभाविक रूपसे देख सकता है। यदि बालक एक बार आगमें हाथ डालकर अपना हाथ जला लेगा तो वह दुबारा आगमें हाथ नहीं डालेगा। इसके अतिरिक्त बच्चेका मस्तिष्क कोरी पाटी नहीं है कि शिक्षक जो चाहे उसपर लिख दे। उसके मस्तिष्कमें उसका अपना कुछ व्यक्तिगत ज्ञान भी रहता है। अतएव यदि शिक्षकको उसीपर लिखना होगा तो उसे मिटाकर ही लिखना पड़ेगा। मिटाकर लिखनेके दुहरे कार्यसे अच्छा तो यही है कि बालककी रुचि, बुद्धि, योग्यता तथा समर्थताको समझकर ही उसके अनुसार उसे शिक्षा दी जाय। इसका यह अर्थ हुआ कि बालककी प्रवृत्तिके ही अनुरूप शिक्षा-विधि बनाई जाय न कि शिक्षा-विधिके अनुरूप बालक बनाया जाय।

रूसोके अनुसार बारह वर्षतकके बालकको प्रकृतिके हाथमें इस प्रकार स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए कि उसके घूमने फिरने, कूदने-फाँदनेमें न तो किसी प्रकारकी बाधा पड़े न किसी प्रकारका हस्तक्षेप ही किया जाय। वह जैसे चाहे वैसे उठे-बैठे, खाए-पीए और खेले-कूदे। उसकी स्वाभाविक गतिपर कोई नियन्त्रण न लगाया जाय। इस प्रकारके स्वाभाविक और स्वतन्त्र विचरणसे बालककी ज्ञानेन्द्रियोंका विशेष संवर्धन और विकास होता है। यही नहीं, इस स्वतःप्रवृत्त विचरण-द्वारा वह ऐसा नया ज्ञान अर्जित करता चलता है जो नियमित शिक्षा-द्वारा उस परिमाणतक नहीं दिया जा सकता। बालकको फूलोंके विषयमें जितना ज्ञान अपनी फुलवारीमें खेलते-खेलते प्राप्त हो सकता है उतनी

मात्रामें शिक्षक उसके मस्तिष्कमें कभी नहीं भर सकता और इसमें सन्देह नहीं कि अपने अनुभवसे अर्जित ज्ञान अधिक स्थायी और उपयोगी होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि बारह वर्षतक उसे बलवत् शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

रूसो यह भी कहता था कि अधिक उपदेश देने और बालककी बुद्धिपर अधिक भार डालकर बौद्धिक शिक्षा देनेसे ठीक रूपसे उसकी शारीरिक वृद्धि नहीं हो पाती अतएव बालकके शरीरका स्वस्थ होना अधिक आवश्यक है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण समर्थताओंका केन्द्र शरीर ही होता है।

रूसोका यह सिद्धान्त ठीक नहीं कि बालकको इतने स्वाभाविक विचरणके लिये छोड़ दिया जाय कि उसकी क्रियाओंपर न तो किसी प्रकारका नियंत्रण ही हो और न उसे किसी प्रकारका उपदेश ही दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि बालक अपने स्वत: अनुभवसे ज्ञान अर्जित कर सकता है किन्तु उन कार्यों और अनुभवोंको व्यवस्थित रूपसे अपनानेके लिये उसे उचित उपदेश, आदेश तथा निर्देशकी भी तो आवश्यकता है। यदि उचित रूपसे बालकका निरीक्षण न होगा तो उसकी शक्ति किसी बुरी धाराकी ओर भी प्रवृत्त होकर बह सकती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बालक अधिकतर अनुकरणसे सीखता है। वह बोलता है क्योंकि वह अपने आसपासके लोगोंको बोलते हुए सुनता है। यदि कोई बालक जंगलमें पाला जाय तो उसके आचार-व्यवहार सब जंगली हो जायँगे। जन-संपर्कसे दूर एकान्तमें रहनेपर उसकी शक्तियाँ उन्नत और समृद्ध नहीं होसकतीं इसलिये बच्चेकी उन्नतिके लिये उसे इतनी स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वह अपनी देखरेखसे बाहर होकर कोई अहितकर काम न कर बैठे। इसलिये उसे अनिवार्य रूपसे निर्देशनकी आवश्यकता ही है। सत्य तो यह है कि इस संबंधमें रूसो अपने विचार भली भाँति स्पष्ट रूपसे समझा नहीं पाया।

रूसोने अपने एमील नामक ग्रन्थमें एक काल्पनिक शिष्य एमीलकी सृष्टि करके उसे अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दिलाकर यह दिखलाया कि जन्मसे लेकर पूरे मनुष्य होनेतक वह किस प्रकार बिना शिक्षकके सब कुछ स्वयं सीख लेता है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वह अपने मूल सिद्धान्तकी व्याख्या करता हुआ कहता है—"प्रकृतिकर्त्ताके हाथसे आई हुई प्रत्येक वस्तु अच्छी होती है किन्तु मनुष्यके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हो जाती है"। इसकी व्याख्या करके वह कहता है कि हमारी शिक्षा तीन प्रकारके अध्यापकोंसे होती है—प्रकृति, मनुष्य और पदार्थ। इनमेंसे प्रकृतिके ऊपर हमारा कोई वश नहीं है इसलिये हमें चाहिए कि मनुष्य और पदार्थोंको प्रकृतिकी ओर प्रेरित करें और अपनी शिक्षा-पद्धतिको शुद्ध प्राकृतिक बनावें।

एमील पाँच खण्डोंमें विभक्त है। इनमेंसे चार तो क्रमशः एमीलके शैशव, बालकत्व, किशोरत्व और युवावस्थाकी शिक्षाका विवरण है और पाँचवें खंडमें उसकी भावी पत्नी सोफ़ीका विवरण है।

पहले खंडमें एमीलके जन्मसे लेकर पाँच वर्षकी अवस्था तकका वर्णन है जिसमें शिशुकी इच्छा केवल शारीरिक स्फूर्ति, खेलकूद और चलने-फिरनेकी होती है। इसीलिये एमीलको भी गांवके सीधे-साधे, स्वतन्त्र और स्वस्थ वातावरणमें ले जाना चाहिए जहाँ वह प्रकृतिके समीपतम रह सके और सभ्यताके छुतहे कुप्रभावसे बहुत दूर रह सके। जबतक वह विशेष संकटमें ही न पड़ जाय तबतक उसे न औषधसे काम हो न वैद्यसे। उसकी शारीरिक वृद्धि और शिक्षा यथासंभव स्वतः-प्रवृत्त होनी चाहिए। टोपी, पट्टी, फ़ीते अथवा वस्त्रसे कसकर उसका स्वभाविक विकास नहीं रोकना चाहिए। उसकी देखरेखका काम भी केवल उसकी माताको ही करना चाहिए। उसे ऐसा अभ्यास डालना चाहिए कि वह गरम-ठंढे सब प्रकारके जलस्नानको सहन कर सके। तात्पर्य यह है कि उसे किसी भी विशेष प्रकारका अभ्यास नहीं डालना

चाहिए क्योंकि अभ्यास और स्वतः प्रवृत्तिका परस्पर विरोध है इसलिये किसी प्रकारकी इच्छा या बुरा अभ्यास अस्वाभाविक है। रूसो कहता है कि 'बच्चेको केवल एक ही बातका अभ्यास होना चाहिए कि उसे किसी प्रकारका अभ्यास न पड़ पावे।' उसके खिलौने भी प्रकृति-जन्य होने चाहिएँ जैसे फल-फूल लगी हुई शाखाएँ या पोस्ते ढेंढी जिसमें बीज खड़खड़ाते हों। बालकसे बातचीत भी अत्यन्त सरल, सीधी और स्वाभाविक भाषामें करनी चाहिए, उसे झटपट बोलना सिखानेके लिये बहुत हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। जिन थोड़े-बहुत शब्दोंमें वह अपने मनका भाव प्रकट कर सके उतना ही बहुत समझना चाहिए।

इसलिये शैशव कालमें एमीलकी शिक्षा निर्बाध या अनिर्देशित (निगेटिव) और केवल शारीरिक होनी चाहिये क्योंकि इस शैशव कालमें उसकी शिक्षाका उद्देश्य यही है कि बालककी वे सहज प्रवृत्तियाँ और स्वतः-प्रवृत्तियाँ विकृत या अशुद्ध न होने पावें जो स्वभावतः शुद्ध होती हैं और उसे वह स्वाभाविक स्फूर्ति भी मिल सके जो वह इस अवस्थामें चाहता है।

इसके पश्चात् दूसरे खण्डमें आता है पाँचसे बारह वर्षकी पोगंड अवस्था या लड़कपन। इस अवस्थामें एमील अपने हाथ-पाँवसे अधिक कामकर लेना चाहता है और अपने चारों ओरकी वस्तुओंको छूकर, देखकर अर्थात् उस अवस्थामें वह अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे सब वस्तुओंका अनुभव करके, उनकी प्रकृति जानना चाहता है। अतः इस अवस्थामें जहाँतक संभव हो सके उसके अंगों और उसकी ज्ञानेन्द्रियोंको ठीक प्रकारसे साध देना चाहिये। रूसो कहता है—"मनुष्यकी समझमें जितनी बातें आती हैं वे सब ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ही आती हैं इसलिये मनुष्यका पहला विवेक ज्ञानेन्द्रिय-सिद्ध होता है अर्थात् वह किसी वस्तुको छूकर ही समझता है कि यह चिकना है या खुरदरा, चखकर ही समझता है कि यह खट्टा है या मीठा, देखकर ही समझता है कि यह काला है या गोरा,

भद्दा है या सुन्दर, सुनकर ही समझता है कि यह श्रुति-मधुर है या कर्णकटु; सूँघकर ही समझता है कि इसमें सुगन्ध है या दुर्गन्ध। इसलिये हमारे सर्वप्रथम दार्शनिक अध्यापक हैं हमारे पैर, हाथ, कान, नाक, मुख, आँख आदि। इसलिये विचारना सीखनेके लिये हमें अपने अंग, अपनी ज्ञानेन्द्रिय और अपने प्रत्यंगको काममें लाना चाहिए क्योंकि वे ही हमारे ज्ञान प्राप्त करनेके ठीक साधन हैं। इस प्रकारकी शिक्षाके लिये एमीलको ऊँचे, ढीले और थोड़े कपड़े पहनने चाहिएँ, नंगे सिर घूमना चाहिए और शरीरको जाड़ा-गरमी-बरसात सहनेके योग्य बनाना चाहिए अर्थात् उसे 'लौक' के विधानके अनुसार अपने शरीरका 'कठोरीकरण' करना चाहिए। तैरना, लम्बी और ऊँची कूदका अभ्यास करना, दीवारों और चट्टानोंपर चढ़ना भी उसे आना चाहिए। इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि उसे प्राकृतिक साधनों-द्वारा ठोस वस्तुको तौलने, ऊँचाई नापने और दूरीका ज्ञान करनेके लिये आँख और कान भी काममें लाने चाहिएँ। उसे रेखाचित्र और रचनात्मक ज्यामितिका भी ज्ञान करना चाहिए जिससे वह सब वस्तुओंके आकार-प्रकारको ठीक-ठीक समझ और समझा सके। अपने कानको ताल और लयसे परिचित करानेके लिये उसे संगीत भी सीखना चाहिए। इसी प्रकार शरीर और ज्ञानेन्द्रियोंकी शिक्षाके द्वारा ही इसी अवस्थामें उसे बौद्धिक शिक्षा भी देनी चाहिए। उसका एमील बारह वर्षकी अवस्थातक यह भी नहीं जानता कि पोथी किस चिड़ियाका नाम है यद्यपि पोथीमें आया हुआ बहुत-सा ज्ञान वह इस अवस्थातक पा चुकता है।

एमीलको समाजके योग्य बनानेके लिये यह भी आवश्यक है कि उसे संपत्तिके विषयमें भी कुछ बता दिया जाय और साधारण शिष्टाचार का भी ज्ञान करा दिया जाय क्योंकि ये बातें व्यावहारिक आवश्यकता की हैं। पर हाँ, उसे किसी प्रकारकी नैतिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि विवेककी अवस्थातक पहुँचनेतक उसे न तो नैतिक

व्यक्तियोंका ही संपर्क प्राप्त होगा और न सामाजिक संबन्धोंका, इसलिये इन नैतिक उपदेशोंका उसके लिये कोई महत्त्व नहीं है। स्वाभाविक रूपमें प्राकृतिक परिणामोंके द्वारा वह स्वयं नैतिकताकी शिक्षा प्राप्त करता चलेगा। यदि वह कुछ तोड़ता-फोड़ता है तो उसका दण्ड भोगकर और फल पाकर वह समझ लेगा कि वस्तुएँ तोड़नी-फोड़नी नहीं चाहिए। यदि वह झूठ बोलता है तो न उसे उपदेश दिया जाय न दंड, वरन् जब वह आगे सत्य भी बोले तो उसका विश्वास ही न किया जाय। बस, वह स्वयं झूठ बोलनेका दोष समझ लेगा। यदि वह निरंकुशताके साथ मालीकी लगाई हुई तरबूज़की बेल खोदकर फेंकता है और वहाँ अपने सेमके बीज बो देता है तो मालीसे कह देना चाहिए कि तुम भी इसके बीज खोद फेंको। जब उसे अपनी हानिका अनुभव होगा तभी वह दूसरेकी सम्पत्तिका और उसकी हानिसे होनेवाली असुविधाका महत्त्व समझ जायगा। यह नैतिक शिक्षा भी यथावसर और यथाप्रसंग ही देनी चाहिए।

बारह और पन्द्रह वर्षकी किशोर अवस्थामें जब बच्चेकी शारीरिक स्फूर्ति और इन्द्रियानुभवकी वृत्ति मन्द पड़ जाती है तब एक ऐसी अवस्था आती है जब बालककी प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ उसकी इच्छाओंसे बलवत्तर हो जाती हैं और इस अवस्थामें वह निरन्तर प्राकृतिक दृश्योंकी ओर अधिक उन्मुख हो जाती हैं। इसी दशामें विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेकी उसकी क्षुधा भी सजग हो जाती है। एमीलकी इस अवस्थाका विवरण तीसरे खंडमें दिया गया है। रूसोका कहना है कि प्रकृतिने ही शिक्षाके लिये यह अवस्था उपयुक्त ठहराई है। किन्तु केवल तीन वर्षमें वह बहुत कुछ तो सीख-पढ़ सकता नहीं, इसलिये उसे केवल उपादेय विषय ही सिखाने-पढ़ाने चाहिएँ और इधर-उधरके व्यर्थके विषय छोड़ देने चाहिएँ अर्थात् उसे केवल प्राकृतिक विज्ञान ही सिखाना चाहिए। इस खंडके अन्तमें एमीलको स्वतन्त्र जीवन तथा आर्थिक आत्म-

निर्भरताकी शिक्षा देनेके लिये रूसोने व्यावसायिक अनुभव प्राप्त करनेकी सम्मति देते हुए लकड़ीके डब्बे तथा तिजोरी बनानेकी शिक्षा भी जोड़ दी है। रूसोका कहना है कि शिक्षाका सबसे प्रभावशाली उपाय यह है कि प्रत्येक नवीन वस्तु, बालकके कुतूहल और उसकी रुचिको उत्साहित करे क्योंकि ये दोनों बातें इस अवस्थामें बालकमें विद्यमान होती हैं। रूसोने बताया है कि पृथ्वीका गोला, मानचित्र तथा अन्य असम्बद्ध साधनोंके द्वारा ज्योतिषकी शिक्षा देना अत्यन्त हास्यास्पद है। इसके बदले विभिन्न ऋतुओंमें सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाकर तथा पास-पड़ोसके ऊँचे-खालेका प्रत्यक्ष ज्ञान कराकर अत्यन्त स्वाभाविक रीतिसे प्रकृतिका ज्ञान कराया जा सकता है। एमील जंगलमें खो जाता है और निकलनेका मार्ग खोजकर वह इस स्वाभाविक विज्ञानका महत्त्व समझ लेता है। इसलिये रूसोका विचार है कि बिना पुस्तककी सहायताके वास्तविक महत्त्वका सब ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक रूपसे प्राप्त किया जा सकता है। संसारकी सब पुस्तकोंमें रूसोको केवल एक पोथी अच्छी लगी है, वह है—'रौबिन्सन क्रूसो' जिसमें मनुष्यकी सब प्राकृतिक आवश्यकताएँ इस प्रकार प्रकट की गई हैं कि बच्चा भी उन्हें समझ सके और जिसमें इन आवश्यकताओंकी पूर्तिके साधन भी उसी सरलतासे समझाए गए हैं।

चौथे खण्डमें पन्द्रहसे बीस वर्षतककी अवस्थाके एमीलका वर्णन है। इस अवस्थामें एमीलके हृदयमें काम-भावना प्रकट होने लगती है। इस अवस्थामें बालकका ठीकसे नियन्त्रण और शिक्षण होना चाहिए। एमीलकी इच्छा होती है कि अपने वर्गके बालकोंके साथ हिले-मिले। अब उसे औरोंके साथ रहना सीखना भी चाहिए। रूसो कहता है कि हमने उसका शरीर बना दिया, उसका इन्द्रिय-ज्ञान पक्का कर दिया, उसकी बुद्धि परिपक्व कर दी, अब उसमें हृदय डालना शेष है। अब उसे नैतिक, स्नेही और धार्मिक होना चाहिए। यहाँ भी रूसो धार्मिक उपदेश

देनेके पक्षमें नहीं है। वह कहता है कि इस युवकको उसके साथियोंमें भेजकर उसके मनोवेगोंको शिक्षित होने दो, यही प्राकृतिक उपाय है।

एमीलको पंगुशाला, चिकित्सालय, बन्दीगृह तथा अन्य ऐसे स्थानोंमें भेजा जाय जहाँ सब प्रकारके दीन, विकलांग पीड़ित और अपराधी लोग रहते हैं किन्तु ऐसे स्थानोंपर उसे इतनी बार नहीं भेजना चाहिए कि बारबार उन्हें देखकर उनका हृदय कठोर हो जाय। कभी-कभी इस प्रकार दुःख और पीड़ाको प्रत्यक्ष देखकर मनोभावों और मनोवेगोंका शिक्षण और परिष्कार होता है। एमीलको मिथ्याभिमानसे मुक्त करनेके लिये उसे कुछ दिन चापलूस, अपव्ययी और धूर्त लोगोंकी संगतिमें छोड़ देना चाहिए जिससे वह उनकी कुसंगतिमें रहकर कुसंगका फल भोगकर अपने दोष सुधार ले। इस अवस्थामें उसे छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ सुनाकर हितोपदेश देना चाहिए क्योंकि अज्ञात पापीका पतन दिखाकर हम उसकी स्वतन्त्रतामें बाधा दिए बिना ही शिक्षा दे सकते हैं।

अब एमील पूरा मनुष्य हो गया है। अब उसे एक जीवन-संगिनी भी चाहिए। एमीलके अन्तिम खण्डमें रूसोने आदर्श पत्नी सोफ़ी और स्त्रियोंकी शिक्षाका विवरण दिया है। यह रूसोकी अत्यन्त हीन तथा निकृष्ट कृति समझी जाती है क्योंकि इसमें उसने स्त्रियोंकी प्रवृत्तिका अत्यन्त कुटिल चित्रण किया है। वह स्त्रियोंका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं मानता है। वह कहता है कि स्त्रियाँ तो पुरुष-प्रकृतिकी पूरक मात्र हैं। रूसोका कहना है कि स्त्रियोंको भी पुरुषोंके समान शारीरिक शिक्षा देनी चाहिए किन्तु यह शिक्षा उसके अपने व्यक्तित्वके स्वतन्त्र विकासके लिये नहीं वरन् शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाने और तेजस्वी सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही हो। सीना-पिरोना, बेल-बूटे काढ़ना, फ़ीता तथा कलाबत्तू आदिका काम उन्हें इसलिये सिखाना चाहिए कि वे सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा पुरुषको प्रसन्न कर सकें। उन्हें

आज्ञा-कारिणी और परिश्रमी होना चाहिए और पुरुषको चाहिए कि उन्हें सब प्रकार अपने वशमें किए रक्खें। कन्याओंको नाचना, गाना तथा अन्य कलाएँ भी सिखानी चाहिए। उन्हें धर्मकी पक्की शिक्षा देनी चाहिए और कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें उन्हें समाजकी इच्छाके अनुसार चलना चाहिए। स्त्रीके लिये दर्शन, कला और विज्ञान सीखना आवश्यक नहीं है किन्तु उसे पुरुषोंका अध्ययन करना अवश्य सीखना चाहिए। रूसो कहता है—'स्त्रीको चाहिए कि वह पुरुषोंकी बातचीत, आचार-व्यवहार, दृष्टिक्षेप और भावभंगीसे पुरुषोंके मनके भाव भली भाँति समझ ले और जो भाव पुरुषको अच्छे लगें उनकी ठीक प्रतिक्रिया करे और यह जानने भी न दे कि उसने उनके मनोभाव ताड़ लिए हैं।'

रूसोकी शिक्षा-प्रणालीका विश्लेषण

इस प्रकार रूसोने एमीलमें पुरुषोंके लिये प्राकृतिक व्यक्तिवादी शिक्षा तथा स्त्रियोंके लिये आत्मत्याग तथा आत्मसमर्पणयुक्त कठोर शिक्षा निर्धारित की है और यह यह भी बताया है कि इस प्रकारकी शिक्षासे देशमें सुख और समृद्धिका विस्तार होगा। किन्तु वास्तवमें यह शिक्षा-पद्धति अत्यन्त व्यावहारिक और मन-मोदक मात्र है।

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्तका विवेचन करनेवालेको पहले उसका जीवनवृत्त भली भाँति समझ लेना चाहिए। रूसो उस युगमें उत्पन्न हुआ था जब कि सारा यूरोप सामन्तों और राजाओंके तले उनकी निर्दयतासे पिसा जा रहा था। उच्च वर्गमें इस अन्यायके प्रति असन्तोष तो सबके हृदयमें था किन्तु उस असन्तोषको सर्वसाधारण के असन्तोषके साथ मिलाकर उसका ज्वालामुखी बनाकर विस्फोट कर देनेवाला कोई व्यक्ति नहीं था। रूसोने वही कार्य किया। अपने असंयत जीवनमें उसने सामाजिक जीवनके निकृष्टतम पक्षका स्वयं अनुभव कर लिया था और भुक्तभोगी होनेके नाते उसका सुधार करनेकी भावना उसमें स्वाभाविक रूपसे उत्पन्न हो गई थी। संयोगसे रूसोका संस्कार केवल दुर्वृत्त, दुष्ट तथा

निम्न कोटिके लोगोंकी संगतिमें हुआ। इससे उसने यही समझा कि सारा समाज ही दूषित, कुत्सित और निकम्मा है इसलिये उसमें पलनेवाला बालक भी अवश्य निकम्मा और समाज-शत्रु होगा। किन्तु उसने यह नहीं समझा कि उसके पूर्ववर्त्ती अनेक शिक्षार्थियोंने योरोपके विभिन्न प्रदेशोंमें ऐसे अनेक शिक्षाके केन्द्र खोल दिए थे जहाँ व्यवस्थित रूपसे मनुष्य बननेकी शिक्षा दी जा रही थी।

समाजसे चिढ़ होनेके कारण जहाँ उसने शिक्षाके लिये समाजका बहिष्कार उचित समझा वहीं उसने यह भी सम्मति दी कि युवावस्थामें पहुँचनेपर विद्यार्थीको चापलूस, अपव्ययी और धूर्त लोगोंकी संगतिमें भेजकर शिक्षा दिलाई जाय। इस प्रकारकी अनेक परस्पर—विरोधी बातें उसके ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर भरी पड़ी हैं। वास्तवमें वह न शिक्षा-शास्त्री था, न दार्शनिक था और न मनोवैज्ञानिक था। उसके ग्रन्थोंके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह समाजसे अनादृत होनेके कारण समाजसे इतना रुष्ट और असन्तुष्ट था कि वह बालकको समाजकी छायाका स्पर्श करानेमें भी संकोच करता था। यही कारण है कि उसका प्रकृतिवाद- अत्यन्त अतिरंजित, अव्यवहार्य प्रकृतिवाद था जिसके अनुसार आजतक एक भी बालक शिक्षित नहीं किया जा सका और न आगे भी शिक्षित किया जा सकता है। समाज और जातिके सम्पूर्ण संचित तथा अनुभूत ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक व्यक्तिको नये सिरेसे मानव-विकासकी विभिन्न सीढ़ियोंपर चढ़ाकर ले चलना हास्यास्पद ही नहीं, अत्यन्त मूर्खतापूर्ण और अविवेकपूर्ण भी है।

रूसोने एक ओर तो यह कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी वृद्धिके साथ ही चोरी-डकैती प्रारंभ हुई और दूसरी ओर वह एमालको समाजके योग्य बनानेके लिये उसे सम्पत्तिके संबंधमें ज्ञान प्रदान करना भी आवश्यक समझता है। एक ओर वह कला और विज्ञानको 'मनुष्यके आचारका शत्रु बताता है, दूसरी ओर वह किशोर अवस्थामें एमीलको प्राकृतिक

विज्ञान सीखने और सोफ़ीको कला सीखनेकी सम्मति देता है। ऐसा असंबद्ध प्रलाप करनेवाला व्यक्ति योरोपके शिक्षाचार्योंमें कैसे मान्य समझा गया, यह अत्यंत आश्चर्यकी बात है। जो व्यक्ति अपने प्रकृतिवाद-में यह आदेश देता है कि बालकको अपनी उँगली जलाकर यह सीखना चाहिए कि आग जलाती है, उसे यह भी समझ लेना चाहिए था कि पहाड़से गिरकर, गहरे पानीमें कूदकर, सर्पकी बाँबीमें हाथ डालकर और संखिया फाँककर यह नहीं सीखा जाता कि इनसे मृत्यु भी होती है। हमसे पूर्व इतने विशाल मानव-समाजने अपने चिन्तन, मनन, अनुभव तथा अध्ययनसे ज्ञान-विज्ञानका जो महासागर जुटा रक्खा है उसकी उपेक्षा करके नया ज्ञान-सागर बनानेकी कल्पना निरी जड़ता तथा दुराग्रह मात्र है। हमारे पूर्व-पुरुषोंने तो इसीलिये कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ पितृऋण और देवऋणके साथ-साथ ऋषिऋण लेकर जन्म लेता है और उससे वह तभी उऋण होता है जब अपनेसे पूर्व ऋषियों और विद्वानोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करके दूसरोंको उसका ज्ञान दे। अतः बालकको अपने मनसे सीखने और अध्ययन करनेके लिये स्वतन्त्र छोड़नेका रूसोका सिद्धान्तही भ्रामक और दोषपूर्ण था।

रूसो यह मानता था कि बालक जन्मके समय निर्मल तथा विकार-हीन होता है। हम लोग भारतीय सिद्धान्तसे यह बात नहीं मानते। हमारा सिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव अपने साथ पिछले जन्म या जन्मोंके संस्कार लेकर जन्म लेता है और उसे इस जन्ममें जैसी शिक्षा या संगति मिल जाती है वैसे ही उसके संस्कार अच्छे या बुरे हो जाते हैं। यदि हम रूसोकी बात ही मान लें तब इस बातका सामंजस्य कैसे बैठेगा कि बालककी शिक्षा, समाजकी आवश्यकताओंके अनुसार न होकर बालककी प्रवृत्ति और आवश्यकताके अनुसार हो। जब उसका मन निर्मल और विकारहीन है तब उसकी प्रवृत्ति और आवश्यकताका प्रश्न ही कहाँ उठता है।

एमीलके पाँचवें खंडमें सोफ़ीकी शिक्षाका विवेचन करते हुए उसने स्त्रियोंका जो चित्र खींचा है उसमें स्पष्ट रूपसे उसके जीवनानुभवोंकी छाया है जो उसने निम्न कोटिकी पुँश्चली स्त्रियोंके संसर्गसे अर्जन किए थे। प्रारंभिक जीवनकालमें समाजकी जिन अनेक स्त्रियोंने उसका आदर और उससे स्नेह किया था उनके मूलमें भी वासना ही प्रधान थी इसलिये रूसोको अपने जीवनमें सती, सुशील, गुणी तथा सद्गृहस्थ नारियोंके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य नहीं मिला। इसीलिये उसने स्त्रियोंको उनके गौरवपूर्ण अर्द्धाङ्गिनी-पद, गृह-स्वामिनी-पद और देवीपदसे नीचे ढकेलकर उसे पुरुषकी सेवाके लिये दासी, उसके विलासके लिये सौन्दर्य-पूर्ण रमणी और उसकी कुल-वृद्धि करनेके लिये उत्पादन-यन्त्र मात्र बनानेकी सम्मति दी है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसे नारीकी प्रकृति, उसकी भावना और उसकी कोमल उदात्त प्रवृत्तियोंको समझनेके योग्य नारी-समाज नहीं मिल पाया और इसीलिये वह सोफ़ीको इस योग्य नहसिद्ध कर पाया जो एमीलकी योग्य सहधर्मिणी बन सके, हाँ जाया, अवश्य बन गई।

रूसोकी यह बात तो समझमें आती है कि उपदेश या शिक्षाकी अपेक्षा अपने अनुभवसे आचार व्यवहारका ज्ञान हो। विचित्र बात यह है कि जो रूसो उपदेशका विरोधी है वही एमीलके लिये यह विधान करता है कि युवावस्थामें उसे चोर, डाकू, धूर्त, अपव्ययी और चापलूस लोगोंकी संगतिमें रहकर समाजका अध्ययन करना चाहिए किन्तु वह एक छोटीसी बात यह नहीं समझ पाया कि ऐसी संगतिमें पड़कर मनुष्य निवृत्तिकी शिक्षा नहीं ले सकता, प्रवृत्तिकी लेता है और फिर इस प्रकारकी निम्न कोटिकी संगति सब बालकोंको सब प्रदेशोंमें कहाँसे लाकर इकट्ठी की जा सकेगी। अतः रूसोका प्रकृतिवाद, स्वाभाविकतावाद तथा स्वतः-प्रवृत्त शिक्षावाद अत्यन्त अव्यावहारिक आडम्बर-मात्र था जिसका उद्देश्य तत्कालीन समाजके असंतुष्ट व्यक्तियोंको उत्तेजित करके क्रान्तिके लिये

संघटित करना मात्र था और इस उद्देश्यमें वह सफल भी हुआ। हाँ, एमीलसे एक बात अवश्य सीखी जा सकती है कि शिक्षा यथासंभव प्राकृतिक, अनुभव-जन्य और समाज-हितकारी अवश्य हो। एमीलका यह भी महत्त्व है कि वर्त्तमान शिक्षाके आन्दोलनोंमें समाजवादी और मनोविज्ञानवादी जो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ रही हैं उनका मूल स्रोत एमील ही है।

वर्त्तमान शिक्षामें समाजवादी आन्दोलन

रूसोकी शिक्षा पद्धतिके जिस पक्षपर बहुत वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है वह है सभ्यता तथा सामाजिक नियन्त्रणके विरुद्ध तीव्र विद्रोह। पैस्टालौज़ी और फ़ालेनबुर्गकी व्यावसायिक योजना, हरबार्ट-द्वारा शिक्षाका नैतिक उद्देश्य, फ्रोबेलके शिक्षाभ्यासमें "सामाजिक सहयोग" और वर्त्तमान व्यावसायिक-शिक्षा, नैतिक शिक्षा, विकलांगोंकी शिक्षा तथा अन्य विशिष्ट प्रकारकी शिक्षाओंपर जो आज इतना ध्यान दिया जा रहा है उन सबका मूल स्रोत एमीलमें ही प्राप्त होता है।

वर्त्तमान शिक्षामें वैज्ञानिक आन्दोलन

ऊपर बताया जा चुका है कि रूसोने सम्पूर्ण सामाजिक रूढ़ियोंका बहिष्कार करके और प्रकृतिको ही एक मात्र पथ-प्रदर्शक मानकर पोथी-रटन्तका तीव्र विरोध किया और स्वयं-निरीक्षण-द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेका अधिक महत्त्व बताया। इसी प्रभावके परिणाम-स्वरूप विद्यालयों और महाविद्यालयोंने अपने पाठ्यक्रममें भौतिक शक्ति, प्राकृतिक वातावरण, जीव-जन्तु और वनस्पतिका अध्ययन भी सम्मिलित कर लिया। इस विधानके द्वारा उसने केवल पैस्टालौज़ी, बेसडो, साल्समान और रिट्टरमें प्रकृति-अध्ययन और भूगोल-अध्ययनका ही नेतृत्व नहीं किया वरन् स्पेंसर और हक्सलेका नेतृत्व करते हुए शिक्षामें वर्त्तमान वैज्ञानिक आन्दोलनका भी दर्शन करा दिया।

वर्त्तमान शिक्षामें मनोवैज्ञानिक आन्दोलन

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्तमें सबसे महत्त्वकी बात यह है कि बच्चेकी शिक्षा उसकी स्वाभाविक रुचिके अनुसार हो। यद्यपि रूसो स्वयं बालकोंकी मनोवृत्ति भली प्रकार नहीं पहचान सका और इस सम्बन्धमें उसने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे भी अनगढ़ हैं, फिर भी उसने यह बात अवश्य समझ ली थी कि शिक्षाका एक मात्र आधार बालकका अध्ययन है। एमीलकी भूमिकामें उसने कहा है—"हम लोगोंमें जो सबसे अधिक बुद्धिमान हैं, वे बालकोंको ऐसी बातें सिखानेके फेरमें है जो सयाने लोगोंको जाननी चाहिएँ और यह नहीं समझ पाते कि बालक क्या ग्रहण कर सकते हैं। हम सदा बालकमें सयाने मनुष्यकी छाया देखते हैं और यह नहीं सोचते कि मनुष्य होनेके पहले भी वह कुछ है या नहीं ?"

रूसोके इस सिद्धान्तका परिणाम यह हुआ कि आजकलकी शिक्षाका केन्द्र बालक बन गया। इस सम्बन्धमें बालकके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंका सिद्धान्त जो रूसोने निश्चित किया, उसपर भी विचार कर लेना चाहिए। उसने बालकके विकासको ऐसे निश्चित विभागोंमें बाँट दिया है जिनका एक दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। नमेंसे प्रत्येक विभागके लिये उसने एक विशेष प्रकारकी शिक्षाका प्रतिपादन किया है क्योंकि वह चाहता है कि एमील उदार और धर्मात्मा हो और वह भी उस अवस्थामें जब कि वह पन्द्रह वर्षकी अवस्थातक आत्मरुचि और संदेहके वातावरणमें पला हो। इसीको शिक्षा-शास्त्रियोंने "देरमें सयाना बनानेका सिद्धान्त" (थीयरी औफ़ डीलेड मैच्योरिंग) कहा है। रूसोने दिखलाया है कि बालकके जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंमें कुछ विशेष अन्तर होते हैं और विभिन्न अवस्थाओंमें यदि उसे उचित क्रियाएँ करनेको दी जायँ तभी उसकी पूर्णता हो सकती और उसका ठीक-ठीक विकास हो सकता है। इसलिये वर्तमान युगमें जो यह प्रवृत्ति बढ़ रही है

कि बालकके सोचने, अनुभव करने और काम करनेके सम्बन्धमें किसी निश्चित प्रणालीका प्रयोग न किया जाय, इसका सम्पूर्ण श्रेय रूसोको ही दिया जा सकता है। रूसोने यह भी कहा है कि अध्ययनके लिये उत्सुकता और रुचिको भी प्रधानता देनी चाहिए। इस दृष्टिसे वह हरबार्ट और उसके अनुयायियोंका भी पथ-प्रदर्शक है। रूसोके द्वारा ही हमने यह भी सीखा है कि शारीरिक स्फूर्त्ति और इन्द्रियोंकी शिक्षा भी बालकोंके लिये उनके भावी विकासमें अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी। पैस्टालौज़ीने जो प्रकृति-निरीक्षणकी प्रणाली चलाई और फ्रोबेलने जो गतिशील क्रियाकी प्रणाली चलाई उन सबके मूल स्रोत रूसोके सिद्धान्तोंमें ही प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार रूसोने क्रियाशीलता उत्पन्न करनेका, बालकके लिये समस्या उत्पन्न करनेका, बालकके अंगों और उनकी स्फूर्तियोंका प्रयोग करनेका महत्त्व दिखाकर शिक्षा-प्रणालीके संवर्धनमें बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया और इस दृष्टिसे हम उसे वर्तमान मनोवैज्ञानिक आन्दोलनोंका भी जनक कह सकते हैं। यद्यपि उसके समयमें इस प्रकारके मनोविज्ञानका विकास नहीं हुआ था जैसा आजकल हो गया है फिर भी उसने बालकका सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करके ही अपने शिक्षा-सिद्धान्त सिद्ध कर लिए थे और इस प्रकार उसने अपनेको बालककी स्थितिमें रखकर सम्पूर्ण विश्वको बालकी आँखोंसे देखनेका योरपमें प्रथम प्रयास किया।

रूसोकी शिक्षा-पद्धतिके प्रयोग

अपने समयमें रूसोका कोई प्रभाव तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली या विश्व विद्यालयोंपर नहीं पड़ सका। किन्तु पीछे कुछ ऐसे विचारक अवश्य हुए जिन्होंने रूसोकी शिक्षा-योजनाका सार्वजनिक प्रयोग करनेका संकल्प किया।

बेसडो और मानव-संस्थाएँ

रूसोकी इस प्राकृतिक शिक्षाका निश्चित रूपमें प्रथम प्रयोग बेसडोने जर्मनीमें किया और वहाँ इस प्रयोगके लिये फिलैन्थ्रोपिनम (मानवसंस्था) नामक शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना की। यो हान् बर्नहार्ड बेसडो (१७२३-१७९०) स्वभावसे ही ऐसा विचित्र भावुक व्यक्ति था कि रूसोके सिद्धान्तोंने उसे तत्काल मुग्ध कर लिया। वह बड़ा अव्यवस्थित, रूढ़िवादी, विवेकहीन और अनियमित भी था। प्रारंभमें उसे धर्मसेवाकी शिक्षा दिलाई गई किन्तु उसका विश्वास ईश्वरसे उठ गया। उसने धर्मप्रचारके कार्यको तिलांजलि दी और हौलसटाइनमें जाकर हेर फौन क्वालेंडके बच्चोंको शिक्षा देने लगा। इस धनी परिवारके बच्चोंको पढ़ाते समय उसने पहले आस-पासकी वस्तुओंके संबंधमें प्रश्न करके तथा उन वस्तुओंमें खेल-कूदकर उनके संबंधकी सब बातें सिखा दीं। इसके कुछ ही दिन पश्चात् सन् १७६३ में उसे 'एमील' पोथी हाथ लग गई। उससे बेसडो इतना प्रभावित हुआ कि उसने जर्मनीकी शिक्षा प्रणालीमें क्रान्तिका शंख फूँक दिया। उन दिनों जर्मनीके विद्यालयोंमें अँधेरी और गंदी कोठरियोंमें होती थीं, शारीरिक शिक्षाका भी कोई प्रबन्ध नहीं था, नियंत्रण भी बड़ा कठोर था, संपूर्ण वातावरणमें विचित्र कृत्रिमता भी व्याप्त थी, पाठ्यक्रममें भी साहित्यका ही प्रभुत्व था और वह भी नीरस व्याकरण-प्रणालीसे पढ़ाया जाता था। इस दूषित, संकीर्ण प्रणालीसे लोग इतने ऊब उठे थे कि बेसडोने शिक्षा-सुधारके लिये जो-जो सुझाव रक्खे वे तत्काल सर्वमान्य किए जाने लगे और इनके आधारपर धड़ाधड़ मानवीय विद्यालय (फिलैन्थ्रोपिनम) नामक नए ढंगकी संस्थाएँ खोली जाने लगीं जिनमें बेसडोके सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दी जाने लगी।

छः वर्ष पश्चात् बेसडोने बालकोंके लिये 'एलेमेंटारवेर्क' नामक पाठ्यपुस्तक और अध्यापकों तथा अभिभावकोंके लिये सहायक पुस्तक

'मेथोडेनबुख़' तैयार कर डाली। इसके पश्चात् उसने बच्चोंकी रुचिके आधारपर कुछ लोकप्रिय कहानियाँ लिखीं जिनमें नीति, धर्म, उपदेश तथा साधारण विज्ञानकी अनेक बातें भरी हुई थी। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'रौबिन्सन डेर युंगेरे' (कनिष्ठ रौबिन्सन)।

डेस्साउके राजा लियोपोल्डने बेसडोको अच्छा वेतन, भवन, भूमि और जागीर देकर फ़िलैन्थ्रौपिनम (मानवीय विद्यालय) खोलनेकी सुविधा दे दी थी। इस विद्यालयमें काम्पे और साल्समान जैसे विचक्षण विद्वान् अध्यापक बुला लिए गए थे। इस विद्यालयका सिद्धान्त यह था कि सम्पूर्ण शिक्षा प्रकृतिके अनुकूल हो, शिक्षा-क्रममें बच्चोंकी सहज प्रवृत्तियों और रुचियोंको प्रोत्साहन तथा निर्देश दिया जाय, सीखनेकी विधियाँ भी बालकोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो, तत्कालीन सम्पूर्ण आचार-विचार और कृत्रिमताएँ समाप्त कर दी जायँ और बालकोंको सादे कपड़े पहननेको दिए जायँ। सर्व-शिक्षामें विश्वास करते हुए भी ये मानते थे कि एक वर्गको तो सामाजिक संरक्षण और नेतृत्वके लिये प्राकृतिक शिक्षा दी जाय और दूसरे वर्गको अध्यापन करनेके लिये। इसलिये धनी छात्रोंको छः घण्टे विद्यालयमें और दो घण्टे हाथका काम करनेमें तथा निर्धन परिवारोंके बालकोंको छः घण्टे शारीरिक कामोंमें और दो घण्टे पढ़नेमें लगाने होते थे। हस्तकौशल, शारीरिक व्यायाम तथा खेल सबके लिये अनिवार्य थे। बौद्धिक शिक्षा-क्रममें लातिनके साथ देशभाषा और फ्रांसीसी भाषाकी शिक्षा भी दी जाती थी। 'एलेमेंटारवेर्क'के साथ मानव-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, पशुपालन, पेड़-पौधे उगाने और पोषित करनेकी विधि, धातु और रसायन, गणित और भौतिक विज्ञानके यंत्र, व्यवसाय तथा इतिहास आदि विषय सिखाए जाते थे। किन्तु पीछे चलकर उसने इन विषयोंका विस्तार कम कर दिया।

इस विद्यालयमें बोलकर और पढ़कर भाषाएँ सिखाई जाती थी। व्याकरण तब पढ़ाया जाता था जब भाषामें बोलनेकी अच्छी गति हो

चुकती थी। बातचीत, खेल, चित्र, नाटक तथा व्यावहारिक और रोचक विषयोंपर पुस्तक पढ़ाकर लातिनमें कुशलता प्राप्त कराई जाती थी। गणितकी शिक्षा मौखिक ही होती थी। ज्यामितिकी शिक्षा ठीक और शुद्ध रेखाचित्रके द्वारा दी जाती थी। इसी प्रकार घर, पड़ोस, नगर, देश और महाद्वीपके क्रमसे भूगोलका ज्ञान कराया जाता था। यद्यपि १७९३ में डेस्साउका फ़िलैन्थ्रौपिनम सदाके लिये बन्द हो गया किन्तु उसके अध्यापकोंने सारे यूरोपमें फैलकर इस प्रकारके बहुतसे विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल दिए।

शिक्षामें उदारता—खीस्ती शिक्षा-समुन्नति-कारिणी-सभा

अठारहवीं शताब्दिमें कुछ उदार संस्थाओं तथा सज्जनोंने दीनों और निर्धनोंको शिक्षा देनेके लिये बहुतसे धर्मार्थ विद्यालय खोल दिए जैसे एस्० पी०सी० के० (सोसाइटी फौर दि प्रमोशन औफ़ क्रिश्चियन नौलेज) अर्थात् खीस्ती-शिक्षा-समुन्नति-कारिणी-सभाने। इन विद्यालयोंमें अध्यापकोंका कार्य यह था कि धार्मिक प्रश्नोत्तरी पढ़ानेके साथ बालकोंके मनसे सब अवगुण और दुराचरण निकाल दें तथा उन्हें पढ़ना, लिखना और गणित सिखावें। इन विद्यालयोंमें केवल पढ़ने मात्रकी ही नहीं वरन् छात्रोंके लिये भोजन, वस्त्र और निवासकी भी व्यवस्था थी।

थोड़े ही दिनोंमें ऐसे विद्यालयोंकी संख्या केवल इंग्लैंड और वेल्समें ही दो दो सहस्रतक पहुँच गई। धनी लोगोंको इन निर्धनोंकी पढ़ाई बहुत अखरी। उन लोगोंने इन विद्यालयोंकी सहायता बन्द कर दी और इन संस्थाओंकी वृद्धि रुक गई। अन्तमें नैशनल सोसाइटी (राष्ट्र-समिति) ने इनमेंसे बहुतसे विद्यालयोंका भार स्वयं सँभाल लिया।

नौनूकनफ़र्मिस्टों (स्वतंत्रतावादी ईसाइयों) ने भी कुछ इस प्रकारके विद्यालय खोले। वेल्समें चलते-फिरते विद्यालय (सरक्युलेटिंग स्कूल्स) खुल गए जो एक स्थानपर जाकर वहाँके लोगोंको बाइबिल पढ़ा-लिखाकर दूसरे स्थानके लिये चल देते थे।

खीस्ती शिक्षा-समुन्नति-कारिणी सभाकी एक शाखा एस. पी. जे. (धर्म-प्रचार सभा) की ओरसे सन् १७०९ में अमेरिकाके न्यूयार्क नगरमें विलियम हडल्स्टनने इन्हीं धर्मार्थ विद्यालयोंके आदर्शपर नये विद्यालय खोले जिनकी देखा-देखी और भी बहुतसे प्रान्तोंमें ऐसे विद्यालय खुलते चले गए। बहुतसे लोगोंने इस सभाका भी विरोध किया क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं इँगलिस्तानका इसाई धर्म यहाँ भी अड्डा न जमा ले, किन्तु ये विद्यालय अमेरिकामें चलते ही रहे।

इन्हीं धर्मार्थ विद्यालयोंके समान योरोप और अमरिकामें रविवारी विद्यालय (संडे स्कूल्स) चले जिनमें रविवारको शिक्षा दी जाती थी।

शिष्याध्यापक-प्रणाली (मौनीटोरियल सिस्टम)

लंकास्टरने लन्दनके साउथवर्क प्रदेशमें १७९८ ई० में दीन बालकोंके लिये शिष्याध्यापक-प्रणालीका एक विद्यालय खोल दिया। लंकास्टरने उन बालकोंमेंसे ही कुछको चुनकर स्वयं पढ़ाया और फिर वे विद्यार्थी अन्य सब विद्यार्थियोंको पढ़ाने लगे। इस प्रयोगमें उसपर इतना ऋण हो गया कि ब्रिटिश ऐण्ड फौरेन सोसाइटी (ब्रिटिश तथा विदेशी सभा) ने इस विद्यालयका भार अपने ऊपर ले लिया। यह प्रणाली इतनी लोकप्रिय हुई कि इँगलैण्डके ईसाई चर्चमें डाक्टर एन्ड्रू बेलने ऐसे अनेक विद्यालय खोल दिए क्योंकि डाक्टर बेल भारतमें रहकर इस प्रणालीका अध्ययन कर चुके थे।

निर्धन बच्चोंके लिये उन्नीसवीं शताब्दिमें फ्रांस, इँगलैण्ड तथा संयुक्तराष्ट्र अमेरिकामें शिशु-विद्यालय भी खोले गए, जिनका राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीमें महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु ये विद्यलय भी बहुत थोड़े दिनोंमें यंत्रवत् हो गए। कुछ भी हो, इस धर्मार्थ शिक्षा-पद्धतिने सार्वभौम और राष्ट्रीय शिक्षाके लिये मार्ग अवश्य खोल दिया।

शिक्षामें संप्रेक्षणवाद और व्यावसायिक साधना

पेस्टालौज़ी तथा हौरेस मान

यद्यपि रूसोके प्रयोग अव्यावहारिक और असंगत ही थे किन्तु अन्य आचार्योंने उसके प्रकृतिवादको व्यवस्थित कर ही दिया। सर्व-प्रथम पेस्टालौज़ीने यह प्रयास किया कि एक नई प्रणालीका निर्माण किया जा सके।

पेस्टालौज़ी

यौहन्न हेनरिख़ पेस्टालौज़ीका जन्म सन् १७४६ में स्विट्सरलैण्डके त्सूरिख़ नगरमें हुआ। वह पाँच वर्षका हो भी नहीं पाया था कि उसके पिता चल बसे, इसलिये उसका लालन पालन उसकी उदार और धार्मिक माता तथा पादरी दादाने किया जिनके प्रभावसे उसके मनमें भी यह भावना जागरित हुई कि मैं भी असंस्कृत देहाती भाइयोंको पढ़ा-लिखाकर उन्हें ऊपर उठाऊँ। पहले तो उसने पादरीका काम प्रारंभ किया किन्तु वहाँ सफल न होनेके कारण उसने दण्डनीति (कानून) का अध्ययन प्रारम्भ किया, पर इसमें भी उसे सफलता न मिल सकी। संयोगसे रूसोके 'एमील' तथा 'सामाजिक धर्म' (सोशल कौन्ट्रैक्ट) ग्रन्थ कहींसे उसके हाथ लग गए जिनके कारण उसने राज्य-क्रान्तिमें भाग लेकर सरकारके विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ किया और पकड़ा गया। वहाँसे छूटनेपर सन् १७६९ में उसने किसानोंको खेतीके नये उपाय बताकर स्वयं बिर प्रदेशमें थोड़ी सी भूमि लेकर वहाँ न्यू हौफ़ (नया खेत) चलाया। किन्तु पाँच वर्षमें यह प्रयोग भी असफल सिद्ध हुआ।

इसी बीच पेस्टालौज़ीने अपने पुत्रका नाम जेक्स रखकर रूसोके

'एमील' के समान उसका पालन करना प्रारंभ किया। इस प्रयोगसे पैस्टालौज़ी इस परिणामपर पहुँचा कि आँख मूँदकर रूसोके सिद्धान्तोंका प्रयोग करनेसे पहले उनमें आवश्यक संशोधन कर लेने चाहिएँ। उसका यह अनुमान पूर्णतः ठीक था कि बच्चेका प्राकृतिक वातावरण उसका घर ही है जहाँ शासन कुछ कठोर भले ही हो किन्तु वह निरन्तर माता-पिताके स्नेहसे भी ओत-प्रोत रहता है। पैस्टालौज़ीको यह विश्वास हो गया कि पुस्तकोंके आधारपर समुचित शिक्षा नहीं दी जा सकती। यदि शिक्षाकी ठीक योजना बन जाय तो जो निर्धन लोग जीविकामें बाधा पड़नेके कारण नहीं पढ़ते-लिखते वे लोग अपनी जीविका कमानेके साथ ही अपनी बुद्धि और अपना नैतिक आचार भी समुन्नत कर सकते हैं।

खेतीमें असफल होनेके पश्चात् १७७४ में उसने वहीं न्यू हौफ़ (नया खेत) में ही बीस दरिद्र बच्चोंको अपने साथ रखकर और उन्हें भोजन-वस्त्र देकर भारतीय गुरु-भावनासे पाठशाला खोली जहाँ छात्र पढ़ने-लिखनेके साथ-साथ अपने आप अपने परिश्रमसे अपनी जीविका चला सकें। उसकी पाठशालामें बालकोंको तो खेती और फल-फूल उगानेकी शिक्षा दी जाती थी; बालिकाओंको घरेलू काम-काज और सिलाई-बुनाई सिखाई जाती थी, जाड़े-पाले और बरसातके दिनोंमें जब बाहरका काम कम रह जाता था तब सूत कातना और कपड़ा बुनना सिखाया जाता था। वहाँ लिखना-पढ़ना सिखानेके पहले बच्चोंको बात-चीत करना भली प्रकार सिखला दिया जाता था और बाइबिल कंठस्थ करा दी जाती थी। थोड़े ही दिनोंमें उस शिक्षा-क्रमसे बच्चोंका स्वास्थ्य, उनकी बुद्धि, सदाचार सबमें वृद्धि हुई इसलिये छात्रोंकी संख्या बढ़ा दी गई। पर पैसेकी कमीसे सन् १७८० में शिक्षाका इतना बड़ा प्रयोग सदाके लिये समाप्त हो गया।

असफल होनेपर अपने एक मित्रकी प्रेरणासे उसने 'एक साधुका संध्याकाल' (दि ईवनिंग आवर औफ़ ए हरमिट) प्रकाशित किया जिसमें उसके सभी शिक्षण-सिद्धान्तोंका समावेश था। किन्तु वह ग्रन्थ

कुछ दुर्बोध तथा अस्पष्ट हो गया, इसलिये लोगोंने कहा कि इसे सर्व-सुबोध रूपमें लिख डालिए। तदनुसार उसने अपना प्रसिद्ध, सफल और लोकप्रिय ग्रन्थ 'लियोनार्ड उंड गेर्ट्रूड' (१७८१) लिखा। इस कथामें स्वित्सरलैंडके बोनाल नामक गाँवकी हीन सामाजिक दशाका वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार एक साधारण किसान-नारी गेर्ट्रूड अपने मधुरके व्यवहार तथा परिश्रमसे उस गाँवकी दशा बदल देती है। श्रीमती गेर्ट्रूड अपने मद्यप पतिको सुधारती है, अपने बच्चोंको शिक्षा देती है और अपने सदाचरणसे ग्रामीण समाजपर ऐसा प्रभाव डालती है कि सब लोग प्रभावित होकर उसके बताए हुए सुझाव स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् एक कुशल अध्यापक गाँवमें आता है, गेर्ट्रूडसे पाठशाला चलानेकी विधि सीखता है और प्रार्थना करता है कि आप निरन्तर इसी प्रकार सहयोग देती रहें। धीरे-धीरे देशकी सरकारका भी ध्यान इस ओर जाता है, वहाँके सुधारोंका अध्ययन किया जाता है और अन्तमें यह परिणाम निकलता है कि देशका सुधार केवल बोनाल गाँवकी शिक्षण-पद्धतिका अनुसरण करनेपर ही हो सकता है।

आन्श्वांग या अनुभवाश्रित शिक्षण विधि

सन् १७९८ में स्वित्सरलैंडके स्तांत्स नगरमें एक अनाथालयके प्रबन्धका भार पैस्टालौज़ीको मिला किन्तु वहाँ न तो कोई सहायक अध्यापक थ, न पुस्तकें, न कुछ और सामग्री ही। फिर भा उसने अस्सी बच्चोंके शिक्षणकी एक नई विधि निकाली। इसी विधिका नाम था आन्श्वाङ्ग (अनुभवाश्रित शिक्षण-विधि) अर्थात् बच्चोंको अपनी ओरसे कुछ बताया या सिखाया न जाय, बच्चे स्वयं अपने अनुभव और संप्रेक्षणसे बाहरका ज्ञान प्राप्त करें। यही उसकी संप्रेक्षण-प्रणालीका वास्तविक श्रीगणेश था जिसमें धर्म और नीतिके उपदेशके बदले व्यवहारमें जैसे-जैसे नई-नई घटनाएँ होती चलती थीं वैसे वैसे बालकोंको आत्मसंयम,

छात्रोंको गणित सिखानेके लिये भी उसने कुछ फट्टे बनाए थे जिनपर सौ तककी गणनाके लिये बिन्दु या रेखाएँ बनी रहती थीं। इस टेबिल औफ़ यूनिट (इकाईके फट्टे) के सहारे विद्यार्थियोंको अंकोंका अर्थ भी ज्ञात हो जाता था और गणितके आगेके क्रम भी समझमें आ जाते थे। ज्यामितिकी शिक्षाके लिये बच्चोंसे कोण, रेखा, वृत्त आदि ज्यामिति-के रूप खिंचवाए जाते थे और इसी संप्रेक्षण-प्रणालीसे इतिहास, भूगोल तथा प्राकृतिक इतिहासका भी ज्ञान कराया जाता था।

यह प्रणाली इतनी लोकप्रिय हो गई कि झुण्डके झुण्ड विद्यार्थी और अध्यापक वहाँ आ गए और लगभग साढ़े तीन वर्षोंमें पेस्टालौज़ीके शिक्षा-सम्बन्धी विचार व्यवस्थित होकर सर्वसाधारणकी शिक्षाके प्रयोगमें आने लगे। बुर्गडोर्फमें रहते हुए उसने सन् १८०१ में 'हाउ गेर्ट्रुथ ट्रू टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' (गेर्ट्रुथ ट्रू अपने बच्चोंको कैसे पढ़ाती है ?) प्रकाशित करके अपनी प्रणालीकी विस्तृत व्याख्या की। इसमें केवल उन पंद्रह पत्रोंका संकलन है जो उसने अपने मित्र गैसनेरको लिखे थे। यह पूरी पोथी असंगत बातों और पुनरावृत्तियोंसे भरी पड़ी है, इसलिये पेस्टालौज़ीके जीवनी-लेखकने उसके शिक्षण-सिद्धान्तोंका यह संक्षिप्त ब्यौरा दे दिया है—

१. शिक्षाका आधार संप्रेक्षण अर्थात् प्रत्येक वस्तुको ध्यानपूर्वक देख-समझकर उसके संबंधका पूरा ज्ञान प्राप्त करना होना चाहिए।

२. भाषाका सम्बन्ध संप्रेक्षणसे ही होना चाहिए।

३. शिक्षा प्राप्त करनेके समय न तो आँख मूँदकर कोई निर्णय कर लेना चाहिए और न निरर्थक आलोचना ही करने लग जाना चाहिए।

४. शिक्षाकी प्रत्येक शाखाका प्रारम्भ सरलतम तत्त्वोंसे होना चाहिए और बालकके विकासके साथ विकसित होना चाहिए अर्थात् संपूर्ण ज्ञान ऐसे क्रमसे दिया जाय कि अगले और पिछले ज्ञानका परस्पर मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध हो।

५. शिक्षाकी प्रत्येक अवस्थामें बालकको इतना पर्याप्त समय देना

चाहिए कि वह नई सामग्रीको पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर ले, मुट्ठीमें कर ले।

६. शिक्षण-कार्य भी विकास-क्रमसे ही चलाया जाय, बलपूर्वक गुरुत्वकी भावनासे छात्रपर कुछ न लादा जाय।

राजनीतिक उथल-पुथलके कारण सन् १८०५ में पेस्टालौज़ीको अपना विद्यालय बुर्गडोर्फ़से हटाकर इवरडून ले जाना पड़ा। जहाँ उसने स्तांस तथा बुर्गडोर्फ़की संप्रेक्षणात्मक प्रणालियोंको पूर्ण किया। वहाँ उसने एकस्वरी ध्वनियाँ (सिलेबरीज़ तथा इकाईके फट्टे (टेबिल ऑफ़ यूनिट) का सुधार किया और गणितके लिये एक नई भिन्नोंकी सरणि (टेबिल ऑफ़ फ़्रैक्शन्स) भी तैयार कर डाली।

इसी प्रकार लिखना और चित्ररेखा (ड्राइङ्ग) खींचना सिखानेके लिये छड़ी या अंजनी (पेंसिल) आदि वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपसे आड़े, सीधे, खड़े, पड़े, बेंड़े, तिरछे रखकर या रेखाएँ खिंचवाई जाती और इन रूपोंका अभ्यास कर चुकनेपर छात्रोंको समरूप और सुन्दर आकृतियाँ बनानेके लिये प्रोत्साहन दिया जाता था। इन्हीं सब अभ्यासोंसे छात्रोंको लिखनेका ढंग भी आ जाता था।

पेस्टालौज़ीके इन सिद्धान्तों और प्रयोगोंके फल-स्वरूप प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल रिट्टरने उसके भूगोल-शिक्षण-सम्बन्धी विचारोंको समुन्नत किया और पेस्टालौज़ीके संगीतज्ञ मित्र नैगेलीने संगीत-शिक्षाके लिये इस प्रणालीका प्रयोग करना आरम्भ किया।

पेस्टालौज़ीके शिक्षा-संबंधी उद्देश्य और उनकी व्याख्या

पैस्टालौज़ीने शिक्षाका अर्थ बताया है 'मनुष्यका स्वाभाविक विकास और उसकी सब शक्तियों, समर्थताओं और योग्यताओंका साथ-साथ संवर्धन!' उसने अपने लेख 'एक साधुका संध्याकाल' में लिखा था कि बालककी वृद्धि भी वृक्षकी वृद्धिके समान होती है। जैसे किसी वृक्षके बीज और उसके मूलमें स्थित अंग ही अनेक अबाध सम्बन्धोंके द्वारा

पूर्ण वृक्षका रूप धारण करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी बालकपनमें अपने अंग या उपांगका जो संस्कार पाता है उसीके अनुसार वह विकसित रूप बन जाता है। इसलिये पेस्टालौज़ीने शिक्षाकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'मनुष्यकी सब शक्तियों और समर्थताओंके स्वाभाविक और सर्वाङ्ग विकासात्मक संवर्धनको ही शिक्षा कहते हैं।'

संप्रेक्षण (औब्ज़र्वेशन) के सिद्धान्तकी व्याख्या

उसकी शिक्षाका मुख्य सिद्धान्त था संप्रेक्षण। इसका तात्पर्य यह था कि बालककी रुचि जिस वस्तुमें हो वही वस्तु बालकको दी जाय जिससे वह उस वस्तुको भली प्रकार देख-समझकर उससे सम्बन्धमें सब बातें जान ले क्योंकि इस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान या स्वानुभूत ज्ञान ही सबसे अधिक स्पष्ट, उपयोगी और टिकाऊ होता है। इस संप्रेक्षणीय ज्ञानके वितरणार्थ उसने यह प्रणाली निकाली कि पहले प्रत्येक विषयको सरलतम तत्त्वोंमें विश्लेषित कर दिया जाय और फिर क्रमिक अभ्यासोंके द्वारा इस प्रकार पूर्ण किया जाय कि केवल शब्दज्ञानकी अपेक्षा वस्तुओंका अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय। किन्तु बालकमें अपने अनुभव स्पष्ट और व्यवस्थित शब्दोंमें व्यक्त करनेकी शक्ति भी होनी चाहिए इसीलिये उसने अपने संप्रेक्षणके साथ भाषाका ज्ञान भी अनिवार्य रूपसे जोड़ दिया।

पेस्टालौज़ीके प्रयोगोंका प्रभाव

यद्यपि पेस्टालौज़ी भी अपनी प्रणालीको सक्रिय रूप नहीं दे पाया किन्तु उसने रूसोकी स्वतन्त्र, निर्देशहीन तथा निर्बाध शिक्षा-पद्धतिको व्यवस्थित रूप देकर, सँवार-सुधारकर पाठशालाओंमें उसका प्रयोग किया। चाहे पेस्टालौज़ीको इसमें सफलता न मिल पाई हो किन्तु उसके कारण शिक्षाके क्षेत्रमें नये ढंगसे सोचने-विचारने, तथा प्रयोग करनेकी परिपाटी अवश्य चल निकली।

पेस्टालौज़ीकी यह संप्रेक्षण-प्रणाली सम्पूर्ण योरप तथा संयुक्तराष्ट्र अमेरिकामें फैल गई जिसका प्रचार एक ओर हौरेस मान (१७९६ से

१८५९) और डा० एडवर्ड् ए० शैल्डनने औस्वेगो प्रणालियोंकी स्थापनाके द्वारा किया और दूसरी ओर उसकी व्यावसायिक शिक्षाका प्रचार फ्रालेनबुर्गने किया। ये सब व्यावसायिक संस्थाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि चारों ओर उनकी देखा-देखी न जाने कितने व्यावसायिक विद्यालय योरप तथा अमेरिकामें फैल गए।

पेस्टालौज़ीकी शिक्षा-पद्धतिका विश्लेषण

पेस्टालौज़ीने रूसोके विचारोंका अन्धानुकरण तथा अन्धानुसरण नहीं किया। उसने अपने पुत्रपर रूसोके प्रकृतिवादका प्रयोग करके यह परिणाम निकाला कि रूसोकी योजना ज्योंकी त्यों प्रयोगमें नहीं लाई जा सकती, उसमें संशोधन करना अत्यन्त आवश्यक है।

उसने यह ठीक सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि यदि बालकोंको स्वाभाविक वातावरणमें छोड़ना अभीष्ट और आवश्यक ही है तो उसे घरमें माताके पास छोड़ना चाहिए, क्योंकि बालकको घरपर ही स्वाभाविक वातावरण मिल सकता है और कहीं नहीं, क्योंकि जहाँ बालक खेल-कूदमें किसीका हस्तक्षेप या वाणिक्षेप नहीं चाहता, वहाँ वह स्नेह, दुलार, प्रोत्साहन और पोषण भी चाहता है।

पेस्टालौज़ीका यह प्रस्ताव ठीक था कि पुस्तकोंके आधारपर शिक्षा ठीक नहीं हो सकती। सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि प्रारम्भिक शिक्षामें पुस्तकका संपर्क बालकको कमसे कम देना चाहिए किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि शिक्षा-क्षेत्रसे पुस्तकका पूर्ण बहिष्कार कर दिया जाय। पेस्टालौज़ी तो संप्रेक्षण अर्थात् स्वयं प्रत्येक वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान करके शिक्षित होनेका सिद्धान्त माननेवाला था। अतः जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान ही शिक्षाका आधार हो वहाँ पुस्तकको दाल-भातमें मूसरचन्द बनाकर न लाया जाय। किन्तु संसारके सभी ज्ञातव्य विषय प्रत्यक्ष ज्ञानसे बोधगम्य नहीं होते, उनके लिये पुस्तकका आश्रय लेनेके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही कौन-सा रह जाता है। अतः पैस्टालौज़ीको अपने सिद्धान्तमें

यह भी जोड़ देना चाहिए था कि 'जो भावात्मक तथा कल्पनात्मक विषय प्रत्यक्षतः बोधगम्य न हो सकते हों, केवल उन्हींके लिये पुस्तकोंका प्रयोग किया जाय, शेष विषयोंके लिये नहीं।'

पढ़नेके साथ-साथ शारीरिक श्रमसे जीविकोपार्जन करनेकी सूझ भी पेस्टालौज़ीकी अपनी नहीं है। इससे पहले ईसाई मठीय विद्यालयोंमें अध्ययनके साथ इतने शारीरिक श्रमका विधान कर दिया गया था जितनेसे अपनी जीविका चलाई जा सके। अन्तर केवल इतना हुआ कि उन विद्यालयोंमें इस प्रकारकी योजना केवल साधुओंके लिये थी, सर्वसाधारणके लिये नहीं, किन्तु पेस्टालौज़ीने तो व्यापक रूपसे प्रत्येक शिक्षार्थीके लिये जीविकोपार्जन-योग्य श्रम अनिवार्य कर दिया।

पेस्टालौज़ीका सबसे अधिक क्रान्तिकारी प्रस्ताव यह था कि बालककी रुचि और उसकी इच्छा ही प्रधान समझी जाय। इसका सुखद परिणाम यह हुआ कि पाठशाला जानेमें बालक उत्सुकता दिखाने लगे, अध्यापकमें शास्ताके बदले मित्रकी मूर्त्ति देखने लगे, अपने मनके अनुकूल शिक्षण-विषय पाकर रुचिपूर्वक उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ने-सीखने लगे और जिज्ञासा व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रता मिल जानेसे अपने कुतूहलका संवर्धन और समाधान भी करने लगे।

इतना होनेपर भी पेस्टालौज़ीकी पद्धतिमें अनेक स्वतःविरोधी प्रवृत्तियाँ भी थीं। एक ओर जहाँ वह स्वाभाविकताकी दुहाई देता था वहीं दूसरी ओर वह एकस्वरी (सिलेबरीज़) की सृष्टि भी करता था जो पूर्णतः अस्वाभाविक थीं। गेर्ट्रूयूडके द्वारा उसने जो समाज-सुधारका विधान सुझाया है कि वह कोरी कल्पनामात्र है क्योंकि समाजकी प्रत्येक नारी गेर्ट्रूयूडके समान उदार, सेवाव्रती और शीलवती कैसे होगी।

पेस्टालौज़ीकी आन्श्वांग या अनुभवाश्रित शिक्षाकी योजनाका अन्तर्विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि हमारे जिस ज्ञानका संपूर्ण भांडार इतनी सहस्राब्दियोंसे हमारे पूर्वजोंने संचित कर रक्खा है उसका

प्रयोग न करके ज्ञानार्जनकी प्रत्येक परिस्थितिकी प्रत्येक व्यक्ति-द्वारा आवृत्ति कराना नितान्त मूर्खता ही है। हमारे चारों ओर नदी-नाले, ताल-तलैया, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, फल-फूल, बादल-पानी, धूप-छाँह, गर्मी-सर्दी, प्रातः संध्या आदि अनेक ऐसे पदार्थ और अनुभव हैं जो प्रत्येक व्यक्ति अपने संप्रेक्षण या स्वानुभवसे सीख और जान सकता है किन्तु पृथ्वीका सूर्यके चारों ओर घूमना, सूर्य और चन्द्रग्रहणका रहस्य, काव्य, आयुर्वेद, यन्त्र-विज्ञान आदि न जाने ऐसे कितने रहस्य हैं जिनका महाभांडार संप्रेक्षण-प्रणालीसे सौ जन्मोंमें भी बुद्धिगत नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि पेस्टालौज़ीने इस संप्रेक्षणको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देकर उसे व्यावहारिक और उपादेय बनानेके बदले उसे उसी प्रकार हास्यास्पद और अव्यवहार्य बना दिया जैसे वर्त्तमान वर्धा-शिक्षण-प्रणालीमें चरखे और तकलीको अनावश्यक महत्त्व देकर सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति ही अस्वाभाविक बना डाली गई।

पेस्टालौज़ीकी सबसे अधिक विचित्र घोषणा यह थी कि शिक्षा इतनी सरल बना दी जाय कि विद्यालयकी आवश्यकता ही न रह जाय। इसीलिये उसने 'संप्रेक्षणका क ख ग' (ए बी सी ऑफ़ ऑब्ज़र्वेशन) की सृष्टि की। किन्तु उस शिक्षा-शास्त्रीने न जाने कैसे कल्पना कर ली कि सारी विद्या थोड़ेसे ऐसे सूत्रोंमें बाँध ली जा सकती है कि फिर विद्यालयकी आवश्यकता ही न रह जाय। इस प्रकारकी सनक होनेपर भी पेस्टालौज़ीने जो प्रयोग किए वे जिज्ञासु और सच्चे लोकहितैषीके थे। उस दृष्टिसे वह अवश्य आदरणीय था और रहेगा भले ही उसकी शिक्षा-पद्धति अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित रही हो।

५ हौरेस मान

उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यमें अमेरिकाके विद्यालयोंका पुनरुद्धार आन्दोलन चला जिसमें सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई हौरेस मानने।

शिक्षा-समितिका अध्यक्ष बनकर उसने अपने देशमें शिक्षाके क्षेत्रमें बड़े विशिष्ट सुधार किए। उसका विचार था कि शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क होनी चाहिए, बालिकाओंको भी बालकोंके समान शिक्षा मिलनी चाहिए, निर्धनोंको भी धनिकोंके समान जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उन्नतिका अवसर दिया जाना चाहिए, सार्वजनिक विद्यालयोंमें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि धनी लोग वर्गीय विद्यालयोंको उत्कृष्ट न समझें और इस शिक्षामें केवल पढ़ने-लिखने या अन्य कौशलोंकी ही शिक्षा न दी जाय वरन् उसका उद्देश्य नैतिक चरित्रका विकास और सामाजिक योग्यताका संवर्धन हो। विद्यालयके भवन स्वस्थ और सुघर हों जिनमें वायु, प्रकाश और पीठासनोंकी ठीक व्यवस्था हो। संपूर्ण शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर ही दी जाय, केवल गुरुवचन और रूढ़िके आधारपर नहीं। वर्णमाला या अक्षर-पद्धतिसे पढ़ना सिखानेकी अपेक्षा शब्द-पद्धतिसे पढ़नेका अभ्यास कराना चाहिए। प्रत्येक अध्यापकको शिक्षा-शास्त्रका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उनका कर्त्तव्य है कि वे बालकके स्वभावको भली भाँति समझकर स्नेह और सहानुभूतिसे उसे शिक्षा दें।' इन सिद्धान्तोंके साथ-साथ उसने पेस्टालौज़ीकी संप्रेक्षण-प्रणालीका भी जहाँ-तहाँ प्रचलन किया। पाठ्य-विषयोंमें बीजगणित तथा बही-खातेकी शिक्षा देना वह निरर्थक समझता था। इस सम्पूर्ण परिवर्त्तनका प्रभाव यह हुआ कि विद्यालयोंकी शिक्षा-व्यवस्था सब दृष्टियोंसे सुरूप और सुसम्बद्ध हो गई।

हौरेस मानके सिद्धान्तोंका विश्लेषण

निम्नतम वर्ग अँगड़ाई लेकर कहीं धीरेसे और कहीं झटकेसे जाग रहा था। अतः प्राचीन क्रमसे दी जानेवाली शिक्षा-पद्धतिमें परिवर्त्तन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। किन्तु इस परिवर्त्तनके आवेशमें हौरेस मान यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाया कि उस परिवर्त्तनकी सीमा क्या होनी चाहिए। इसीलिये उसने अन्य परिवर्त्तनोंके साथ यह

जोड़ दिया कि वर्णपद्धति (एल्फ़ेबेटिक मेथड) से न पढ़कर शब्दबोध-पद्धति या 'देखो और कहो पद्धति' (वर्ड-फ़ौर्म मेथड या लुक ऐंड से मेथड) से पढ़ाया जाय। जहाँ एक ओर बालककी रुचि और समर्थताको ध्यानमें रखकर उसका शिक्षा-क्रम निर्णय करनेकी बात कही जाती हो वहीं उसके साथ यह भी कहना कि भिन्न प्रकृति, भिन्न रुचि, भिन्न समर्थता, भिन्न प्रकृति तथा भिन्न प्रवृत्तिवाले बालक और बालिकाओंको एक ढंगकी शिक्षा दी जाय, कितना असंगत और अव्यवहार्य है। संसारका कोई भी विचारशील व्यक्ति यह कभी माननेको उद्यत नहीं होगा कि बालक-बालिका दोनोंके लिये समान पाठ्यक्रम निर्धारित करनेकी भूल की जाय।

इसी प्रकार अक्षर-पद्धतिसे भाषा सिखानेके बदले शब्द-बोध-पद्धतिसे भाषा सिखानेसे सबसे बड़ी हानि यह होगी कि शब्दके अक्षरोंका विलग परिचय न होनेसे शब्दोंके शुद्ध रूप बालकको कभी नहीं आ सकते। हौरेस मानने यदि ये दो बातें न कही होतीं तो उसके शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त निश्चित रूपसे इस युगके लिये सर्वमान्य हो जाते।

६

हरबार्ट और शिक्षाशास्त्रका विकास

पीछे कहा जा चुका है कि पेस्टालौज़ीके शिक्षाक्रममें दो निश्चित पंथ थे जो विरोधीसे लगते थे, किन्तु थे वास्तवमें विरोधाभास मात्र ही। एक ओर तो पेस्टालौज़ी यह मानता है कि जन्मके समय ही बालकमें सब गुण अपने वास्तविक रूपमें उपस्थित रहते हैं, केवल उनका विकास भर करना रह जाता है। दूसरी ओर वह स्वानुभूति या इन्द्रियानुभूति की बात करता है कि बाहरी संसारके अनुभवसे हमारे ऊपर जो तात्कालिक और सीधे प्रभाव पड़ते रहते हैं वे ही हमारे ज्ञानके वास्तविक आधार हैं।

पेस्टालौज़ीके शिष्य हरबार्ट और फ़्रोबेल

फ़्रोबेलने पेस्टालौज़ीके प्रथम पक्षको लिया और बालकके स्वतः विकास और उसकी स्फूर्तिमयी क्रियाओंको अधिक महत्त्व दिया। उधर हरबार्टने दूसरा पक्ष ग्रहण करके पाठन-प्रणाली और अध्यापन-शैलीको महत्त्व दिया। हरबार्ट ही सर्वप्रथम आचार्य है जिसने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वैज्ञानिक आधार लेकर शिक्षाके सब पक्षोंकी व्यापक रूपसे व्यवस्था की। यद्यपि फ़्रोबेल भी पेस्टालौज़ीका शिष्य और सहकारी रह चुका था किन्तु न तो उसमें हरबार्टकी-सी प्रतिभा और विद्वत्ता थी न उसके जैसी सूक्ष्म दार्शनिक अंतर्दृष्टि। इसीलिये न तो फ़्रोबेलकी शिक्षा-पद्धति ही स्पष्ट और व्यवस्थित हो पाई न वह अध्यापन-प्रणालीपर भी विशेष ध्यान दे पाया।

हरबार्ट

योहान फ़्रीडरिख़ हरबार्ट (१७७६–१८४१) का जन्म ओल्डनबुर्ग नगरके एक प्रतिष्ठित विद्वत्परिवारमें ४ मई सन् १७७६ को हुआ था।

उसके दादा ओल्डनबुर्ग महाविद्यालयके प्रधानाचार्य थे, उसके पिता वकील और प्रिवी कौंसिलके सदस्य थे और उसकी माता भी विलक्षण प्रतिभा-संपन्न महिला थी, जिन्होंने हरबार्टको यूनानी भाषा, सर्वगणित और दर्शन-शास्त्र पढ़नेमें भरपूर सहायता दी। हरबार्ट भी जन्मसे ही बड़ा बुद्धिमान् था। बचपनसे ही उसनें अपने विद्यालयमें नैतिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक विषयोंपर लेख लिखकर बड़ी प्रसिद्धि पा ली थी। स्नातक (ग्रेजुएट) होनेके पूर्व ही (१७९७) उसने विश्वविद्यालय छोड़ दिया और वह इन्टरलाकिन (स्विट्सरलैंडके शासक) के तीन पुत्रोंका गृहाध्यापक हो गया। वहाँ तीन वर्षोंमें उसने अपने शिष्योंको जिस पद्धति और क्रमसे पढ़ाया उससे ज्ञात होता है कि उसकी व्यवस्थित शिक्षा-प्रणालीका बीज उसमें निहित था। इस युवक शिक्षकने समझ लिया कि प्रत्येक बच्चेमें कुछ व्यक्तिगत भिन्नता होती है और इसलिये उसने बच्चोंकी विभिन्न अवस्थाओंके प्रति उचित ध्यान भी दिया। अपने प्रिय ग्रंथ 'ओडिस्सी-'में उसने बालकोंमें नैतिकता और बहुमुखी रुचियोंका संवर्धन करनेके उपाय सुझाए हैं। यही प्रारंभिक अनुभव उसके संपूर्ण शिक्षा-शास्त्रका आधार था।

स्विट्सरलैंडमें रहते हुए ही वह पैस्टालौज़ीके शिक्षा-सिद्धान्तोंसे बड़ा प्रभावित हुआ था और सन् १७९९ में बुर्गडोर्फकी संस्थाका निरीक्षण करनेके बाद जब वह ब्रेमेन्नमें अपना बचा हुआ विश्वविद्यालयका पाठ्यक्रम पूरा कर रहा था उसी समय उसने पेस्टालौज़ीके विचारोंका प्रचार करना और उन्हें वैज्ञानिक रूप देना प्रारंभ कर दिया था। यहींपर उसने पेस्टालौज़ीके मतका समर्थक निबन्ध लिखा और 'संप्रेक्षणके क ख ग (ए बी सी औफ़ औब्ज़र्वेशन) पर पेस्टालौज़ीके विचार' की उसने व्याख्या भी की और ग्वेटिंगेन विश्वविद्यालयमें शिक्षा-शास्त्रपर व्याख्यान भी दिए। उन लेखोंमें उसने पेस्टालौज़ीकी शिक्षा-प्रणालीकी खरी आलोचना करके बताया कि पेस्टालौजीकी शिक्षाप्रणाली अस्पष्ट और अव्यवस्थित है।

सन् १८०९ में जब क्वेनिग्ज़बुर्गके विश्वविद्यालयने इमानुअल कांटके स्थानपर हरबार्टको दर्शन-शास्त्रका आचार्य बनाकर बुलाया तब उसने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी कल्पनाओंको व्यावहारिक रूप देनेमें लगाया। क्वेनिग्ज़बुर्गमें उसे दर्शनशास्त्र और शिक्षाशास्त्र दोनोंका अध्यापन करना पड़ता था इसलिये उसने सबसे पहले एक प्रकारकी अभ्यासार्थ प्रयोगशाला बनानेकी व्यवस्था की क्योंकि शिक्षाके संबंधमें जो वह शास्त्रीय भाषण देता था उसका व्यावहारिक पक्ष दिखाना भी आवश्यक था, अन्यथा कोरे सिद्धान्तोंका प्रयोजन ही क्या था। यहींपर हरबार्टने वर्त्तमान प्रसिद्ध शिक्षा-संबंधी संस्था प्रारम्भ की और उसके साथ एक विद्यालय खोल दिया जिसमें जाकर अध्यापकगण सीखे हुए सिद्धान्तोंका व्यावहारिक प्रयोग करते थे। इस अभ्यास-विद्यालयमें शिक्षा पानेवाले छात्रगण, विद्यालयोंके आचार्य या निरीक्षक बननेकी शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँपर जो शिक्षक होते थे वे इन छात्रोंका निरीक्षण और आलोचन करते रहते थे। हरबार्टके इन शिष्योंके परिश्रम और प्रभावसे, प्रशा तथा जर्मनीके अन्य राज्योंमें शिक्षाका अधिक प्रसार हुआ। अपने जीवनके अंतिम आठ वर्ष उसने अपने शिक्षा-सिद्धान्तोंको विस्तृत और व्यवस्थित करनेमें लगाए। यहींपर उसने 'शिक्षा-सिद्धान्तकी रूपरेखा' (आउटलाइन्स ऑफ़ एजुकेशनल डौक्ट्रिन, १८३५) नामक ग्रंथका पहला संस्करण प्रकाशित किया जिसमें उसने अपनी पूर्ण परिपक्व शिक्षापद्धतिकी विस्तृत व्याख्या की। यह ग्रन्थ शिक्षा-क्रमपर सबसे अधिक व्यावहारिक और सुव्यवस्थित ग्रन्थ है। इसका संस्करण प्रकाशित होते-होते वह अपार यश और कीर्ति छोड़कर इस संसारसे महाप्रयाण कर गया।

हरबार्टकी शिक्षा-पद्धतिके आधार

हरबार्टका यह विचार है कि हमारे मनकी रचना बाहरी संसारके अनुभवोंसे होती है अर्थात् हरबार्ट सहज भावनाओं और प्रवृत्तियोंका

अस्तित्व मानता ही नहीं था। वह मानता है कि चेतनाके सरलतम तत्त्व 'विचार' हैं। हमारा आत्मा स्वयं शुद्ध है। वह बाहरी प्रभावोंके चक्करमें नहीं पड़ना चाहता। किन्तु संसारमें रहनेके कारण उसे अनेक परिस्थितियोंका सामना करना ही पड़ता है। अतः इन बाहरी प्रभावोंसे मुक्त रहनेके निमित्त हमारा आत्मा इस 'विचार' नामक तत्त्वको उत्पन्न करके निश्चिन्त हो जाता है अर्थात् जब हमारा आत्मा किसी बाह्य परिस्थितिके-संपर्कमें आता है तब विचार उत्पन्न होते हैं और ये स्वयं अपनी विस्फोट शक्तिके द्वारा स्वयं सत् या अस्तित्ववाले बनकर निरंतर अपना संरक्षण करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। ये विचार सदा यह प्रयत्न करते हैं कि हम चेतनाकी ऊँचाईके निकटतम पहुँचें। इस प्रयत्नमें प्रत्येक विचार स्वयं चेतनाके भीतर प्रकट होनेका, अपने सहयोगी विचारोंको ऊपर उठानेका तथा असहयोगी विचारोंको नीचे गिराने या निकाल बाहर करनेका यत्न करता रहता है। प्रत्येक नया विचार या विचारोंका समूह पूर्वस्थित विचारोंके मेल या विरोधके अनुसार ऊपर उठता, सुधरता या हटता चलता है। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि हमारी चेतनामें पहलेसे जो विचार विद्यमान हैं उन्हींके अनुसार नये विचार ग्राह्य या अग्राह्य होते हैं। हरबार्टके इस 'पूर्व-ज्ञान' (एपर्सेप्शन) के सिद्धान्तके अनुसार कोई भी अध्यापक बालकके पूर्व-संचित ज्ञानका सहारा लेकर नये विचार या विचार-समूहमें विद्यार्थीकी रुचि और एकाग्रता उत्पन्न करके उन विचारोंको स्थिर करानेमें सफल हो सकता है। अतः शिक्षाकी समस्या यह रह गई कि नई पाठ्य-सामग्री ऐसी किस विधिसे दी जाय कि वह 'पूर्व-ज्ञान'से संबद्ध हो जाय अर्थात् छात्रके पूर्व-संचित ज्ञानसे मेल खा जाय।

हरबार्टके मतसे शिक्षाका उद्देश्य है 'नैतिक और धार्मिक आचरणकी व्यवस्था' जो शिक्षाके द्वारा सिद्ध की जा सकती है और जिसके लिये प्रत्येक बालकके विचार-समूह, स्वभाव और मानसिक सामर्थ्यका

ध्यानपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। जो शिक्षा बालककी विचारधाराके साथ मेल नहीं खायगी उसमेंसे वह सदाचरणके विचार ग्रहण नहीं कर सकता। हरबार्टने बालककी रुचिको कुछ इने-गिने विद्यालयके कार्योंकी पूर्तिके लिये अस्थायी उद्दीपन मात्र नहीं माना। उसका कहना है कि शिक्षाके द्वारा ऐसा कुछ व्यापक बहुमुखी रुचि-समूह बना देना चाहिए जो स्थायी रूपसे जीवनको प्रभावित कर सके और पाठ्यविषय इस प्रकार चुने और क्रमबद्ध किए जायँ कि वे छात्रके पूर्व अनुभवसे ही केवल संबद्ध न हों, वरन् वे ऐसे भी हों कि पूर्ण रूपसे जीवन और आचरणके सब संबंधोंको प्रकाशित करते रहें।

यद्यपि बहुमुखी रुचिके लिये ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकारके विषय आवश्यक हैं किन्तु हरबार्टके मतसे पाठ्यक्रममें उन्हें इस प्रकारसे रखना चाहिए कि वे सब मिलकर एकरूप हो जायँ क्योंकि जब-तक यह एकरूपता नहीं होगी तबतक बालककी चेतना भी एकरूप नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि हरबार्टने पाठ्य-विषयोंकी पारस्परिक सम्बद्धता या प्रतिसंबद्धता (कौरिलेशन) के सिद्धांतका पूर्ण निरूपण कर दिया था जो पीछे हरबार्टवादियोंने एकाग्रीकरण (कन्सेन्ट्रेशन) के नामसे समुन्नत किया, जिसका अर्थ यह था कि जितने पाठ्य विषय हों वे सब साहित्य और इतिहास जैसे एक या दो व्यापक विषयोंसे संबद्ध कर दिए जायँ किन्तु विषय-सामग्रीका चुनाव और उनका परस्पर संबंध इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि वह बहुमुखी रुचिको उद्दीप्त करे। त्सिल्लर आदि शिक्षाशास्त्रियोंने इस सिद्धांतको अपने संस्कारावृत्ति (कल्चर-ईपौक) के सिद्धांतका रूप देकर स्थिर और निश्चित कर दिया।

हरबार्टने अनुभव किया कि बच्चेको शिक्षा देनेके लिये एक निश्चित क्रम होना चाहिए। वह चाहता था कि यह शिक्षाक्रम मानव-मस्तिष्कके विकास और क्रियासे मेल खाता हुआ होना चाहिए। इसी मानसिक क्रियाके आधारपर उसने चार संगत पदोंका निर्धारण किया—

(१) स्पष्टता (क्लीअरनेस्); अर्थात् शिक्षणीय वस्तुओं और तत्त्वोंको प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूपसे उपस्थित करना; (२) संयोग (एसोसिएशन) अर्थात् इन उपस्थित की हुई वस्तुओं और तत्त्वोंको बालकके पूर्वार्जित ज्ञानसे भली प्रकार जोड़ देना; (३) व्यवस्था (सिस्टम), अर्थात् जो ज्ञान इस प्रकार जोड़ा गया है उसका युक्ति-युक्त और संगत क्रम स्थापित कर देना; और (४) रीति या प्रयोग (मैथड) अर्थात् छात्र-द्वारा नवीन परिस्थितियोंमें उपर्युक्त व्यवस्थाका व्यावहारिक प्रयोग। हरबार्टने तो इस क्रमको केवल सिद्धांत रूपमें प्रतिष्ठित किया था किन्तु उसके पश्चात् उसके शिष्योंने इसे सुधारकर विशेष रूपसे समुन्नत कर दिया है। हरबार्टके प्रसिद्ध शिष्य त्सिल्लरने स्पष्टतावाले पदको दो भागोंमें विभक्त किया (१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन) और (२) वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेण्टेशन)। हरबार्टके दूसरे शिष्य राइनने 'प्रस्तावना'में एक और उपपद 'उद्देश्य' भी जोड़ दिया। अन्य तीन पदोंको भी अधिक स्पष्ट करनेके लिये पीछेके हरबार्टियोंने उनके नाम बदल दिए और शिक्षाके 'पाँच नियमित पद' इस प्रकार कर दिए—(१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन), (२) वस्तुप्रस्थापन (प्रेजेंटेशन), (३) तुलना और तत्त्वनिरूपण (कम्पेरिज़न एण्ड एब्स्ट्रैक्शन), (४) परिणमन (जनरलाइज़ेशन) और (५) प्रयोग (एप्लीकेशन)। इन्हें स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझाया जा सकता है—

सिद्धान्त चतुष्पदी	शिक्षा-पंचपदी
१— स्पष्टता (क्लीअरनेस्)—	१—(अ) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन)।
	(आ) उद्देश्य (एम)
	२—वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेंटेशन)।
२—संयोग (एसोसिएशन)—	३—तुलना और तत्त्वनिरूपण (कम्पैरिज़न एण्ड ऐब्स्ट्रैक्शन)।

३—व्यवस्था (सिस्टम)—— ४—परिणमन (जनरलाइज़ेशन) ।
४—रीति या प्रयोग (मेथड)—— ५—प्रयोग (एप्लिकेशन) ।

हरबार्टके सिद्धान्तोंकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उसे उसने पाँच पदोंके रूपमें बहुत संकुचित कर दिया था। अपनी शिक्षा-पद्धतिका सारांश बतलाते हुए उसने कहा था कि 'उपदेशसे विचार-चक्र बनता है और शिक्षासे चरित्र या आचार। विचारके बिना आचार कुछ नहीं है, यही मेरे शिक्षाशास्त्रका तत्त्व है।'

हरबार्टने छात्रमें बहुमुखी रुचि उत्पन्न करनेकी आवश्यकताको बहुत महत्त्व दिया है। यह बहुमुखी रुचि तभी उत्पन्न हो सकती है जब पहले पाठ्यक्रमके लिये उचित विषयोंका चुनाव करके उन्हें ऐसे क्रममें बाँध दिया जाय कि वे एक दूसरेके अंग होकर परस्पर मिल जायँ और अन्योन्याश्रित हो जायँ। यह प्रतिसम्बद्धता दो ही प्रकारसे संभव है—(१) एक तो यह कि छात्रोंके मन तथा उनके विकासकी अवस्थाको समझकर उनके मस्तिष्कमें उनके अनुकूल शिक्षासामग्री पहुँचाई जाय। इसे यों कह सकते हैं कि छात्रोंके मस्तिष्कके विकासके अनुसार ही उन्हें शिक्षा दी जाय और यह शिक्षाकी सामग्री अर्थात् विषय भी उनके मानसिक विकासकी अवस्थाके अनुकूल हों। (२) दूसरा विधान यह है कि शिक्षाके सभी विषयोंको साहित्य तथा विज्ञानके दो भागोंमें क्रमसे बाँध दिया जाय और सभी पाठ्यविषय इन्हीं दो विभागोंके अंतर्गत करके परस्पर संबद्ध कर दिए जायँ।

संस्कारावृत्तिका सिद्धान्त (कल्चर ईपौक थ्योरी)

इस संबंधमें हमारा ध्यान स्वभावतः हरबार्टके संस्कारावृत्तिके सिद्धान्तकी ओर जाता है। इस सिद्धान्तका विकास उसके शिष्य ज़िल्लेरने ही किया था। हरबार्टका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्ककी उन्नति तथा मानसिक विकासके साथ-साथ अपनी जातिकी सांस्कृतिक समुन्नतिकी प्रत्येक अवस्थाको समझता चलता है और उसीके अनुसार

उनकी पुनरावृत्ति करता चलता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मानसिक विकासके साथ-साथ अपने जातीय विकासकी विभिन्न अवस्थाएँ भी प्राप्त करता चलता है। इसलिये बालककी जातिके सांस्कृतिक विकासकी विभिन्न अवस्थाओंके द्योतक शिक्षा-साधनोंको एकत्र करके पाठ्यक्रममें व्यवस्थित करना आवश्यक है।

हरबार्टका यह सिद्धान्त अत्यन्त गूढ़, दार्शनिक, अस्पष्ट और अव्यावहारिक है क्योंकि प्रत्येक जातिका सांस्कृतिक विकास भिन्न-भिन्न रीतिसे हुआ है और जब हम किसी एक विद्यालयमें विभिन्न जातिके बालकोंकी शिक्षाका विधान करेंगे तब वहाँ सब जातियोंके लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम बनाना असंभव हो जायगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक युगके कुछ अपने संस्कार होते हैं जिन्हें उस युगके व्यक्ति अपने अतीतके साँचेमें ढालकर ऐसा बना देते हैं कि वह अपनी परंपरासे अविच्छिन्न रहता हुआ युगधर्मसे सामंजस्य स्थापित कर ले! इस संस्कारके लिये यह सचमुच आवश्यक है कि हम अपने बालकोंको प्राचीन साहित्यिक और सांस्कृतिक ग्रन्थोंका अध्ययन करावें। इसके अतिरिक्त जहाँतक सार्वभौम नैतिकता, सदाचार और पारस्परिक सद्भावनाकी बात है वह तो सब देशों और सब कालोंके लिये एक समान है। अतः उसके लिये प्रत्येक जातिके अनुकूल अलग-अलग शिक्षा-व्यवस्था करना उचित नहीं है। हरबार्टका यह कहना अत्यंत असंगत और निरर्थक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके क्रममें अपने जातीय विकासकी पुनरावृत्ति करता है। योरोपीय संस्कृतिके विकासका इतिहास यदि हम अपना सहायक मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि बालक प्रारम्भमें अत्यंत मूढ़ और जंगली होता है और निरंतर अनुभव तथा ज्ञानसे योरोपकी सभ्यताके अनुसार समुन्नत होता चलता है। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिता और कुलके संस्कारका बालकके जीवनमें कोई महत्त्व नहीं है। भारतकी दृष्टिसे तो यह सिद्धांत अत्यंत निर्मूल

है क्योंकि हमारे यहाँ तो मानवी सृष्टिका विकास उन प्रजापतियोंसे हुआ जिनकी मानसी सृष्टि हुई थी। यदि हम अपनी संस्कृतिके विकास-क्रमको देखें तो वैदिक कालमें हमारा आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास जितना हो चुका था उसकी अपेक्षा तो उसके परवर्त्तीकालमें अबतक हमारी अवनति ही हुई है, उन्नति नहीं। तो क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि अपनी संस्कृतिके विकास-क्रमके अनुसार हम ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे हैं, त्यों-त्यों हम मूर्ख होते जा रहे हैं। वास्तवमें हरबार्टका यह संस्कारावृत्तिवाला सिद्धांत अत्यंत अस्पष्ट, भ्रामक और अमान्य है। हरबार्ट स्वयं उसका भलीभाँति निरूपण नहीं कर सका और त्सिल्लेरने भी जिस प्रकार उसकी व्याख्या की वह भी बहुत बुद्धिसंगत, तर्कसंगत और बोधगम्य नहीं है।

किन्तु हरबार्टने विषयोंकी पारस्परिक प्रतिसंबद्धताका जो सिद्धांत स्थिर किया है वह अवश्य विचारणीय है। इस सिद्धांतसे उसका तात्पर्य यह है कि छात्रोंको जो विभिन्न विषय पढ़ाए जायँ उन्हें इस प्रकार परस्पर संबद्ध करके पढ़ाया जाय कि छात्रोंके मनपर उनके संयुक्त रूपकी ही छाप पड़े, जैसे, इतिहास पढ़ाते समय उसे भूगोल, साहित्य आदि विषयोंसे इस प्रकार संबद्ध कर दे कि छात्रोंको इतिहासके साथ-साथ भूगोल और साहित्यमें भी रुचि हो और उन्हें इस प्रकारके सह-संबंधसे इतिहासका भी सांगोपांग ज्ञान हो जाय।

एकाग्रीकरण या कन्सैन्ट्रेशनका अर्थ यह है कि किसी एक विषयको ही शिक्षाका केन्द्र बनाकर अन्य सब विषय उसीके आधारपर सिखाए जायँ। उदाहरणके लिये जब हम चौथी कक्षाके बच्चेको गांधीजीका पाठ पढ़ाएँ तो उसके साथ गाँधीजीका चित्र बनाने, कातने, बुनने, भारतका इतिहास जानने आदि अनेक विषयोंकी शिक्षा दे सकें। इससे एक तो लाभ यह होता है कि बालकमें बहुमुखी रुचि उत्पन्न होती है, क्योंकि जब वह देखता है कि कोई दूसरा विषय उसके प्रिय विषयसे संबद्ध

हैं तो वह दूसरे विषयमें भी रस लेने लगता है और उस एक मूल विषयसे जितने भी अधिक विषय संबद्ध होंगे उतनी ही बहुमुखी रुचि छात्रोंकी होगी। दूसरी बात यह है कि उससे बालकके मानसिक जीवनमें एकता और संगति उत्पन्न होगी। पर इस एकाग्रीकरणका सबसे बड़ा दोष यह भी है कि एक ही विषयको सब विषयोंका केन्द्र बनानेसे अन्य विषयोंकी शिक्षा प्रायः अस्वभाविक रूपसे संबद्ध करनी पड़ती है और शिक्षण-प्रणाली भी नीरस हो जाती है।

शिक्षा-विषयोंके विस्तृत क्षेत्रोंपर अधिकार करनेके लिये और उन्हें एक विशिष्ट क्रमसे परस्पर संबद्ध करनेके लिये जो उसने पंचपदीय-विधि निकाली उसके लिये उसने सिद्धांत बनाया 'धारणा और मनन' (ऐब्सौर्प्शन ऐंड रिफ्लैक्शन)। उसका कहना है कि प्रत्येक नये ज्ञानका संचय और ग्रहण करनेके लिये इस दुहरी मानसिक क्रियाकी आवश्यकता होती है और इन दोनों क्रियाओंके क्रमशः आने-जानेको प्रायः 'मस्तिष्ककी श्वास-क्रिया' भी कहते हैं। धारणाका अर्थ है मस्तिष्कको नये विचार और सत्य विवरण प्राप्त करने और उनपर मनन करने योग्य बनाना। धारणा-द्वारा प्राप्त किए हुए अनेक प्रकारके ज्ञानोंमें अनुकूलता उत्पन्न करते हुए उन्हें एक रूप दे देना मनन कहलाता है। इसी सिद्धांतके आधारपर हरबार्टकी 'नियमित पंचपदी' (फौर्मल फाइव स्टेप्स) का निर्माण हुआ है।

यह नियमित पंचपदीय-विधि प्रारम्भिक शिक्षण-संस्कारके लिये तो उचित कही जा सकती है किन्तु व्यावहारिक शिक्षणमें उसका प्रयोग अत्यन्त निरर्थक हो जाता है क्योंकि प्रत्येक छात्र नियमित विद्यालयमें आगेके पाठसे और उस पाठके विभिन्न अंगोंकी प्रकृतिसे भलीभाँति परिचित रहता है। अतः इस नियमित पंचपदीय विधिके प्रारम्भिक शिक्षण, पद अर्थात् प्रस्तावना, उद्देश्य-कथन तथा वस्तुप्रस्थापनकी तो आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शिक्षणके नित्य कार्यकी अधिकतासे और उचित

सहायक सामग्री तथा पुस्तकोंके अभावमें कोष, तुलना तथा आत्मीकरणकी विभिन्न विधियोंका भी निर्वाह नहीं हो पाता और इसके अंतिम पद—'प्रयोग'की तो शिक्षण-पीठों (ट्रेनिंग कालेजों) में भयंकर दुर्दशा होती है। पूर्णतः नये पाठके सम्बन्धमें तो हरबार्टकी पंचपद्धीय विधि निश्चित रूपसे सहायक हो सकती है किन्तु नित्यके पाठ-शिक्षणके लिये उसका प्रयोग करना केवल समय और शक्तिकी नियमित हत्या करना और अध्यापकोंकी मौलिक शिक्षण-पद्धतिके प्रयोगमें बाधा पहुँचाना है।

हरबार्टने जहाँ एक ओर प्रतिसंबद्धता अर्थात् पाठ्यविषयोंको परस्पर संबद्ध करनेका सिद्धांत प्रतिपादित किया वहाँ उसने छात्रोंकी स्वाभाविक स्फूर्ति तथा उनकी स्वतःप्रेरित कर्मठताको उत्तेजित करनेका कोई साधन या उपाय नहीं सुझाया। परिणाम यह हुआ कि बालकोंमें न तो जीवनको सुसंस्कृत, सुन्दर तथा उदात्त बननेकी प्रेरणाका कोई संस्कार रह गया, न अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाको पुष्ट, सिद्ध तथा तृप्त करनेका ही किसी प्रकारका प्रोत्साहन मिला। दार्शनिक होनेपर भी उसने न जाने यह कैसे समझ लिया कि बालकका मस्तिष्क नितान्त शून्य होता है और केवल शिक्षाके द्वारा ही मस्तिष्क समृद्ध तथा शिक्षित हो पाता है। अपनी इस धारणाके कारण उसने कुल-संस्कार तथा संगति-संस्कार दोनोंकी एक साथ उपेक्षा करके अत्यंत साधारण शिक्षा-सिद्धांत तथा मानव अनु-भूतिका विरोध स्थापित कर दिया। हरबार्टने बालकमें सद्वृत्ति, सत्यशीलता, आचारशीलता, जीवन-सौन्दर्य और आध्यात्मिक नैतिकता अथवा धार्मिकताकी निष्ठा उत्पन्न कराने और उसे पुष्ट करनेका संकल्प तो किया किन्तु यह नहीं निर्देश किया कि इतनी उदात्त भावनाओंकी परिपुष्टि और उनका शिवसंकल्प किन अनुकूल तथा रुचिकर प्रयोगोंसे सिद्ध हो सकता है। हरबार्टने ज्ञानवितरणको इतना अनावश्यक महत्त्व दे डाला कि बालकोंके कोमल मनकी कोमल वृत्तियोंको उकसाने और बढ़ानेके साधनोंकी उसने कल्पनातक नहीं की। परिणाम

यह हुआ कि शिक्षाके सम्बन्धमें उसका सम्पूर्ण प्रयास केवल दार्शनिक और बौद्धिक रह गया जिससे उसका व्यावहारिक पक्ष इतना नीरस और अप्रिय हो गया कि सर्वसाधारणके मानसको प्रभावित और संतुष्ट करनेका सामर्थ्य उसमें नहीं रह पाया। फिर भी उसने अपने पूर्ववर्ती शिक्षा-शास्त्रियोंके काल्पनिक शिक्षानिर्देशोंका दार्शनिक दृष्टिसे परीक्षण करके जो सिद्धान्त स्थापित किए उनका प्रभाव परवर्त्ती शिक्षा-शास्त्रियोंके विचारोंपर इतना पड़ा कि उनमेंसे प्रायः प्रत्येकने हरबार्टके शिक्षण-सिद्धान्तोंको वेदवाक्य मानकर स्वीकार कर लिया और अपने सभी प्रयोग हरबार्टके शिक्षा-दर्शनकी छायामें पल्लवित और पुष्पित किए। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, योरोपके सभी शिक्षण-पीठों (ट्रेनिंग कालेजों) में विशेषतः येना, लीपत्सिग और हाल विश्वविद्यालयोंमें हरबार्टकी शिक्षा-विधिका ही प्रयोग होने लगा।

सुइस्कोन त्सिल्लर (१८१७–१८४२)

हरबार्टकी मृत्युके लगभग पच्चीस वर्ष पीछे हरबार्टवादियोंके दो समवर्त्ती विद्यालय खुले। स्टौयने अपने विद्यालयमें हरबार्टके सिद्धान्त ज्योंके त्यों प्रयुक्त किए किन्तु सुइस्कोन त्सिल्लेरने उनमें आवश्यक सुधार करके लीपत्सिगमें उनका व्यवस्थित प्रचार किया। त्सिल्लेरने ही प्रतिसम्बद्धता और एकाग्रीकरण (कौरिलेशन ऐण्ड कन्सन्ट्रेशन) के सिद्धान्तोंको व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया और उसीने संस्कारावृत्ति (कल्चर ईपौक) के सिद्धान्तका भी स्वरूप स्थिर किया। वह लिखता है कि 'प्रत्येक छात्रको अपने विकासकी अवस्थाके अनुकूल, मानव-समाजके साधारण मानसिक विकासके प्रत्येक विशिष्ट युगमेंसे होकर निकलना चाहिए। इसलिये बालककी शिक्षाकी सामग्री जातीय संस्कृतिके ऐतिहासिक विकासकी उस अवस्थाकी विचार-सामग्रीसे लेनी चाहिए जो छात्रकी वर्तमान मानसिक अवस्थाके समभाव हो।' इसका अर्थ यह है कि यदि बालक कुमार अवस्थामें हो तो उसे मानवीय विकासके कुमार-

युगकी सामग्री पढ़नेको देनी चाहिए और यदि वह युवक है तो उसे मानव-सभ्यता और संस्कृतिके विकासके युवाकालीन युगका इतिहास और उस युगकी विचारधारा पढ़नेको देनी चाहिए। ज़्सिल्लेरने इन सिद्धान्तोंके अनुसार प्रारम्भिक पाठशालाओंका आठ वर्षोंका एक पाठ्य-क्रम ही बना डाला था। यह हम ऊपर ही कह आए हैं कि उसीने हरबार्ट-द्वारा निर्धारित शिक्षा पंचपदीके प्रथम पदको दो भागोंमें विभाजित किया और अन्तिम पदको बदल दिया था।

कार्ल फ़ोल्क मार्क स्टौय (१८१५-८५)

हरबार्टका दूसरा शिष्य था स्टौय जिसने शुद्ध रूपसे हरबार्टके सिद्धांतोंका प्रयोग किया और येनामें एक पाठशाला और शिक्षणाभ्यास-विद्यालय भी खोल दिया। इसीके विद्यालयमें आचार्य रैन भी स्टौयके प्रयोगोंका प्रचार करने लगे।

हरबार्टके इन सुधरे हुए सिद्धान्तोंका बड़ा प्रचार हुआ और जर्मनीके अतिरिक्त योरोप तथा अमेरिकाके अन्य देशोंमें भी ये अधिक लोकप्रिय हुए।

७

फ्रोबेलका बालोद्यान (किंडरगार्टेन)

पैस्टालौजीके शिष्योंकी चर्चा करते हुए हमने हरबार्टके साथ फ्रोबेलका भी नाम लिया था जिसने अपने गुरु पैस्टालौज़ीके 'स्वाभाविक विकास'के सिद्धान्तको विस्तृत रूपसे समुन्नत किया।

फ्रीडरिख़ विलहेम आउगुस्ट फ्रोबेल (१७८२ से १८५२) का जन्म थूरिंगी जंगलके ओबेड्वोइसबाख़ नामक गाँवमें हुआ था। उसके पिता ल्यूथरी मतके पादरी थे किन्तु फ्रोबेलकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर उनका कम ध्यान था। उसकी सौतेली माँ भी फ्रोबेलकी शिक्षाके लिये समय नहीं दे पाई। अतः फ्रोबेल स्वयं अपने ही घरमें उपेक्षित रहा पर घरके धार्मिक वातावरणका उसपर गहरा प्रभाव पड़ा। माता-पिताकी इस उपेक्षाके कारण फ्रोबेल दिन-रात घने जंगलोंमें घूमने तथा जंगली पशु-पक्षियों, पेड़ पौधों, फल-फूलों और विभिन्न प्राकृतिक दृश्योंके निरीक्षणमें समय बिताने लगा। इससे उसने अनुभव किया कि प्रकृतिके सभी पदार्थ एक दूसरेसे संबद्ध हैं और सबमें एक व्यापक अभिन्नता और आत्मीयता विद्यमान है।

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वह एक वनरक्षकके पास काम सीखनेके लिये भेज दिया गया, जहाँ उसे ठीक प्रकारकी नियमित शिक्षा तो नहीं मिल पाई, किन्तु उसने वहाँ प्रकृतिके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करके वनस्पति तथा वनसे व्यावहारिक परिचय भी बढ़ा लिया। अन्तमें उसने येना विश्वविद्यालयमें नाम लिखा लिया। वहाँका वायुमण्डल आदर्शवादी दर्शन, कल्पनावादी आंदोलन और प्रगतिवादी विज्ञानसे ओत-प्रोत था। उन दिनों फ़िख़्टे और उसके शिष्य

और साथी शेलिंगके नवीन दर्शनकी धूम थी अतः फ्रोबेल भी फिख्टीय दर्शनसे प्रभावित हो चला। इसके अतिरिक्त इसपर श्लेगेल-पंथियोंकी, प्रसिद्ध कवि गेटे और शिलेरकी तथा वहाँके वैज्ञानिक वातावरणकी छाप उसपर अवश्य पड़ी होगी। दुर्भाग्यवश आर्थिक संकटके कारण उसे घर लौट जाना पड़ा।

येना छोड़नेके पश्चात् चार वर्षतक वह जीविकाके लिये इधर-उधर भटकता फिरा। संयोगसे सन् १८०५ में फ्रांकफ्रोर्टमें वास्तुकलाका अध्ययन करते समय पैस्टालौज़ियन मौडेल स्कूलके आचार्य आन्टोन ग्रूनरसे उसकी भेंट हो गई जिन्होंने उसे अपने विद्यालयमें नियुक्त कर लिया। वहाँ उसने पैस्टालौज़ीके सिद्धांतोंका अध्ययन करके अपने सिद्धांतों प्रयोग आरंभ कर दिया। यहाँकी हस्तकौशलकी शिक्षा देखकर वह इस परिणामपर पहुँचा कि बालकोंको रचनात्मक अभिव्यक्तिके अवसर देनेसे शिक्षा महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

वहाँ तीन वर्ष रहकर वह ईवरडून चला गया। वहाँ उसे अनुभव हुआ कि बच्चोंकी बौद्धिक और शारीरिक उन्नतिमें बच्चोंके खेलका बड़ा प्रभाव पड़ता है और बालककी प्रारम्भिक शिक्षा माताके द्वारा ही दी जानी चाहिए। उसने यथाशीघ्र फ्रांकफ्रोर्टका काम छोड़कर पैस्टालौज़ीकी प्रणालीमें जो अव्यवस्था, अनैक्य, विषयोंकी असंबद्धता और शिक्षण-विधिकी अनियमितता देखी उससे अपनी शिक्षा-प्रणालीको बचानेके लिये वह अध्ययनार्थ सन् १८११ में ग्वेटिंगेन गया किन्तु अगले ही वर्ष धातुशास्त्रके आचार्य वोइससे प्रभावित होकर वह बर्लिन विश्वविद्यालयमें चला गया जहाँ उसे विश्वास हो गया कि सृष्टिके सब पदार्थोंमें परस्पर संबंध अवश्य है।

एक वर्षके लिये वह नैपोलियनके विरुद्ध प्रशियाई सेनामें भी रहा जहाँ लांगेथाल और मिडेनडौर्फ़से उसकी मित्रता हो गई। वहाँसे वह फिर बर्लिन लौट आया। सन् १८१६ में अपने शिक्षाके सिद्धांतोंका प्रत्यक्ष

प्रयोग करनेके लिये उसने अपने पाँच छोटे-छोटे भतीजोंको शिक्षा देनेका भार ले लिया और अपने मित्र मिडेनडौफ़ और लांगेथौनके साथ कोइलहाउमें शिक्षाका सार्वभौम जर्मन विद्यालय खोल दिया जिसका उद्देश्य यह था कि जिन विषयोंका परस्पर एक दूसरेसे तथा जीवनसे भली प्रकार संबंध समझा जा चुका है उन विषयोंमें छात्रोंकी स्वतः क्रियाके अभ्यास-द्वारा उनकी सब शक्तियोंका एक साथ समान रूपसे संवर्धन कराया जाय। आत्माभिव्यक्ति, स्वतःविकास और सामाजिक मेल-जोल ही इस विद्यालयके मूल सिद्धांत थे। खेलके द्वारा ही अधिकांश शिक्षा दी जाती थी। बालोद्यान (किंडेरगार्टन) की मूल भावना भी यहीं भासमान हुई। खुले वायुमें, विद्यालय-भवनके आसपासवाले उपवनमें और भुवनमें बहुत-सा रचनात्मक अथवा प्रयोगात्मक काम होने लगा। वहाँ बैठकर बच्चे नदियोंके बाँध, पनचक्की, दुर्ग, प्रासाद इत्यादि बनाते थे और जंगलमें जाकर पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े और फूल-पत्तियोंकी खोज करते थे। व्यावहारिक समस्याओंका समाधान करके वे रूप और संख्याका ज्ञान प्राप्त करते थे। कहानियों, गीतों और कड़खोंके द्वारा उनके लिये कल्पना तथा भावुकताका द्वार खोल दिया जाता था।

फ़्रोबेलने सन् १८२६ में अपने 'मनुष्यकी शिक्षा' नामक ग्रन्थमें अपने कोइलहाउके शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोगका सविस्तार वर्णन किया। किन्तु समय अनुकूल नहीं था। लोगोंको न जाने क्यों यह सन्देह होने लगा कि कहींसे उसमें समाजवादी प्रवृत्ति प्रविष्ट हो गई है। अतः सरकारकी ओरसे नियुक्त निरीक्षक-मण्डलने इस बातकी जाँच की किन्तु निरीक्षक महोदयने जाँच करके इस विद्यालयकी बड़ी प्रशंसा करते हुए लोगोंके सन्देहको निराधार बताया।

यह सब हो जानेपर भी लोकापवाद चलता रहा और फ़्रोबेलने समझ लिया कि यहाँ रहनेमें कल्याण नहीं है। अतः वह स्वित्सरलैंड चला गया और वहाँ पाँच वर्षतक (१८१२-१७) उसने विभिन्न

केन्द्रोंमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग किए । सहसा सन् १८३७ में बुर्गडोर्फ़का आदर्श विद्यालय चलाते हुए उसे यह बात सूझी कि बालकोंकी शिक्षा सुन्दर बनानेके लिये योग्य माताओंको शिक्षित करना आवश्यक है । खेलके द्वारा शिक्षा देनेकी बात भी उसके मनमें प्रबल होती जा रही थी, इसलिये उसने ऐसे खिलौनों, खेलों, गीतों और शारीरिक गतियोंका अध्ययन और निर्माण करना प्रारम्भ किया जो बालकोंकी उन्नतिमें सहायक हो सकें । दो वर्ष पश्चात् उसने जर्मनी लौटकर तीनसे सात वर्ष तकके बच्चोंके लिये ब्लांकेन्बुर्गमें एक शिशु-विद्यालय खोल दिया जिसका नाम रक्खा किंडेरगार्टेन (बालोद्यान या बच्चोंकी फुलवारी)

इस बालोद्यानकी पहले तो बड़ी धूम मची किन्तु आर्थिक कठिनाईके कारण सात वर्षमें यह विद्यालय बंद कर देना पड़ा । किन्तु अगले पाँच वर्षोंतक वह जर्मनीकी माताओं तथा महिला-शिक्षकोंको व्याख्यान देकर उसने सन् १८४९ में साक्से माइनिंगेनमें अपने प्रिय किंडेरगार्टेन विद्यालयकी स्थापना की । इसी बीच बारोनेस बैरथे फ़ौन मारेन्होल्सब्यूलो नामक महिलाने उस विद्यालयमें रुचि दिखाकर बड़े-बड़े लोगोंको उसका विद्यालय दिखाया और फिर प्रयत्न करके मारिएन्थाल राजकी सुन्दर भूमिमें उसके विद्यालयकी स्थापना करा दी । फ्रोबेलकी मृत्युके पश्चात् उस देवीने योरोप भरमें उसके सिद्धांतका व्यापक प्रचार किया । यद्यपि उसके अन्तिम दिन बड़े हर्षमय और सफल थे किन्तु सन् १८५१ में लोगोंने उसके सिद्धांतोंको और उसके भतीजे कार्ल मार्क्सके समाजवादी सिद्धांतोंको एक समझ लिया जिससे इतना भ्रम फैल गया कि प्रशियाके शिक्षा-मन्त्रीने आदेश निकालकर सभी किंडेरगार्टेन विद्यालय बंद करा दिए । इस अन्यायपूर्ण अपमानका उसे इतना गहरा धक्का लगा कि एक वर्षके भीतर ही वह संसारसे चल बसा ।

वह मानता था कि मानव तथा शेष प्रकृति दोनोंका चेतन कारण

'पूर्ण' अर्थात् ईश्वर है इसीलिये वह सृष्टि और जीवात्मामें अभेद सम्बन्ध समझता था। सब पदार्थोंकी दैवी एकतामें अखण्ड विश्वास रखते हुए भी वह मानता था कि प्रत्येक मनुष्यमें मानवता होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष, निराले ढंगसे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है। प्रत्येक प्राणीमें जन्मके समय उसके चरित्रकी सुसंबद्ध योजना विद्यमान रहती है जो यदि बीचमें कुण्ठित न की जाय तो वह स्वतः सहज रूपसे विकसित होती रहेगी। यद्यपि फ्रोबेल इस सिद्धान्तपर आद्यन्त स्थिर नहीं रहा किन्तु मुख्य रूपसे वह रूसोके सिद्धान्तका समर्थन करता है कि 'प्रकृति ही ठीक है' और इसीलिये उसका आग्रह है कि 'जो बात सिखानी या अभ्यस्त करानी हो उसकी शिक्षा आवश्यक रूपसे निर्बाध तथा सक्रम हो, सुझाई हुई, बताई हुई या बाधित न हो।' विकासकी इस उचित विधिका निर्देश करते हुए वह कहता है कि 'यह विकास अन्धानुकरणके बदले सजीव, आत्म-प्रेरित स्वतःक्रिया द्वारा होना चाहिए।'

'स्वतःक्रिया' और 'रचनात्मिकता' (क्रिएटिवनस्) वाला क्रियात्मक अभिव्यक्तिका मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ही फ्रौबेलकी शिक्षा-प्रणालीका मूल आधार है किन्तु वह सामाजिक पक्षको भी कम महत्त्वका नहीं समझता। उसका स्पष्ट मत है कि स्वतःक्रिया-द्वारा जो आत्मानुभूति या व्यक्ति-निर्मिति संवर्द्धित होती है वह सामाजिकताके द्वारा ही होनी चाहिए। वास्तविक शिक्षा मनुष्योंमें रहकर ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि मनुष्यको पढ़-लिखकर सामाजिक जीवनमें ही प्रविष्ट होना पड़ेगा। इसी प्रकार खेल-कूदकी सामूहिक क्रियाओंसे उसे केवल शारीरिक स्फूर्ति ही नहीं प्राप्त होगी प्रत्युत बौद्धिक शिक्षा भी मिलेगी। उसके किंडरगार्टनका अर्थ ही यह था कि 'बच्चोंके लिये ऐसा 'छोटा-सा राज्य' स्थापित कर दिया जाय जिसमें वह शिशु-नागरिक अपने अन्य साथियोंकी सुविधाका ध्यान रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ विचरण करना सीखे।'

जिसमें न तो पुस्तक हों और न बँधे हुए बौद्धिक पाठ ही हों प्रत्युत आद्यन्त खेल-कूद, स्वतन्त्र विचरण और उल्लास भरा हो। इस पद्धतिमें अभिव्यक्तिके तीन परस्पर-संबद्ध रूप हैं—(१) गीत, (२) गति तथा (३) रचना।

शिशु के अंगों, इन्द्रियों और पुट्ठोंको सक्रिय तथा स्फूर्तिमान करनेके लिये फ्रोबेलने पचास खेल-गीत' निकाले हैं जो किसी बढ़ई, लुहार आदिके व्यवसायसे और बालककी किसी विशेष शारीरिक, मानसिक या नैतिक आवश्यकतासे मेल खाते हैं। प्रत्येक गीतमें तीन भाग हैं, (१) माताके निदर्शनके लिये कोई उद्देश्य-वाक्य, (२) बालकको सुनानेके लिये संगीतयुक्त पद्य और (३) पद्यका भाव अभिव्यक्त करनेवाला चित्र।

फ्रोबेलके 'उपहारों' (गिफ़्ट्स) और 'व्यापारों' (ओकुपेशन्स) का वास्तविक उद्देश्य है बालकोंकी क्रियात्मक अभिव्यक्तिको प्रोत्साहन देना। दोनोंमें अन्तर यह है कि 'उपहारों-द्वारा' तो बिना उनका आकार बदले ही कुछ निश्चित सामग्रीको मिलाने और पुनः क्रमबद्ध करनेकी क्रिया हो सकती है किन्तु 'व्यापारों'-द्वारा सामग्रियोंका आकार बदलने, सुधारने और दूसरा रूप देनेकी क्रिया भी हो सकती है। अतः आजकल उपहारोंके बदले 'व्यापारों' को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और उनकी संख्या तथा परिधि बहुत बढ़ा दी गई है। 'व्यापारों' के अन्तर्गत कागज, बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य लुजलुजी सामग्रियोंसे विभिन्न वस्तु निर्माण करनेके कर्म्मोंकी एक लम्बी सूची है।

फ्रोबेलने जहाँ स्वतन्त्रताकी इतनी दुहाई दी है वहाँ निश्चित 'उपहारों' और 'व्यापारों'में लाकर शिक्षाको ऐसा बाँध दिया कि वह शिक्षा न होकर क्रीड़ा-मात्र बन गई। प्रायः बहुतसे शिक्षाशास्त्री यह समझनेकी भूल करते रहते हैं कि बालक खेलसे अपने-आप शिक्षा ग्रहण करता है किन्तु वे यह समझनेका कष्ट नहीं करते कि बालक खेलको खेल ही समझते हैं और उसके भीतरकी प्रत्येक साभिप्राय क्रियाको भी वे

खेलकी भाँति अगम्भीर ही समझते हैं। फ्रोबेलने इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि बालक अपने घरेलू रहन-सहनमें अनेक प्रकारकी आकृतियों, रंगों, रूपों और पदार्थोंसे परिचित होता चलता है। अतः उसका इन्द्रियज्ञान इतना जड़ नहीं होता कि केवल उपहारोंसे ही उसकी इन्द्रियों और अंगोंका विकास हो। और फिर जीवनमें खेलका एक विशेष प्रयोजन होता है—मनको गम्भीर बातोंसे हटाना और इस प्रकार उसपर पड़े हुए चिन्तन, मनन, एकाग्र-बन्धनके भारसे मुक्त करके उसके तनाव और खिंचावको ढीला कर देना, जिससे उसकी गम्भीरतासे शरीरपर पड़नेवाला कुप्रभाव दूर हो सके और मनकी स्वतन्त्रता तथा उसके उल्लाससे शरीरकी अन्य इन्द्रियाँ भी सक्रिय, चेतन तथा स्वस्थ रह सकें। अतः खेलको जिन शिक्षा-शास्त्रियोंने शिक्षाका साधन बनानेकी बात कही है उन्होंने मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञानसे नितान्त भिन्न बात कहकर बालकके मानसको खेल-द्वारा स्वतन्त्र तथा उल्लसित करनेके बदले उसे नियन्त्रित तथा नीरस बनानेका उपाय सुझाया है।

फ्रोबेलने अपने लेखोंमें विश्वव्यापी पारस्परिक अभिन्नताकी बात कही है। वह अनेक पदार्थोंको सत् मानता हुआ सबमें अखंड अभिन्नताकी कल्पना करता है। यदि यह बात थी तो संसारके सब पदार्थोंमें मौलिक तथा अखण्ड अभिन्नता और एकताकी कल्पना करनेवाला व्यक्ति रूसोके समान ही बालकके लिये प्रकृतिके द्वार खोल देता, वह ज्ञान-तन्तुओंके संक्रम विकासके लिये जड़ उपहारों और व्यापारोंका सर्जन न करता।

स्वतःक्रिया या स्वयं-शिक्षाका सिद्धान्त भी कुछ ऐसी ही कल्पनाका परिणाम है। तो होगा यही कि बारोनेस बैरथेने स्पष्ट लिखा है कि फ्रोबेल अपने सब छात्रोंकी प्रत्येक क्रियाकी बड़ी सावधानीसे परीक्षा करता रहता था और जहाँ तनिक भी शिथिलता या अव्यवस्था दिखाई देती थी वहाँ आवश्यक निर्देश, सुधार और समाधान करता चलता

था। यदि निर्देश, सुधार और समाधानकी आवश्यकता बनी ही रह गई तो वह प्रणाली स्वतःक्रिया कहाँतक बनी रह सकती है।'

किन्तु फ्रोबेलने अपनी शिक्षा-पद्धतिमें समाजकी उपेक्षा नहीं की। सम्भवतः इसी कारण फ्रोबेल अपने पूर्ववर्त्ती शिक्षाचार्योंकी अपेक्षा कहीं अधिक सफल और लोकप्रिय हो पाया।

फ्रोबेलने भी शिक्षाके व्यापक महत्त्वकी उपेक्षा करके अध्यापककी महत्ताका तिरस्कार किया। उसने भी रँगी हुई गेंदें, लकड़ीके भिन्न आकारके टुकड़े, कुछ गिने-चुने गीत तथा काग़ज़, मिट्टी और लकड़ीकी मूर्त्तियोंको मनुष्यके भावी ज्ञानका आधार समझ लिया। यही कारण है कि फ्रोबेलने मानवके दैवी तत्त्वको उद्दीप्त करनेके आधार—अध्यापकको, परित्यक्त करके अपना पक्ष शिथिल कर दिया। इतना होनेपर भी फ्रोबेलने पाठशालाओंकी नीरसता तथा अध्यापकोंके कठोर दण्डविधानमें अभूतपूर्व परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। किन्तु लकड़ी और मिट्टीसे खेलनेवाले बालक वह तेज नहीं प्राप्त कर सकते जो चरित्र और विद्याका तेज प्राप्त किए हुए अध्यापकके सम्पर्कसे प्राप्त होता है।

८ X

शिक्षामें लोकवाद और विज्ञान

हरबर्ट स्पेन्सर और हक्सले

पिछली दो शताब्दियोंमें विज्ञानने अत्यन्त द्रुत गतिसे उन्नति की। जनताका आग्रह हुआ कि जहाँ पाठन-विधिको मनोवैज्ञानिक बनाना आवश्यक है, वहाँ पाठन-विषयोंमें परिवर्तन और अभिवर्धन करके विज्ञान भी जोड़ देना चाहिए। अतः जौर्ज कौम्बेके नेतृत्वमें शिक्षाको व्यावहारिक और अर्थंकरी बनानेका आन्दोलन चला। किन्तु तत्कालीन विद्यालयोंने उसका विरोध किया क्योंकि अपनी परम्परागत सुस्थिर परिपाटीमें वे किसी प्रकारका परिवर्तन करनेके लिये सहमत नहीं हुए।

किन्तु विज्ञानवादी लोग प्राचीन विषयों—भाषा, व्याकरण, गणितको—हटाना नहीं चाहते थे। वे तो नये व्यावहारिक विषय जोड़ना चाहते थे। इन व्यावहारिक शिक्षा-शास्त्रियोंमें प्रमुख था हरबर्ट स्पेन्सर।

हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३)

हरबर्ट स्पेन्सरका जन्म डरबी नगरके शिक्षित परिवारमें हुआ था। उसके पिताने स्पेन्सरको घरपर ही शिक्षा दी। अत, बचपनसे ही उसे साहित्य तथा विज्ञानका समन्वित संस्कार प्राप्त हुआ। सत्रह वर्षकी अवस्थामें ही उसने अनेक विद्याओं और विषयोंका बहुमुखी ज्ञान संचित कर लिया। लगभग बाईस वर्षकी अवस्थासे ही वह सामाजिक और आर्थिक विषयोंपर लेख लिखने लगा और सन् १८४८ में अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें "दि इकोनोमिस्ट" पत्रका सहायक सम्पादक बना दिया गया। किन्तु दस वर्ष पश्चात् वह स्वतन्त्र पत्रकार और लेखक बन

गया। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमेंसे 'एजुकेशन' (शिक्षा) नामक ग्रन्थमें पहली बार वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंगसे बालककी शिक्षाके सब पक्षोंका विस्तारसे विवेचन किया।

स्पेन्सरके अनुसार 'बालकको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह स्वयं अपनेको शिक्षित करता चल सके और जीवनको पूर्ण सफल बना सके। यह सफलता विज्ञानके अध्ययनके द्वारा ही संभव है।' स्पेन्सरका विश्वास है कि 'केवल पाँच प्रकारके कार्य ही मनुष्य करता है और उन पाँचों प्रकारके कार्योंमें केवल विज्ञान ही उसका सहायक हो सकता है।' स्पेन्सरके अनुसार वे पाँच कार्य ये हैं—

१—वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूपसे अपने प्राणोंकी रक्षा करता या कर सकता है।

२—वे कार्य, जो अनजानमें या अप्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यकी रक्षामें सहायता देते हैं।

३—वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी संतानको पालता-पोसता और शिक्षा देता है।

४—वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य अपने समाज और राष्ट्रकी उचित व्यवस्था करता है।

५—वे कार्य, जिनसे मनुष्यका मनोरंजन होता है।

उसका यह भी मत है मानव-जीवनको सम्पन्न और उदात्त बनानेके लिये इतिहास आवश्यक है क्योंकि मनुष्य उसीके विचारों और कार्योंसे प्रभावित होता है जिसमें उसकी श्रद्धा और निष्ठा हो। इतिहासमें सहसा उसे एक साथ श्रद्धाके सब आलम्बन एकत्र मिल जाते हैं जिससे उसे अपना संस्कार ठीक करने और आदर्श ढूँढ़नेमें बड़ी सुगमता होती है। वह कहता है कि अवकाशमें चित्र, संगीत, मूर्त्तिकला तथा प्रकृति-दर्शनके लिये छात्रोंको प्रेरणा देनी चाहिए।

उसने अध्यापकोंके लिये कुछ मोटे-मोटे गुर (मैक्सिम्स) बना दिए थे—१. सरलसे कठिनकी ओर चलो। २. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो। ३. निश्चतसे अनिश्चितकी ओर चलो। ४. प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष या भावात्मकताकी ओर चलो। ५. संसारने जिस क्रमसे शिक्षा पाकर सभ्यताका विकास किया है उस क्रमसे बालककी शिक्षा हो (संस्कारावृतिका सिद्धान्त)। ६. प्रयोगात्मक या अनुभवात्मक ज्ञानसे युक्तियुक्त ज्ञानकी ओर बढ़ो। ७. बालकको स्वतः प्रयोग करके परिणाम निकालनेको उत्साहित करो। ८. पढ़ानेका ढंग रुचिकर हो। ९. बालकको नैतिक शिक्षा देनेके लिये माता-पिता सत्यशील, निष्कपट, स्वच्छ और नियमित हों और बालकोंसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करें। १०. बालकको अस्वाभाविक दण्ड न दिया जाय। ११ दण्ड-विधान ऐसा स्वाभाविक हो जिससे छात्र अपराधके परिणामसे उत्पन्न असुविधाका अनुभव करें। १२. साथ ही बालकके स्वास्थ्य पर शिक्षाकी अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाय।

स्पेन्सरके शिक्षा-शिद्धान्तोंका विश्लेषण

१. स्पेन्सरने केवल विज्ञानकी प्रशंसाके गीत गाए और संसारकी समस्त विद्याओं और कलाओंमें केवल विज्ञानको ही सर्वश्रेष्ठ ठहराया। २. स्पेन्सरने सीधे पाठ्य विषयपर ही आक्रमण किया और उसमें ऐसे विचित्र परिवर्त्तन सुझाए जो सहसा मान्य नहीं हो सकते थे क्योंकि अन्य सब विषय गौण करके केवल विज्ञान ही पढ़ाना सम्भव नहीं था। ३. उसने न भाषाका व्यावहारिक महत्त्व समझा न अन्य विषयोंका सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व, इसीलिये पीछेके आचार्यों तथा तत्कालीन शिक्षा-शास्त्रियोंने उसे नहीं माना। ४. बहुतसे लोग स्पेन्सरको उपयोगितावादी (यूटिलिटेरियन) मानते हैं किन्तु वास्तवमें वह शुद्ध विज्ञानवादी था और उसने अपने मतको अधिक तर्कसिद्ध करनेका जो प्रयास किया है वह केवल पांडित्य-प्रदर्शन-मात्र है।

हक्सले

हरबर्ट स्पेन्सरका सबसे बड़ा समर्थक था टौमस एच्० हक्सले (१८२५-१८९५)। उसमें अपनी मौलिकता नहीं थी। उसने तो केवल स्पेन्सरके विचारोंको अपने परिश्रमसे व्यवहार्य बनाया और पाठ्य-विषयोंमें विज्ञानका प्रवेश कराया।

हक्सलेके उद्योगसे विश्वविद्यालय, माध्यमिक विद्यालय तथा प्रारंभिक विद्यालयोंके पाठ्य-विषयोंमें विज्ञान भी जोड़ लिया गया, पाठ्यक्रमके विभिन्न विषयोंके अन्तर्योगका प्रचलन चल पड़ा और शिक्षा कुछ अधिक व्यावहारिक बनाई जाने लगी। इस वैज्ञानिक आन्दोलनका सम्बन्ध तत्कालीन मनोवैज्ञानिक तथा समाजवादी आन्दोलनसे भी था क्योंकि ये लोग व्यावसायिक संस्थाओंको प्रोत्साहन देते थे और लोकतन्त्रवादी भावनाका प्रचार करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तिम भागमें योरोपमें माँग की जाने लगी कि पाठ्य-क्रममें व्यावसायिक शिक्षा भी सम्मिलित की जाय और कुशल कारीगर उत्पन्न किए जायँ जिससे अल्प अवस्थामें ही विद्यार्थियोंकी जीविका लग जाय और देशके लिये व्यावसायिक सामर्थ्य भी उत्पन्न किया जा सके।

फ्रांस-प्रशीय युद्धके पश्चात् जर्मनीने फ्रोर्टबिल्डुंगशूलेन (कन्टिनुएशन स्कूल या क्रमसाधक विद्यालय) में १८ वर्षकी अवस्थातक शिक्षा अनिवार्य कर दी जहाँ छात्रको अपनी शिक्षा चलाए रखनी पड़ती थी। प्रारंभमें तो वह पिछले विद्यालयके पढ़े हुए पाठकी आवृत्ति मात्र थी किन्तु पीछे वहाँ यांत्रिक शिक्षा भी दी जाने लगी और कन्याओंको भी गार्हस्थ्य और मातृत्वकी शिक्षा दी जाने लगी।

जर्मनीके व्यावसायिक विद्यालयोंकी देखादेखी यूरोपमें भी पूरे या अल्पकालीन व्यावसायिक विद्यालय खुले जिनका अन्तिम रूप बना कृषि-विद्यालय।

सेग्वीं-प्रणाली

इस व्यावसायिक शिक्षासे शंकित होकर कुछ लोगोंने नैतिक शिक्षाका आन्दोलन आरम्भ किया और अन्य व्यावसायिक तथा लौकिक शिक्षाके साथ धार्मिक शिक्षाकी भी व्यवस्था की। इस युगकी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति थी—मन्दबुद्धि बालकोंकी शिक्षा। सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकाके एडवर्ड सेग्विन (१८१२–१८८०) ने सन् १८३७ ई० में पैरिसमें जड़-बुद्धि बालकोंके लिये एक तर्क-संगत शिक्षा-प्रणाली निकाली, किन्तु कुछ कारणोंसे उसे अमेरिका चला जाना पड़ा जहाँ १८५० में उसने अपना विद्यालय प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रणाली यह थी कि स्पर्श, स्वाद, गंध, दृष्टि और श्रवण-शक्तिको साधकर विभिन्न अंगों और इन्द्रियोंके द्वारा मस्तिष्कको प्रभावित किया जाय। इसलिये चित्र, कार्ड, विभिन्न ढंगके साँचे, मूर्त्तियाँ, मोम, मिट्टी, कैंची, कम्पास (परकार) और पेंसिल ही उसकी शिक्षाके मुख्य उपादान बने। उसकी प्रणालीको देखकर लोगोंको यह विश्वास हो चला कि अब कोई जड़-बुद्धि रह ही नहीं जायगा। किन्तु जितना कहा जाता था उतना परिणाम सम्भव नहीं हुआ क्योंकि बुद्धू, जड़, ल्हूल और मूर्ख बालक एक विशेष सीमातक ही चेतन किए जा सकते हैं, उसके पार नहीं। इसके अतिरिक्त पागलों, अपराधियों, गूँगों और बहरोंके लिये भी व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली खोज निकाली गई।

उधर जौन ड्यूई और कर्नल पार्करने फ्रोबेलके प्रयोगोंको समुन्नत किया, उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक सहयोगकी भावनाका परिष्कार किया, शिक्षाके सिद्धान्त और प्रयोगका रूप स्थिर किया और एक प्रयोगात्मक विद्यालय खोला।

व्यावसायिक क्रान्ति और विज्ञानके प्रसारसे जीवनके आदर्श बदले, शिक्षाका उद्देश्य जीवनमें विभिन्न क्षेत्रोंके उपयुक्त नागरिक बनाना हो हो गया और शासनपर ही सबकी शिक्षाका भार आ गया। शिक्षामें

लोकहितवादका पूर्ण प्रवेश तो हुआ किन्तु आध्यात्मिक चिन्तनका लोप हो गया। 'ऊँची कक्षाके छात्र नीची कक्षाको पढ़ावें' इस शिष्याध्यापक-प्रणालीका प्रयोग एंड्रू बेलने और लंकास्टरने इंगलैंडमें किया।

पुतलीघरोंमें ओवेनने शिशु-पाठशालाएँ खोल दीं, जिनमें बच्चोंको खेलने और गाने-नाचनेकी शिक्षाके साथ नैतिक आचार-व्यवहारकी शिक्षा भी दी जाती थी। सबसे पहले जर्मनीमें राज्यने शिक्षाका प्रबन्ध हाथमें लेकर नियमावली बनाकर शिक्षाका प्रबन्ध किया। फ्रांसमें भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य हो गई। शिक्षा, शिक्षापीठ, और विश्वविद्यालय खोले गए। पादरियोंके हाथसे शिक्षा मुक्त हो गई। इंगलैंडमें भी पहले कुटुम्ब और गिरजाघरपर शिक्षाका भार था किन्तु पीछे शिक्षासमिति (बोर्ड ऑफ़ एजुकेशन) बनाया गया। एद्वार्द सेग्वींके प्रयोगसे मन्दबुद्धि बालकोंके लिये विद्यालय खोले गए जिनका अनुसरण अन्य देशोंने भी किया।

६

शिक्षामें प्रयोजनवाद (प्रैग्मैटिज़्म)

जौन ड्यूई और प्रयोग-प्रणाली

उन्नीसवीं शताब्दिके व्यावहारिक दार्शनिकोंमें अमेरिकाके आचार्य जौन ड्यूई विशेष वर्णनीय हैं जिन्होंने शिक्षाके सब पक्षोंके कारण परिस्थिति तथा परिणामके अनुसार उनका परीक्षण करना प्रारम्भ किया। इसीलिये ड्यूईको सब लोग प्रयोजनवादी या (प्रैग्मैटिस्ट) कहते हैं।

ड्यूईका जन्म अमेरिकामें सन् १८५९ में हुआ था। आज अमेरिकाकी शिक्षा-पद्धतिके सब अंगों और क्षेत्रोंपर ड्यूईके शिक्षा-सिद्धान्तका सबसे अधिक प्रभाव है। आजतकके शिक्षा-शास्त्रियोंका यही सिद्धान्त रहा है कि शिक्षाका उद्देश्य बालकके भावी जीवनके लिये सहायक होना है। ड्यूईने इस सिद्धान्तका खंडन करके यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा स्वयं ही जीवन है, वह जीवनके लिये तैयारी नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि बालक जब विद्यालयमें प्रवेश करता है उस समय भी उसकी अवस्थाके अनुरूप उसकी जो आवश्यकताएँ रहती हैं, उनकी उसी समय पूर्ति करते चलना ही वास्तविक शिक्षा है। इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए ड्यूईने समझाया कि आगे काममें आनेवाले विषय पढ़ानेके बदले छात्रोंकी रुचिके अनुरूप उनकी अभिवृद्धि करनी चाहिए क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं। अमेरिकाकी जागरूक और विकासशील जनताने ड्यूईके विचारोंका समर्थन करना प्रारंभ कर दिया अतः, अमेरिकाकी शिक्षा-पद्धतिमें ऐसे विषयोंकी शिक्षाकी व्यवस्था की जाने लगी जो तत्काल विद्यार्थि-जीवन अथवा अध्ययनकालकी अवस्थामें

ही काम आवें। अतः यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक बालकको अपनी रुचि और सामर्थ्यके अनुकूल विकास करनेका अवसर मिलना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक विद्यालय छोटासा बालराज्य बना दिया जाय जिसमें सब प्रबन्ध छात्रोंके ही हाथमें रहे जिससे वे सब कार्य अपने परिश्रमसे कर सकें। इस कार्यके लिये बालकोंकी रुचि और वृत्ति समझकर उन्हींकी पूर्तिके निमित्त शिक्षा दी जाय और उन्हें इस योग्य बनाया जाय कि वे तथ्यको पहचानकर उसे ग्रहण कर सकें क्योंकि तथ्य ही उपयोगी ज्ञान है।

समाज और शिक्षा

बालककी स्वाभाविक रुचि और कार्यवृत्ति देखकर शिक्षाके द्वारा उनकी पूर्ति करनेका यह तात्पर्य है कि ड्यूई प्रत्येक बालकको व्यक्तिवादी बना देना चाहता है। उसकी शिक्षा-पद्धति प्रत्यक्षतः व्यक्तिवादी प्रतीत होती हुई परिणामतः शुद्ध समाजवादी है जिसमें व्यक्तिके मंगलके साथ समाजके मंगलका स्वाभाविक परिणाम आ जाता है। ड्यूईका मत है कि इस प्रकारकी वैयक्तिक आचार-निष्ठा साधनेके लिये बालकके मनमें ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वह प्रत्येक वस्तुसे आत्मीयता स्थापित करके सक्रिय रूपसे उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सके क्योंकि उसके सहारे जो नैतिकताका उत्पन्न होगी वह आगे चलकर समष्टि रूपसे सभ्यता और संस्कृतिके रूप-निर्माणमें सहायक हो सकती है। अतः शिक्षाका यह भी उद्देश्य होगा कि ऐसे बालक छाँट लिए जायँ जिनमें नेतृत्वकी क्षमता हो क्योंकि समाजकी सामूहिक अभ्युन्नति तभी संभव है जब हम योग्य व्यक्तियोंको दायित्वपूर्ण पदों और स्थानोंपर प्रतिष्ठित करनेकी सुविधा दें। ड्यूईने विशेष रूपसे कहा है कि शिक्षा-योजनामें बालक-बालिका दोनोंपर समान ध्यान देना चाहिए क्योंकि एककी उपेक्षा करनेसे समाज ठीकसे पनप नहीं सकेगा। उसके आदर्शवादका आधार शुद्ध तथ्यवाद या यथार्थवाद है। ड्यूई स्थिरता-

वादी (स्टैटिक) नहीं है। वह यह नहीं मानता कि शिक्षाकी एक पद्धति बनाकर जन्म-जन्मान्तरके लिये निश्चिन्त होकर बैठ रहा जाय। शिक्षा तो समाजकी वह पतिव्रता प्रेयसी है जिसे अपना स्वरूप समाजकी प्रेरणा और आवश्यकतानुसार बदलते रहना चाहिए। इस स्फूर्तिको बनाए रखनेके लिये पाठ्य विषयोंमें हस्तकौशलकी क्रियाओंका बाहुल्य होना चाहिए।

उसका मत है कि सामूहिक रूपसे लोकसेवाके कामोंमें सम्मिलित होनेसे बुद्धिका विकास होता है अतः बालकको अपने अनुभवका वर्णन करके उसे कार्य रूपमें परिणत करना चाहिए, छात्र और अध्यापकको परस्पर सहयोगसे एक दूसरेसे शिक्षा लेनी चाहिए क्योंकि नैतिक विधानसे शिक्षा पानेसे ही जीवन व्यवस्थित तथा सुखी हो सकता है।

अतः वह शिक्षाके द्वारा मानव-जातिके सामाजिक अभ्युत्थानमें योग देनेकी क्षमता और प्रत्येक परिस्थितिमें सफलतापूर्वक जीवन-निर्वाह करनेकी शक्ति उत्पन्न करना चाहता था। क्योंकि लोक-कल्याणकी भावना ही वास्तविक आत्मज्ञान है और यही वह शिक्षाका मूल उद्देश्य मानता था।

ड्यूईका शिक्षण-क्रम, प्रयोग-प्रणाली और किलपैट्रिक

अभीतक प्रायः सभी शिक्षण-संस्थाओंमें अध्यापकोंका बोलबाला था। वे बालकको जो बतला देते थे वही उसे रटना पड़ता था। उसमें अपनी प्रेरणा, अपनी स्फूर्ति कुछ भी नहीं थी। ड्यूईने अध्यापकोंका वह व्यापक प्रभुत्व समाप्त करके उनका काम यह कर दिया कि वे चुपचाप बैठकर बालकोंकी गतिविधिका निरीक्षण करें और उनकी स्वाभाविक वृत्तियोंको देख-समझकर उनके अनुरूप उन्हें उत्साहित करके ऐसे कार्योंमें प्रवृत्त करें जो उनके लिये लाभकर हों। ड्यूईका कहना है सब बालकोंकी रुचिमें बहुत बातोंमें भेद होता है। अतः अध्यापकको ऐसे सभी भेद समझकर उनके अनुरूप प्रत्येक

बालकके लिये अलग-अलग कार्यकी व्यवस्था करनी चाहिए। इससे उनमें परस्पर कलह, द्वेष, वैर नहीं होगा, शील और विनयकी भावना स्वभावतः आ जायगी और उनका स्वयं नैतिक उत्थान हो जायगा। इसलिये ड्यूईने नित्य कार्य (टाइम टेबिल) का विरोध करते हुए बताया है कि आगेका कार्य पहलेसे बता देनेसे छात्रोंके मनमें विरसता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये वह चाहता है कि कोई काम पहलेसे निश्चित न किया जाय वरन् अवसरके अनुकूल नित्य नया-नया कार्यक्रम बना रहे जिससे छात्र यह न समझ पावें कि हम किसी विद्यालय-रूपी यन्त्रके अंग बनकर एक नियमित क्रमसे सब कार्य करनेके लिये पहलेसे ही बँधे हुए हैं। नित्य नवीन कार्य-योजना देखकर उन्हें कुतूहल होगा, जिज्ञासा होगी, स्फूर्ति होगी और नवीन कार्यमें रुचि भी होगी और यह नवीन कार्य भी अध्यापककी ओरसे प्रस्तुत नहीं होगा, स्वयं छात्र ही अपनी ओरसे उसका प्रस्ताव करेंगे। हाँ, अध्यापक ऐसी परिस्थिति अवश्य उत्पन्न करता चले कि छात्र उसके अनुकूल कार्यका प्रस्ताव कर सकें। यही प्रणाली प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) कहलाती है और ड्यूईके प्रयोगात्मक विद्यालयोंमें इसी प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है।

ड्यूईके प्रसिद्ध शिष्य किलपैट्रिकने इस प्रणालीकी विस्तृत मीमांसा की है जिसका विवरण आगे दिया गया है। इस प्रणालीसे कक्षाओंमें चारों ओर सक्रियता, स्फूर्ति और चहल-पहल छा जाती है, सभी छात्र किसी न किसी प्रकारके काममें रुचिके साथ जुट जाते हैं, वे स्वयं काम करके सीखते हैं (लर्निङ्ग बाई डुइंग) और उनमें अपनी इस स्वयं-शिक्षा (औटोएजुकेशन) से कितना आत्म-विश्वास, कितनी स्फूर्ति, कितना अनुभव और कितना विवेक बढ़ गया है। ये सब कार्य केवल व्यक्तिगत ही नहीं होते। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनमें कई छात्र और कभी-कभी तो पूरी कक्षाकी कक्षा ही जुट जाती है। इस सामूहिक

कार्यसे पारस्परिक सहयोग और सद्भावनाकी वृद्धि होती है और एक साथ काम करनेकी वृत्ति (टीम स्पिरिट) बढ़ती है। किन्तु इस पद्धतिसे सक्रम तथा व्यवस्थित शिक्षण नहीं हो पाता और ज्ञानकी सब शाखाओंके सब अंगोंका अध्ययन छात्र नहीं कर सकते। इस बातको ड्यूईने भी अपने 'अनुभव और शिक्षा' (एक्सपीरियन्स ऐंड एजुकेशन) नामक ग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।

ड्यूईकी शिक्षा-पद्धतिका विश्लेषण

ड्यूईने यद्यपि शिक्षाके क्षेत्रमें अत्यन्त नवीन ढंगके सिद्धान्तोंके साथ प्रवेश तो किया और उसका प्रभाव भी अमेरिकाकी शिक्षा-पद्धतिपर सबसे अधिक पड़ा किन्तु (१) ड्यूईने उस विशद चिन्तन और मननके साथ अपने सिद्धान्तों और प्रयोगोंपर विचार नहीं किया जैसा उसके पूर्ववर्त्ती हरबार्ट या पैस्टालौजीने किया था। इसीलिये ड्यूईके सिद्धातोंमें वह समर्थता और पुष्टता नहीं है जो किसी शिक्षाचार्यके मतमें होनी चाहिए। (२) ड्यूईका यह सिद्धान्त कितना विचित्र है कि जो उपयोगी है वही सत्य है और जो सत्य है वही उपयोगी है। संसारमें न जाने कितनी वस्तुओं और कितने विचारोंका ऐसा विराट् पुंज है जिसकी सत्यतामें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है, कोई साधन नहीं है किन्तु उनका उपयोग हमारे लिये प्रत्यक्ष रूपसे नहीं है। हिमालयका अपरास्त (एवरेस्ट) शिखर ध्रुव सत्य है किन्तु उसका कोई साक्षात् उपयोग हमारे लिये नहीं है, यहाँतक कि हमारे देशकी नदियोंमें जो हिम गलकर आता है वह भी उस ऊँचाईसे नहीं आता जहाँ निरन्तर हिम जमा रहता है, किसी भी ऋतुमें कभी गलता नहीं। इसी प्रकारकी और भी न जाने कितनी बातें हैं जो सत्य होते हुए भी हमारे लिये उपयोगी नहीं है। (३) इसी प्रकार ड्यूईका यह सिद्धान्त भी निराधार और भ्रामक है कि व्यक्तिके विकासपर ही समाज स्थिर रह सकता है। समाजकी स्थिरता विभिन्न देशोंमें विभिन्न

प्रकारसे हुई है। यदि हम अपना ही देश लें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारा समाज इसीलिये स्थिर रहा कि ईश्वरमें विश्वास, घट-घटमें ईश्वरकी व्यापकता तथा ईश्वरमें अपनी भावनाने सामूहिक रूपसे मनुष्यको पाप करनेसे रोका, अच्छे लोक-हितके कामोंमें प्रवृत्त किया और समाजको स्थिर रक्खा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देशमें सदा अच्छे और बुरे दोनों प्रकारके मनुष्य मिलते चले आए हैं और कभी-कभी कोई विशिष्ट महापुरुष किसी विशेष युगमें इतने प्रतापके साथ अवतरित होता है कि वह अपने युगके समाजको अपने विचारके अनुसार ढाल देता है। पूरा समाज अपने संस्कार लिए बैठा रह जाता है। (४) इसी प्रकार ड्यूईका यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता कि प्रत्येक छात्रकी स्वाभाविक रुचि और योग्यताको परखकर उसके लिये शिक्षा-योजना बनाई जाय क्योंकि विद्यालयमें इतने विभिन्न आचारोंमें पले हुए बालक एक साथ पहुँच जाते हैं कि इतने बालकोंके लिये शिक्षा-योजना बनाना सम्भव नहीं है। (५) डयूईका सबसे विचित्र सिद्धान्त तो यह है कि विद्यालयका उद्देश्य बालकको भावी जीवनके लिये तैयार करना नहीं है, वह तो स्वयं उसका जीवन है और उसी जीवनके उपयुक्त शिक्षणकी व्यवस्था करनी चाहिए। यह सिद्धान्त स्वतः विरोधी है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि मनुष्य सारे जीवन पढ़ता ही रहे और जैसी-जैसी परिस्थिति जीवनमें जब-जब आती रहे, तब-तब उसके लिये वैसी-वैसी शिक्षा-व्यवस्था की जाती रहे, क्योंकि यदि बालकके अध्ययन-कालमें केवल उसी अवस्थाके अनुरूप शिक्षा दी जाय तो बड़े होनेपर उसकी क्या योग्यता होगी और वह जीवनमें क्या करेगा यह एक ऐसी समस्या है जिसपर डयूईने विचार करनेका कष्ट नहीं किया।

(१) डयूईका यह कथन सर्वथा सत्य है कि समाजमें किसीके धन अथवा पदके कारण किसीको विशेष स्थान नहीं मिलना चाहिए, उसकी स्वाभाविक योग्यतापर मिलना चाहिए क्योंकि समाजमें जो

अनेक प्रकारकी विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं और पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह, वैमनस्य और विरसता उत्पन्न होती है। उसका कारण यही है कि अयोग्य तथा अनैतिक व्यक्ति, अत्यन्त सम्मानपूर्ण और उत्तर-दायित्वपूर्ण पदोंपर या तो अपनी शक्तिसे अथवा दूसरोंके द्वारा प्रतिष्ठित हो जाते हैं। (२) इसमें कोई सन्देह नहीं कि ड्यूईकी शिक्षा-प्रणालीने विद्यालयोंका रूप बदल दिया और बालकोंमें नई चेतना भर दी। यदि ड्यूईने कुछ ध्यानसे थोड़ा और मनन करके अपनी शिक्षा-प्रणाली चलाई होती तो वह निश्चित रूपसे सर्वश्रेष्ठ होती किन्तु ड्यूईने वर्त्तमान विद्यालयोंकी नीरसतासे ऊबकर केवल प्रतिक्रियात्मक रोषकी तृप्तिके लिये स्फूर्ति, क्रिया और स्वयंशिक्षाका एक रूपक तो खड़ा किया किन्तु वह इतना सबल और सफल नहीं हो पाया कि उसका व्यापक प्रयोग किया जा सके।

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड)

ड्यूईने सन् १८९६ में जो प्रयोगशाला-विद्यालय (लैबोरेटरी स्कूल) खोला था उसकी पाठ्य-प्रणाली ही प्रयोग-प्रणाली कही जाती है। आरंभमें प्रोजेक्ट (प्रयोग) शब्दका व्यवहार संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके कृषि-विभागने स्वीकार किया था। उसके अनुसार 'सहयोगपूर्ण कार्य करनेकी योजनाकी रूप-रेखाको ही प्रयोग कहते हैं।' इसके पश्चात् 'विज्ञान तथा श्रम-साध्य कार्योंकी क्रिया'के लिये ही यह शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा। शिक्षाके क्षेत्रमें जब यह शब्द पहुँचा तब इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई—"प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।"

हमारे विद्यालयोंमें जितनी शिक्षा दी जाती है वह कोरी सूचनात्मक (इन्फ़ौर्मेटिव) या अभ्यासात्मक होती है, जिसमें वास्तविकताका अंश तनिक भी नहीं रहता। इस प्रणालीमें विद्यार्थियोंको ऐसे समस्यात्मक

कार्य दिए जाते हैं जिन्हें वे वास्तविक परिस्थितिमें संपन्न कर सकें अर्थात् केवल सूचनात्मक ज्ञान देनेके बदले ऐसी समस्याएँ छात्रोंके सम्मुख रक्खी जाती हैं जिनपर वे स्वयं तर्कपूर्ण विचार कर सकें और निर्णय दें, उसे व्यवहारमें भी ला सकें, प्रत्यक्ष तथा सक्रिय प्रयोगके द्वारा ज्ञानको आत्मसात् कर सकें और समस्याओंका समाधान कर सकें। इसीलिये इसमें तीन बातें रक्खी गई हैं—

(१) ऐसा कार्य दिया जाय जिसमें कोई ऐसी समस्या हो जिसमें छात्रको बुद्धि लगानी पड़े।

(२) जो समस्यासे भरा कार्य दिया जाय वह पूरा भी हो।

(३) वह कार्य कक्षाके कार्यके रूपमें नहीं वरन् वास्तविक स्थितिमें ही पूर्ण किया जाय।

सरल और बहुमुखी प्रयोग

ये प्रयोग या कार्य दो प्रकारके हो सकते हैं—(१) सरल (सिम्पिल्) और (२) बहुमुखी (कौम्प्लेक्स)। सरल प्रयोगमें केवल एक ही काम होता है। बहुमुखी प्रयोगमें एकसे अधिक समस्यात्मक कार्य होते हैं। शिक्षाकी दृष्टिसे विद्यालयके उत्सव या नाटकका प्रबन्ध बहुत अच्छे बहुमुखी प्रयोग होते हैं।

प्रयोग-प्रणालीके सिद्धान्त

प्रयोग-प्रणालीमें सभी शिक्षा-शास्त्रियोंके सिद्धान्तोंका समावेश किया गया है। वास्तविक परिस्थितिमें काम करानेकी योजनामें रूसोका प्रकृतिवाद है, काम पुरा करनेकी योजनामें पैस्टालोज़ी, हरबार्ट और फ़्रोबेलका 'करो और सीखो' वाला सिद्धान्त है, समस्यात्मक कार्यमें फ्रोबेलकी स्वयंशिक्षा तथा मौन्तेस्सौरीकी स्वतःप्रवृत्ति और स्वतन्त्रताका सिद्धान्त है किन्तु व्यापक रूपसे इसमें स्वयंशिक्षा, आंगिक समर्थता तथा 'करो और सीखो' का समावेश है।

प्रयोग-प्रणालीमें कई गुण हैं। इससे विद्यार्थियोंको स्वतः सोचने और काम करनेकी प्रवृत्ति होती है, वे अपना काम समझकर उसमें रुचि लेते हैं, वास्तविक परिस्थितिमें कार्य पूर्ण होनेके कारण वे उस कामके सब तत्त्व समझ लेते हैं, उस काममें जितनी सामग्री और शक्ति लगती है उसका अपव्यय नहीं होता, जितना ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह सब वास्तविक जीवनमें काम देता है, इसके द्वारा काम करनेसे अभ्यास और चातुर्यको प्रोत्साहन मिलता है, ठीक क्रमसे काम करनेकी प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है तथा धैर्य, संतोष, आत्मतुष्टि तथा श्रमकार्यके प्रति आदरका भाव उत्पन्न होता है।

किन्तु इस प्रणालीमें सबसे बड़ा दोष यही है कि सब विषयोंके सब अंग इसके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते, अध्यापकका व्यक्तित्व और ज्ञान निरर्थक हो जाता है और ज्ञानका क्रम अव्यवस्थित हो जाता है। फिर विद्यालयमें बड़े-बड़े प्रयोग करने सम्भव नहीं हैं और विद्यालयके बहुसंख्यक छात्रोंके लिये इतने प्रयोग ढूँढ़ निकालना भी कठिन कार्य है। सबसे अधिक कष्टकी बात यह है कि विद्यालय कभी-कभी मछुरहट्टे, सट्टी या पुतलीघरका रूप धारण कर लेता है जहाँ निरन्तर कोलाहल और खटर-पटर होता रहता है। इसलिये केवल कभी-कभी विशेष अवसरोंपर बहुमुखी प्रयोगोंका विधान करना ठीक है, उसे सार्वजनिक शिक्षाका साधन नहीं बनाया जा सकता।

शिक्षामें अवयव-सिद्धि

मदाम मोन्तेस्सौरी

बीसवीं शताब्दिके प्रारंभमें जो व्यापक रूपसे शिक्षा-संबंधी प्रयोग हुए उनमें मूढ़ तथा विकलांग ,बालकोंकी शिक्षाका भी प्रबन्ध हुआ। कुछ तो भैषज्यशास्त्रके पंडितों और कुछ वैज्ञानिकोंने अपने-अपने ढंगसे मूढ़, बुद्धिहीन तथा विकलांग बालकोंको शिक्षा देनेके लिये बहुत-सी विधियाँ प्रचलित कीं। उनमें सबसे अधिक ख्याति पाई इतालिया (इटली)-निवासिनी मेरिया मौन्तेस्सौरीने।

मेरिया मौन्तेस्सौरीका जन्म सन् १९८० में इतालिया (इटली) में हुआ। ये इटलीकी पहली महिला हैं जिन्होंने रोम विश्वविद्यालय से आयुर्वेद (डाक्टरी) में आचार्यत्व प्राप्त किया है। इनका जन्म ऐसे समयमें हुआ जब इटलीकी राजनीतिमें बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी इसलिये बड़ी होनेपर इन्होंने भी इन आन्दोलनोंमें सक्रिय रूपसे योग देना प्रारंभ किया।

सर्वप्रथम उन्हें मन्दबुद्धि या जड़बुद्धि बालकोंकी चिकित्साका काम मिला जिसके लिये उन्होंने सेग्वीं प्रणालीका अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसे बच्चोंको औषध देनेकी अपेक्षा किसी अन्य प्रकारसे शिक्षा देकर ठीक करना चाहिए। उन्होंने उन्माद-चिकित्सा तथा मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रका भी अध्ययन किया। बहुत दिनोंतक स्टेट औथोंफ्रेनिक स्कूलकी संचालिका रहकर उन्होंने मन्दबुद्धि बालकोंको शिक्षा देनेमें अद्भुत कौशल दिखलाया। इससे उनका इतना उत्साह बढ़ा कि उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग साधारण बालकोंपर भी

करना प्रारम्भ कर दिया और इसीलिये सन् १६०७ में वे कुछ नये ढंगकी बनी हुई बस्तियोंसे संबद्ध 'बाल्यावासों' (हाउसेज़ ऑफ़ चाइल्डहुड) की शिक्षा-संचालिका बनीं। इस संस्थाके संचालनमें उन्होंने अपने शिक्षा-प्रयोगके वैज्ञानिक आधारको और अधिक स्पष्ट किया। वे बीच-बीचमें प्रत्येक विद्यार्थीकी कुल-परम्परा, पैतृक व्यवसाय, पोषण, बचपनके रोग तथा शारीरिक जाँचका पूरा लेखा तैयार करके पूरा विवरण बनाकर रखती रहीं। साथ ही प्रत्येक बालकके घरकी स्वच्छता, स्वास्थ्य तथा आर्थिक स्थितिकी जाँच भी किसी कुशल विशेषज्ञ-द्वारा बीच-बीचमें कराती रहीं। इतना सब होनेपर भी प्राणि-शास्त्रज्ञोंने यही निर्णय दिया कि "यद्यपि डौ० मौन्तेस्सौरीकी वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति अत्यन्त अपर्याप्त और अशुद्ध है किन्तु वर्तमान विज्ञानका पूरा ज्ञान न होनेपर भी उनकी प्रणालीकी भावना वैज्ञानिक ही है।"

मौन्तेस्सौरी-पद्धतिमें प्रत्येक बालकको यथासंभव पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई और अध्यापिकाका काम केवल इतना ही रह गया कि वह शान्ति और धैर्यके साथ बालककी गति-विधिका सावधानीके साथ निरीक्षण करती रहे। मौन्तेस्सौरीका विचार है कि अध्यापक-द्वारा निर्दिष्ट अभ्यास छात्रोंपर लादनेकी अपेक्षा बालकोंको स्वतः शिक्षित होनेके लिये प्रोत्साहन देना चाहिए जिसमें बालक स्वयं अपनी रुचिके अनुसार काम छाँटें, अपनी रुचिके अनुसार स्वयं अपनी शंका और जिज्ञासाका समाधान करें तथा स्वतः अपना मानसिक और नैतिक विकास कर सकें। उनपर इतना ही अंकुश हो कि जब उनकी क्रिया सर्वसाधारणके हितमें बाधक, निरर्थक या संकटपूर्ण हो तब उन्हें रोका, टोका और समझाया भी जाय। व्यक्तिगत अभिव्यक्तिमें विश्वास रखते हुए भी मौन्तेस्सौरीकी पद्धतिमें फ्रोबेलके किंडेरगार्टेनके रोचक खेल, गीत और कथाओंका कोई स्थान नहीं है। यद्यपि मौन्तेस्सौरीकी 'स्वतःशिक्षा'की भावना प्रशंसनीय तो है किन्तु उनके 'शिक्षा-यंत्र' (डाइडेक्टिक ऐपेरैटस) इतने संकुचित हैं कि उनके

द्वारा जीवनकी अनेक वास्तविक क्रियाएँ किसी भी प्रकार पूर्णतः नहीं सिखाई जा सकतीं।

मौन्तेस्सौरीका पाठ्यक्रम और शिक्षायंत्र

मौन्तेस्सौरीके विद्यालयोंके पाठ्यक्रमको हम तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं। (१) व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंसे संबद्ध, (२) ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेकी क्रियाओंसे संबद्ध तथा (३) प्रारम्भिक पाठ्य विषयोंके नियमोंसे संबद्ध। विद्यालयमें प्रवेश करनेके समय ही बालक व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंमें भाग लेने लगता है। चौकियाँ लगाने, भोजन परोसने और थालियाँ धोनेका कार्य करके वह साधारण शिष्टाचार, विनय तथा आचार-व्यवहारका अभ्यास कर लेता है। बटन लगाने, फीता बाँधने, हुक लगाने तथा वेष-भूषाकी विभिन्न वस्तुओंको ठीकसे पहननेका अभ्यास वह हलके लकड़ीके ढाँचोंके दोनों ओर सूत या चमड़ेके वस्त्रोंके टुकड़ोंको बीचमें कसकर सीखता है। मौन्तेस्सौरीका विश्वास है कि ऐसे अभ्यासोंसे ही बालकको कपड़े पहननेका ढंग भी आ सकेगा और वह अपने पुट्ठोंको भी पर्याप्त व्यायाम दे सकेगा।

मदाम मौन्तेस्सौरीकी पद्धतिमें बालककी स्पर्श-भावना साधनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रियोंपर उसकी उँगली फिराकर उन वस्तुओंका तल खुरदरा या चिकना बताया जाता है और फिर इस विवरणके द्वारा बालककी आँखोंपर पट्टी बाँधकर चिकनी और खुरदरी वस्तुएँ छुँटवाई जाती हैं। इसी प्रकार दिखा, सुना, छुआ और सुँघाकर किसी वस्तुकी प्रकृति या गुण समझाकर शीत, उष्ण, श्वेत, काला, ठोस, पोला, भारी, हल्का तथा रंग आदिका अभ्यास करा दिया जाता है। डॉ० मौन्तेस्सौरीका कहना है कि इन अभ्यासोंका यह उद्देश्य नहीं है कि बालकको रंगों, आकारों और वस्तुओंके विभिन्न गुणोंका ज्ञान हो। वह तो इन अभ्यासोंसे एकाग्रता, तुलना तथा स्वयं-निर्णयकी सिद्धि करके अपनी ज्ञानेन्द्रियोंका सुधार कर लेता है।

मौन्तेस्सौरीका कहना है कि छोटे-बड़े, ठोस-पोले, मोटे-पतले, गोल, तिकोने, चौकौर, बेलनाकार, अंडाकार आदि जितने रूप-आकार दिखाई पड़ते हैं इनके निरीक्षण, अध्ययन और सम्पर्कसे लेखनमें निश्चित सहयोग मिलता है। मौन्तेस्सौरीने तीन ऐसे अभ्यास निकाले हैं जिनके द्वारा लेखनका स्वतः विकास होता है—(१) बालकसे काग़ज़पर वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज, षट्कोण आदि आकार खिंचवाकर, उसकी बाह्य रेखापर स्याही करानेका अभ्यास कराकर बालकको लेखन-सामग्री—कलम, अंजनी (पेंसिल), तूलिका, खड़िया आदि—का प्रयोग करनेकी आवयविक चेष्टाओंका अभ्यास कराया जाता है। (२) इसी अभ्यासके समय बालक अक्षरोंका रूप समझने और उसकी रेखाओंकी दिशाएँ जाननेके अभ्यास भी गत्तोंपर चिपके हुए बलुए काग़जके कटे हुए अक्षरोंपर उँगली फेरकर कर लेता है। पहले अध्यापक अक्षर लिखनेके क्रमसे उस बलुए कागजके अक्षरपर उँगली फेरते हुए उसकी ध्वनिका उच्चारण करता है (अक्षरका नाम नहीं उच्चारण करता, प्रयोगमें आनेवाली उसकी ध्वनि कहता है जैसे अँगरेज़ीका 'के' अक्षर न कहकर इसकी प्रयोजनीय ध्वनि 'क' कहता है। पर यह झगड़ा विदेशी अक्षरोंमें है, देवनागरीमें तो ध्वनि और नाम दोनों एक ही होते हैं)। (३) इस प्रकार बालककी उँगली साधकर उसकी स्मृतिके साथ उस सधे हुए रूपका संबंध जोड़नेके लिये उनसे कहता है—मुझे 'क' दो, 'औ' दो आदि; या कोई अक्षर दिखाकर पूछता है कि यह क्या है अथवा यह कौन-सा अक्षर है? अन्तमें छापेघरोंके अक्षर-जुड़इयों (कम्पोज़िटरों) की अक्षर-पेटी (केस) से मिलती-जुलती पेटियोंके विभिन्न घरोंमें रक्खे हुए गत्तोंके अक्षर जोड़कर वे शब्द बनाते हैं। यद्यपि इस अभ्यासतक बालक कुछ भी लिखता नहीं है किन्तु लिखनेकी जितनी भी भाव-क्रियाएँ हैं उन सबपर वह अधिकार प्राप्त कर लेता है। यही उक्त 'लेखनके विस्फोट' (आउटबर्स्ट ऑफ़ राइटिंग) का रहस्य है जिसकी शिक्षाके क्षेत्रमें बड़ी चर्चा है। इस

प्रणाली-द्वारा बालक अचेतन रूपसे लेखन-कला सीख लेते हैं। यह पद्धति मौन्तेस्सौरी-प्रणालीकी सबसे बड़ी सफलता समझी जाती है।

वाचनका क्रम लेखनके पीछे आता है। श्यामपट्ट या कागजोंपर लिखे हुए परिचित वस्तुओंके नामोंका वाचन कराकर इसका प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रणालीमें वर्णमाला-क्रम (एल्फ़ाबेट) से पढ़ानेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, सीधे शब्दसे प्रारंभ किया जाता है।

गणित सिखानेके लिये मौन्तेस्सौरीने जो प्रयोग स्थिर किए हैं वे पैस्टालौज़ीकी इकाईकी सरणि तथा अन्य विधियोंसे भिन्न नहीं हैं। विशेषता इतनी ही है कि इन्होंने विभिन्न लम्बाईके छोटे-छोटे डंडे बनाए हैं जिनके कई भाग करके उन्हें लाल और नीला रंग दिया है। जब बालक उन भागोंको गिनना सीख जाता है तब अध्यापक भी एक डंडा लेकर, उससे बड़े या छोटे डंडे छात्रोंसे निकलवाता है या छात्रोंसे कहकर सब डंडे इस प्रकार रखवाता है कि वे सबसे बड़े डंडेके बराबर हो जायँ। इस प्रकार बहुत द्रविड प्राणायामके साथ जोड़, घटाना, गुणा, भाग सिखाया जाता है और उसमें समय भी बहुत लगता है।

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें बालकोंको ज्ञान तो कम प्राप्त होता है किन्तु उन्हें स्वच्छता, विनय, शील और एकाग्रताका अभ्यास अवश्य हो जाता है। वहाँ कोलाहल और अशान्ति नहीं होती। मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें पुरस्कार और दंडका भी अभाव है क्योंकि पुरस्कारसे स्पर्धा और द्वेषकी वृद्धि तथा दंडसे भयकी उत्पत्ति होती है।

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीके मूल सिद्धान्त

यद्यपि मौन्तेस्सौरीने कहीं भी अपने सिद्धान्तोंकी विवेचना नहीं की परन्तु उसकी प्रणालीका अनुशीलन करके हम उसके चार सिद्धान्त स्पष्ट देखते हैं—१—छात्रोंको शिक्षा प्राप्त करनेमें स्वतन्त्रता, स्वतःप्रवृत्ति और स्वेच्छा; २—छात्रके व्यक्तित्वका आदर; ३—स्वयं-शिक्षण; ४—शिक्षा-यन्त्रोंके सहारे शरीरके अंगों, इन्द्रियों और अवयवोंकी सिद्धि।

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें न बँधे नियम हैं, न कोई बँधी हुई कार्य-सरणि, न किसी विषय या कार्यको निश्चित समयमें समाप्त करनेका बन्धन, न पुरस्कारका प्रलोभन, न दण्डका भय, न विनयके लिये कोई कठोर या बँधे हुए नियम; अर्थात् विनय और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रोंमें बालकोंको पूरी छूट है किन्तु इतना सब होते हुए भी पाठशालाओंमें पूर्ण शान्ति, उत्साह, आनन्द और स्फूर्तिका वातावरण छाया रहता है। बालक अपनी इच्छासे उठता, बैठता, खेलता तथा काम करता है, उसके कार्यों में न तो अध्यापक हस्तक्षेप ही करता है न किसी कार्यके लिये आदेश ही देता है।

इस पद्धतिमें प्रत्येक छात्रके व्यक्तित्वका आदर करके किसी बालक या उसके कार्यके प्रति ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया जाता जिससे उसके मन या हृदयपर आघात पहुँचे। यदि वह बेढंगा चित्र भी बना लाता है तब भी उसकी प्रशंसा की जाती है क्योंकि उसने निर्माण तो किया है न!

इस पद्धतिमें बालकको स्वयं अपनी गति और प्रवृत्तिसे नया ज्ञान प्राप्त करने और नई बात सीखते चलनेके लिये उत्साहित किया जाता है। इसमें अध्यापक न तो उसे शिक्षा देता है न उपदेश करता है। वह केवल निरीक्षक और पथ-प्रदर्शक-मात्र रहता है। इस प्रकारकी स्वतःशिक्षाके द्वारा बालकके मनमें आत्मविश्वास भी बढ़ता है और उसे आत्म-निर्भरताका भी अभ्यास हो जाता है जो जीवनकी सफलताके लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है।

इस पद्धतिमें विभिन्न शिक्षा-यन्त्रोंके सहारे बालकोंके शरीरके विभिन्न अंगों, इन्द्रियों और पुट्ठोंको इस प्रकार साध दिया जाता है कि उन्हें आगे ज्ञान प्राप्त करनेके समय उस प्रकारके ज्ञानसे संबद्ध शारीरिक, आंगिक या आवयविक चेष्टाओंके लिये नये सिरेसे अभ्यास न करना पड़े।

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका विश्लेषण

मौन्तेस्सौरीने अपनी शिक्षा-प्रणालीको वैज्ञानिक बताया है किन्तु उन्होंने न तो कोई ऐसे प्रमाण दिए और न विवरण ही दिए जिनके आधारपर दूसरे लोग भी उसकी वैज्ञानिकताका परीक्षण कर सकें। इस पद्धतिमें पूर्वाचार्योंकी कृतियों तथा अनुभवोंसे परिचित होने, कथा सुनने, नाटक या संवादका आनन्द लेने तथा कलात्मक भावनाके विकासके लिये कोई स्थान नहीं। न इसमें काव्य है, न मनोरंजक खेल। सदा एक ही प्रकारके यन्त्रोंसे उलझना, कई गुल्लियोंको ठीक छेदोंमें भरना, लकड़ीके चौकोर टुकड़ोंको नीचे-ऊपर करके सजाना, रबड़की जाकटमें बटन लगाना, आँखमें पट्टी बाँधकर हलका-भारी तौलना आदि क्रियाओंमें बालक लगा भले ही रहे किन्तु अनेक वस्तुओं और कार्योंके प्रयोगसे जो कुतूहलपूर्ण उत्साह होता है वह इसमें किसी प्रकार संभव नहीं है। विभिन्न वातावरणोंसे आए हुए बालक भी जो चुपचाप काम करते चलते हैं यह उनकी स्वाभाविक प्रकृति नहीं है। कक्षामें गृध्रदृष्टिसे निरन्तर ताकनेवाली अध्यापिकाके भयसे वे चुपचाप अपने कार्यमें लगे रहते हैं क्योंकि उन्हें यह सन्तोष रहता है कि चुपचाप खेलनेपर घरमें मार पड़ती थी, डाँटे जाते थे, यहाँ वही खेल करनेके लिये यन्त्र दिए जाते हैं, इसलिये बालकोंका वह अस्वाभाविक मौन, विनयका द्योतक न समझकर दंडभयका परिणाम समझना चाहिए। मौन्तेस्सौरीने जो शिक्षा-यन्त्र भी तैयार किए हैं वे इतने महँगे हैं कि भारतके बच्चोंको यदि मौन्तेस्सौरी-प्रणालीसे अनिवार्य शिक्षा दी जाय तो भारत-सरकारकी वर्त्तमान वार्षिक आय दुगनी हो जानेपर भी पूरी न पड़ेगी। इस प्रणालीमें समय भी बहुत नष्ट होता है। जो ज्ञान बालकको अन्य सरल उपायोंसे एक मासमें आ सकता है वह इस प्रणालीसे एक वर्षमें प्राप्त होता है। यह केवल धनिकोंके चोंचले हैं जो अपने बालकोंके लिये पैसा और समय दोनों बलिदान कर सकते हैं। मौन्तेस्सौरीने

बालककी स्वतन्त्रताको अधिक महत्त्व दिया अवश्य है किन्तु उन्होंने उसे यन्त्रोंके फेरमें भी ऐसा बाँध रक्खा है कि अध्यापकका व्यक्तित्व भी पूर्णतः लुप्त हो जाता है, बालक भी कूपमंडूककी भाँति उन्हीं यंत्रोंकी मायामें घिरा पड़ा रहता है। इससे बालककी सामान्य मानसिक तुष्टि भले ही हो किन्तु उसकी उदात्त वृत्तियोंका विकास नहीं हो पाता, शिक्षक तथा शिक्षा दोनोंमें उसे किसी प्रकारकी कोई रुचि नहीं रह जाती और पाठशालाका काम केवल मूक यंत्रकी भाँति चलता है। मौन्तेस्सौरी-का यह भी हठ है कि मेरे नामके विद्यालयोंमें मेरे ही यंत्रोंका प्रयोग किया जाय तभी वह मौन्तेस्सौरी-प्रणाली हो सकती है अन्यथा नहीं। इसमें वे किसी प्रकारका सुधार या सुझाव भी माननेको तैयार नहीं हैं। यों तो हठवादिता कहीं भी ठीक नहीं होती किन्तु शिक्षाके क्षेत्रमें तो यह प्रवृत्ति अत्यंत अनुचित और अवांछनीय है। सारांश यह है कि मौन्तेस्सौरी-प्रणालीमें केवल विनय और शीलकी भावना ऐसी है जिसे आधुनिक विद्यालयोंको अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मौन्तेस्सौरी-प्रणाली एक विराट् विडंबना है जो मन्दबुद्धि और जड़ बालकोंके लिये भले ही लाभकारी हो किन्तु साधारण बालककी शिक्षाके लिये अत्यन्त अव्यावहारिक, व्ययसाध्य, आडम्बरपूर्ण और निरर्थक है।

११

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

कुमारी हेलन पार्खर्स्ट

सन् १९१२ में अमेरिकाकी शिक्षा-शास्त्रिणी कुमारी हेलन पार्खर्स्टने आठसे बारह वर्षके बीचकी अवस्थावाले बालकोंके लिये एक नई शिक्षा-योजना बनाई। यद्यपि यह योजना उनके मनमें पहलेसे ही थी किन्तु उसका वास्तविक प्रयोग सन् १९१३ और १५ के बीच किया गया। इसी बीच प्रसिद्ध जर्मन युद्ध (१९१४-१८) छिड़ गया और कुमारी पार्खर्स्टने भी अपनी योजना थोड़े दिनके लिये स्थगन कर दी। विद्यालयोंमें बालकोंकी यातना देखकर और विद्यालयोंका नीरस तथा कठोर वातावरण देखकर हेलन पार्खर्स्टने शिक्षाकी जो नई योजना बनाई उसे अपने नामसे चलाना उसने उचित नहीं समझा। जर्मन-युद्ध समाप्त होनेके पश्चात् सन् १९२० में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके मैसाच्यूसेट राज्यके डाल्टन स्कूलमें अपनी योजना प्रारंभ की। इसके पश्चात् उन्होंने एक बाल-विश्वविद्यालय-पाठशाला (चिल्ड्रेन्स यूनिवर्सिटी स्कूल) स्थापित करके उसमें अपनी डाल्टन प्रयोगशाला-योजना (डाल्टन लैबोरेटरी प्लान) का व्यवहार किया। उनकी यही इच्छा रही है कि इस योजनाको विशेष नियमों और बन्धनोंमें न जकड़ दिया जाय और इसीलिये विभिन्न देशों और स्थानोंके लिये उन्होंने बड़ी छूट दे दी है। सन् १९१५ से १८ तक पार्खर्स्टने केलिफोर्नियामें मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका प्रयोग किया था इसीलिये कुछ लोग इस प्रणालीको मौन्तेस्सोरीकी उपज मानते हैं किन्तु बात यह नहीं है

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

इस प्रयोगशाला-योजनाके दो मुख्य सिद्धान्त हैं—(१) विभिन्न विषयोंके लिये निश्चित घंटों और समय-सरणिके कठोर बंधनोंको नष्ट करके बच्चेको स्वतंत्रतापूर्वक काम करनेकी सुविधा देना, (२) जिस विषयमें बालककी रुचि अधिक हो उस विषयको जितनी देरतक वह चाहे, अध्ययन करने देना।

इस पद्धतिमें पूरा पाठ्यक्रम सुविधाजनक मासिक कार्य-योजना (मन्थली एसाइनमेन्ट) के रूपमें बाँट दिया जाता है जिसमें छुट्टियोंके लिये, पढ़े हुए पाठकी आवृत्तिके लिये और विद्यार्थियोंके स्वतःअभ्यासके लिये समय छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक पाठ्य विषयको एक वर्षकी दस मासिक कार्य-योजनाओंमें बाँट दिया जाता है और यह आशा की जाती है कि विद्यार्थी इस कार्यको ठेके (कौन्ट्रैक्ट) के रूपमें ग्रहण करेंगे और एक महीनेके लिये दिया हुआ निश्चित कार्यक्रम निश्चित समयमें पूरा कर लेंगे। इसमें स्वतंत्रता यही है कि विद्यार्थी एक मासमें पूरे किए जानेवाले कार्यको अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिस क्रमसे और चाहे जिस गतिसे पूरा कर सकते हैं। वे चाहे तो एक महीनेके लिये दिए गए कामको दस दिनमें पूरा कर सकते हैं। छात्रोंको इतनी छूट रहती है कि वे अपने गुरु या अपने सहपाठियोंसे सम्मति लें, किन्तु कार्य उन्हें स्वतः ही पूरा करना पड़ता है।

इस योजनामें प्रत्येक कक्षा प्रयोगशाला बन जाती है जिसमें एक विषयकी सब सहायक सामग्री विद्यमान रहती है। विभिन्न श्रेणियोंके विद्यार्थी किसी एक विषयका कार्य उस विषयकी कक्षा-प्रयोगशालामें बैठकर पूरा कर सकते हैं। इस प्रकार विद्यालयमें पहली, दूसरी, तीसरी कक्षा न होकर हिन्दीकी प्रयोगशाला, गणितकी प्रयोगशाला, इतिहासकी प्रयोगशाला तथा भूगोल, विज्ञान, संगीत, चित्र-कला आदि विषयोंकी

प्रयोगशालाएँ बन जाती हैं। इसीलिये वहाँ न घंटे लगते हैं, न कोई बँधी हुई दिनचर्या (टाइम-टेबिल) ही रहती है।

डाल्टन-पद्धतिके अध्यापक

इस योजनाके अंतर्गत अध्यापकोंका काम यह है कि (१) वे अपनी-अपनी प्रयोगशालामें जाकर आसन लगाकर वर्ष-भरके लिये मासिक कार्य-योजना तैयार कर दें, (२) जो विद्यार्थी कुछ पूछने आवे उसे उचित परामर्श या निर्देश दें और यह देखें कि छात्र एक दूसरेकी प्रतिलिपि तो नहीं करते, समय तो नष्ट नहीं करते या किसी वस्तुका दुरुपयोग तो नहीं करते, (३) मासिक कार्य-योजना बनाते समय विभिन्न विषयोंके अध्यापक परस्पर मिलकर इस प्रकार कार्य बाँटें कि छात्रोंको परिश्रम भी कम हो और व्यर्थ एक प्रकारके कार्यकी आवृत्ति न हो। यदि इतिहासका अध्यापक शिवाजीपर लेख लिखना चाहता है तो वह इस कामको भाषा-शिक्षककी कार्य-योजनामें डाल सकता है जिसका ऐतिहासिक अंश इतिहासका अध्यापक देख ले और भाषाका अंश भाषाका अध्यापक देख ले। इससे छात्र भी दो निबंध लिखनेकी कठिनाईसे बच जाता है। इस योजनामें अध्यापकको कोई अधिकार नहीं है कि वह विद्यार्थीके काममें बाधा दे। यह छात्रका ही अधिकार है कि वह आवश्यकता पड़नेपर अध्यापकसे सम्मति और परामर्श ले।

ठेकेका कार्य (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेंट)

छात्रोंके लिये जो दस मासकी वार्षिक ठेकेकी कार्य-योजना (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेंट) बनाई जाती है उसमें निम्नांकित बातें आती हैं—प्रस्तावना, विषयांग, समस्याएँ, लिखित कार्य, कंठस्थ करने योग्य कार्य, सम्मेलन, सहायक पुस्तकें, प्रगति-विवरण, सूचनापट्टका अध्ययन तथा विभागीय छूट। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मासिक कार्य-योजनामें ये सभी बातें आवें फिर भी इसमेंसे अधिकांशका समावेश होना ही चाहिए। वास्तवमें डाल्टन प्रयोगशाला-योजनामें सबसे अधिक

महत्त्वका कार्य मासिक कार्य-योजना बनाना ही है और इसीलिये जबतक अत्यन्त कुशल अध्यापक न हों तबतक यह योजना सफल भी नहीं हो पाती ।

(१) प्रस्तावना—थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके लिये दिए जानेवाले कार्यका कुछ थोड़ा-सा परिचय दिया जाय ।

(२) विषयांग—जो विषय दिया जाय उसके उस विशेष अंग, भाग, पाठ या अंशका उल्लेख हो, जैसे यदि भाषा पढ़ानी हो तो भाषाके अंग (रचना, व्याकरण, कविता, गद्य, नाटक, कहानी आदि) का उल्लेख स्पष्ट किया जाय, केवल भाषा कहकर न छोड़ दिया जाय और यह भी बताया जाय कि किस अंगके लिये कितना काम अपेक्षित है ।

(३) समस्याएँ—इसके अंतर्गत उन सब बातोंका उल्लेख हो जिनके लिये छात्रोंको मनन करना या विचार करना पड़े, जैसे यन्त्र बनाना, मानचित्र बनाना अथवा वैज्ञानिक या दार्शनिक विवेचन करना आदि । अधिकतर भाषाके पाठमें समस्याएँ कम होती हैं। इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्र जैसे विषयोंमें समस्याएँ अधिक होती हैं जिसके लिये छात्रको विशेष अध्ययन करके अपनी ओरसे परिणाम निकालना होता है ।

(४) लिखित कार्य—जो कुछ लिखनेका कार्य कराना हो उसकी पूरी सूची दी जाय और जिस तिथिको लेख लेना हो उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख हो ।

(५) कंठस्थ करने योग्य कार्य—इसके अन्तर्गत उन सब अंशों, कविताओं या अनुच्छेदोंका उल्लेख हो जिन्हें कण्ठस्थ कराना अभीष्ट हो ।

(६) सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स)—जो कार्य-योजना बनाई जाती है उसके लिये कभी-कभी सामूहिक रूपसे एक श्रेणीके छात्रोंसे विचार-विमर्श करना भी आवश्यक होता है । अतः कार्य-योजनामें उन तिथियोंका भी उल्लेख हो जब पूरी कक्षाको एक साथ बैठाकर उस विषयपर बातचीत करनी हो या कुछ विशेष समझाना हो ।

(७) सहायक पुस्तकें—कार्य-योजनाके साथ उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके नाम भी दे दिए जायँ जिनसे सहायता लेनी आवश्यक हो। ऐसी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंका नाम देते समय अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाय जिससे बालकको पूरी पुस्तक या पत्रिकाके पढ़नेमें अधिक समय नष्ट न करना पड़े।

(८) प्रगति-विवरण—इसी कार्य-योजनाके साथ बालकोंको यह भी बतला दिया जाय कि वे अपनी प्रगतिका लेखा किस प्रकार बनाएँ। इससे बालकोंमें आत्मविश्वास बना रहता है और वे समझते रहते हैं कि हमने इतना ज्ञान प्राप्त किया, इतना कार्य किया, इतनी उन्नति की।

(९) सूचनापट्टका अध्ययन—कभी-कभी यदि प्रयोग-शालाके सूचनापट्टपर कोई चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँगनेकी योजना हो तो उसका भी उल्लेख कर दिया जाय।

(१०) विभागीय छूट—ऊपर बताया जा चुका है कि मासिक कार्य-योजना बनाते समय अध्यापकोंको परस्पर मिलकर इस प्रकारसे कार्य-विभाजन करना चाहिए कि एक ही प्रकारके कार्यकी आवृत्ति न हो और छात्रपर अनावश्यक भार न पड़े।

दैनिक कार्यक्रम

यह विद्यालय पौने नौ बजे प्रातःकालसे तीसरे पहर चार बजेतक चलता है। इसमें दोपहरको एक और दो बजेके बीच छुट्टी होती है। सब विद्यार्थियोंका एक-एक दल एक-एक अध्यापकके अधीन रहता है और वह प्रातःकाल अपने अध्यापकसे मिलता है। अध्यापक भी कक्षाको दिए हुए कार्यपर छात्रोंसे बातचीत करता है और व्यक्तिगत रूपसे जिन्हें सहायताकी इच्छा होती है उन्हें सहायता भी देता है। पौने नौसे बारह बजेतक छात्र अपनी इच्छाके अनुसार स्वतंत्र कार्य करता है। बारहसे एक बजेतक प्रतिदिन सम्मेलन होता है जिसमें कक्षाएँ अपने गुरुओंसे मिलती हैं। इन सम्मेलनों (कान्फ़रेन्सों) में अध्यापक वे सब

बातें बताता है जो छात्रकी समझ, शक्ति और अनुभूतिसे परे हों, साथ ही छात्रोंके साथ विभिन्न विषयोंपर विचार-विमर्श, शास्त्रार्थ या वाद-विवाद भी करता है। तीसरे पहरका समय कला, हस्त-कौशल, खेल-कूद तथा व्यायाम आदिके लिये छोड़ दिया जाता है।

विद्यार्थीकी गति जानते रहनेके लिये चौवर (ग्राफ़) के रूपमें सब विद्यार्थियोंकी उन्नतिका लेखा रक्खा जाता है। ये लेखे साप्ताहिक और मासिक दो प्रकारके होते हैं। ये दोनों लेखे छात्रके पास रहते हैं जिनमें वह काम पूरा करके अध्यापकसे अपने किए हुए कामका गतिचिह्न बनवा लेता है। इसके अतिरिक्त विद्यालयमें प्रत्येक बालककी उपस्थितिका लेखा भी रक्खा जाता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि छात्रकी प्रगति किस प्रकार हो रही है।

डाल्टन-प्रयोगशाला-योजनाका विश्लेषण

इस योजनामें सात बहुत बड़ी विशेषताएँ हैं जो संसारकी किसी शिक्षा-योजनामें प्राप्त नहीं है—(१) प्रत्येक बालकको एक दिनके कामके बदले महीने-भरका काम दिया जाता है जो उसे प्रतिदिन करना पड़ता है। (२) अपनी इच्छा और सुविधाके अनुसार काम करनेकी छूट होती है जिससे विद्यार्थीमें उत्तरदायित्व और आत्मनिर्भरताकी भावना बढ़ती है। (३) प्रत्येक छात्र अपनी गति और रुचिके अनुसार काम करता है। (४) आत्मशिक्षा और व्यक्तिगत कार्य दोनोंका इसमें समन्वय है। (५) किसी दिन विद्यालयसे अनुपस्थित रहनेपर भी अपना काम पूरा करनेके लिये छात्रको अवसर रहता है। (६) अध्यापक और छात्रके बीच अत्यंत स्नेह और सद्भावनाकी वृत्ति रहती है। (७) विद्यार्थी नित्य अपने कार्यकी परीक्षा करता चलता है इसलिये इस योजनामें परीक्षाएँ नहीं हैं।

इस योजनामें जहाँ इतने गुण हैं वहाँ त्रुटियाँ भी हैं कि इसमें—(१) अध्यापकके व्यक्तित्व और चरित्रका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

(२) मौखिक शिक्षण-कार्यके लिये अवकाश नहीं रह जाता। (३) प्रश्नोत्तरी प्रणालीसे मस्तिष्कको शिक्षित करनेका भी अवसर इसमें नहीं मिलता और इसीलिये इसमें बोल-चालकी भाषा समुन्नत नहीं हो पाती। (४) बहुतसे विद्यार्थी परस्पर अथवा पुस्तकोंसे प्रतिलिपि करके भी कार्य पूरा कर लेते हैं। (५) छात्र किसी एक विषयमें अधिक और किसीमें कम रुचि दिखा सकते हैं। (६) अध्यापकके लिये संशोधनका कार्य बढ़ जाता है। (७) इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये जैसे योग्य अध्यापकोंकी आवश्यकता है वैसे साधारणतः नहीं मिल पाते। (८) प्रत्येक विषयके लिये अलग-अलग प्रयोगशाला बनानेके लिये इतना व्यय होगा कि न तो सार्वजनिक विद्यालय ही यह भार वहन कर सकते हैं न राज्य ही। किन्तु यह सब होते हुए भी यह योजना अन्य सब शिक्षा-प्रणालियोंसे श्रेष्ठतम है क्योंकि इसमें शिक्षाके सब सिद्धांत समाविष्ट हो जाते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि कुमारी हेलन पार्खर्स्टने सब स्थानोंके लिये अपने-अपने साधनोंके अनुसार इसमें परिवर्तन करनेकी सुविधा भी दे दी है। मौन्तेस्सौरीके समान उन्होंने किसी बातके लिये दुराग्रह नहीं किया है।

१२

स्वयंप्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मेथड)

आर्मस्ट्रौंग

विज्ञानकी शिक्षाके लिये जैसे प्रारम्भमें बेकनने परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) का प्रचलन किया उसी प्रकार पीछे ह्यूरिस्टिक या स्वयंप्रयोग-प्रणालीका भी आविष्कार हुआ। ह्यूरिस्टिक शब्दकी उत्पत्ति यूनानी भाषाके 'हेउरिस्केइन' शब्दसे हुई है। इसका शब्दार्थ है 'शोध करना। अतः इस प्रणालीमें विद्यार्थी भी वैज्ञानिकके समान प्रत्येक वैज्ञानिक तथ्यका स्वयं शोध करता है, अर्थात् किसी आविष्कारक या वैज्ञानिकने किसी तथ्य, परिणाम या सिद्धांतका जिन विशेष परिस्थितियोंमें विशेष प्रयोग करके या विशेष क्रमसे परिज्ञान किया है या नये आविष्कार किए हैं उन्हीं परिस्थितियों, प्रयोगों और क्रमोंके अनुसार चलते हुए विद्यार्थी भी प्रत्येक अपेक्षित परिणाम—आविष्कार—तक पहुँच जाता है। इस पद्धतिसे वह स्वयं प्रत्येक परिस्थितिका प्रभाव देखता है, अवांछित वस्तुओं और प्रयासोंको हटाकर, वांछितको जुटाता तथा निर्दिष्ट क्रमसे प्रयोग-कार्य करता चलता है और इस प्रकार वह मूल प्रयोग करनेवाले वैज्ञानिक-द्वारा सिद्ध, निश्चित तथा उचित परिणामपर पहुँच जाता है।

स्पेन्सरका कहना है कि विद्यार्थियोंको जितना कम हो सके उतना कम बताना चाहिए और उन्हें स्वयं काम करके परिणाम निकालनेके लिये प्रेरित करना चाहिए। प्रत्येक छात्रको ऐसी परिस्थितिमें रखना चाहिए कि वह स्वयं प्रयोग करके तथ्य निकाले। स्वयंप्रयोग-प्रणालीमें

भी छात्रको ही स्वयं प्रयोग करके परिणाम निकालनेके लिये प्रेरणा दी जाती है अर्थात् न्यूटनने जिन परिस्थितियोंमें गुरुत्वाकर्षण-शक्तिका आविष्कार किया था उन्हीं परिस्थितियोंमें विद्यार्थियोंको रखकर उन्हें गुरुत्वाकर्षणका तथ्य सिखानेका प्रबन्ध इस पद्धतिमें किया जाता है।

इस स्वयंप्रयोग-प्रणालीके जन्मदाता हैं आचार्य आर्मस्ट्रौंग। उनका मत है कि स्वयं परीक्षण करके उसके आधारपर अपना ज्ञान स्थिर करना ही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रणालीसे पहला लाभ यह है कि इस प्रकार प्राप्त की हुई शिक्षामें विद्यार्थीका मन लगता है। वह प्रसन्न होता है कि उसने किसी एक विषयके सब अंगोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। दूसरा लाभ यह है कि इससे शिक्षार्थियोंकी रुचि विकसित होती है।

प्रत्येक विद्यार्थीमें स्वयंप्रयोगकी स्वाभाविक स्फूर्ति होती है। वह चाहता है कि प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें स्वयं अनुभव करे। वह दूसरेके अनुभवको सत्य माननेसे हिचकता है। इस प्रणालीमें वह काम करता है, भूल करता है, अवांछित परिणामपर पहुँचता है, फिरसे वह प्रयोग प्रारम्भ करता है, इस फिर-फिरके प्रयोगसे उसका अभ्यास बढ़ता है, दक्षता आती है, भूलोंकी संख्या कम होती है और प्रश्नका समाधान स्वयं करनेकी आत्मतुष्टि भी प्राप्त होती है।

स्वयंप्रयोग-प्रणालीमें मार-पीट, ताड़ना या बाहरी दबावकी आवश्यकता नहीं रह जाती। विद्यार्थी स्वयं उत्सुक होता है, वह स्वयं कार्यमें संलग्न होता है, शीघ्रसे शीघ्र उसे पूर्ण करनेका प्रयास करता है, कम समयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करता है और उसपर कोई अनावश्यक अधिक भार नहीं पड़ता, खेल-खेलमें ही उसे ज्ञान मिल जाता है। स्वाभाविक परिस्थितिमें प्राप्त शिक्षाका प्रभाव भी स्थायी होता है क्योंकि वह वास्तविक और सत्य होता है। स्वयंप्रयोग-प्रणालीमें ज्ञात विषयसे अज्ञातकी ओर बढ़नेका अच्छा अवसर मिलता है। पढ़ना एक बात है,

पढ़े हुएको गुनना दूसरी बात है। गुने हुएका प्रयोग करना ही वास्तविक शिक्षाका उद्देश्य है। इस प्रणाली-द्वारा विद्यार्थी स्वयमेव पढ़े हुए विषयकी सहायता लेता है, गुने हुएका प्रयोग करता है जिससे उसका ज्ञान पक्का होता चलता है।

इस प्रणालीमें शिक्षक अपने प्राचीन पदसे उठकर अधिक गौरवमय स्थानपर प्रतिष्ठित हो जाता है। उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है प्रत्येक विद्यार्थीको मूल आविष्कारके पदपर प्रतिष्ठित कर दे और देखता चले कि विद्यार्थी ठीक पथपर चल रहा है या नहीं। छात्रके विपथ होनेपर भी बिना पूछे वह न तो उसे टोकता है न ठीक मार्गपर लगाता है— आवश्यकता पड़नेपर बिना बतलाए काम न चल सकनेपर कुछ थोड़ी सहायता देता है।

इस पद्धतिमें विद्यार्थी भी आविष्कारकका पद ग्रहण कर लेता है। उसे आविष्कारककी पुष्टि प्राप्त होती है। वह प्रयोगके समय गैलीलियो और न्यूटन बनकर काम करने लगता है। अन्तर इतना ही होता है कि मूल वैज्ञानिकने तो बहुत-सी भूलें भी की होंगी किन्तु स्वयंशोधक छात्र केवल उसी क्रमसे प्रयोग करता है जिस क्रमसे मूल वैज्ञानिकने सफलता प्राप्त की थी।

ह्यूरिस्टिक मेथड और ह्यूरिज़्ममें अन्तर

ह्यूरिस्टिक प्रणाली और ह्यूरिज़्ममें अन्तर है। ह्यूरिज्म या स्वयंशोध उस क्रिया को कहते हैं जिसमें वास्तविक वैज्ञानिक स्वतः अपने प्रयोगों-द्वारा कोई अन्वेषण या आविष्कार करता है, किन्तु स्वयंप्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मैथड) में छात्र-द्वारा केवल उस क्रियाकी आवृत्ति कराई जाती है जिसके आधारपर मूल वैज्ञानिकने आविष्कार किया था। ह्यूरिज्ममें मूल वैज्ञानिक स्वयं अनुसन्धान करता है, ह्यूरिस्टिक प्रणालीमें अध्यापकके निर्देशानुसार छात्रगण किसी वैज्ञानिकके अन्वेषण-क्रमकी स्वयं प्रयोग-द्वारा आवृत्ति करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि एकमें (स्वयंप्रयोग-

प्रणालीमें) आविष्कारककी संगत क्रियाओंका छात्र-द्वारा अनुकरण और अनुसरण किया जाता है और दूसरी (स्वयंशोधक्रिया) में स्वयं आविष्कारक ही मौलिक प्रयोग करके परिणाम निकालता है। पहले प्रकारके प्रयोगमें कम समय लगता है और केवल संगत क्रियाओंकी ही आवृत्ति की जाती है किन्तु दूसरेमें समय भी अधिक लग सकता है और अनेक प्रकारकी असंगत क्रियाएँ भी हो सकती हैं।

स्वयंप्रयोग-प्रणालीका विश्लेषण

जहाँ इस प्रणालीमें इतने गुण हैं वहाँ यह त्रुटि भी है कि इस प्रणालीसे शिक्षाविभाग-द्वारा निर्धारित सब विषयोंकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। केवल विज्ञान एवं तत्संबंधी विषयोंकी शिक्षामें तो यह सहायक होती है किन्तु साहित्य, गणित, इतिहास आदि अन्य विष्योंके लिये इसका कोई प्रयोग नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि इस प्रणालीमें छात्रके अर्जित ज्ञानकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। न्यूटन या आर्किमेदेस (आर्किमिडीज़) को जितना समय अपना सिद्धान्त निकालनेमें लगा उतना ही या उससे कुछ अधिक समय व्यय करना प्रत्येक विद्यार्थीकी परिमित शक्तिका अपव्यय करना है। जो परिश्रम मूल आविष्कारकने किया उसे दुहराना पिष्टपेषण मात्र करना ही है क्योंकि जो अनुभूत प्रयोग हैं उनके लिये शक्ति और समयका अपव्यय क्यों किया जाय और फिर यदि संसारका समस्त ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने ढंगसे प्राप्त करता चले तो वह अपने जीवनमें ज्ञानका लक्षांश भी नहीं प्राप्त कर सकता और इतना संचित ज्ञान सब व्यर्थ हो जाय। तीसरा दोष यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी आविष्कारकका पद प्राप्त कर लेता है जब कि वह स्वयं उससे अनभिज्ञ साधक मात्र होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सबकी शक्ति भिन्न होती है और सब आविष्कारक नहीं हो सकते और न सबको इसकी आवश्यकता ही है। जिसको आवश्यकता हो वह ऐसा करे। चौथी बात यह है कि सब

विद्यार्थी समान रूपसे सदैव उसमें रुचि नहीं ले सकते। थोड़े दिनों महीनों या वर्षों में उनका जी ऊबने लगता है और वे समझने लग जाते हैं कि एक चक्करसे छूटकर दूसरेमें जा पड़े हैं। नित्यकी भूल, नित्यका सुधार करते-करते उनका जी टूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी रुचि जाती रहती है और वह उस विषयसे, उस शिक्षासे भागता फिरता है यहाँतक कि उसे अरुचि हो जाती है। वह विषय सदाके लिये उसको डरावना जान पड़ने लगता है और यहीं शिक्षाकी इति हो जाती है। एक बात और है जिससे इस शिक्षा-प्रणालीका पोलापन प्रकट होता है। इस प्रकारके शिक्षक प्राप्त करना, इस प्रकारकी प्रयोग-शालाएँ बनाना सभी विद्यालयोंके लिये संभव नहीं है क्योंकि इतना धन व्यय करके वैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित करना साधारण पाठशालाओंके लिये नितान्त कठिन तथा व्ययसाध्य है। किन्तु जहाँ संभव हो सके वहाँ इस प्रणालीको उचित स्थान देना चाहिए, क्योंकि इस प्रणालीसे कुछ छात्रोंकी रचना-प्रवृत्तिको तो निश्चय ही प्रोत्साहन मिलता है और वे स्वयं अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त होते भी हैं।

१३

शिक्षा-शास्त्रके कुछ नवीन प्रयोग

विश्लेषण-संश्लेषण तथा परिणाम-सिद्धान्त प्रणाली

हम दो प्रकारोंसे शिक्षा दे सकते हैं (१) विश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिक मैथड)से तथा (२) संश्लेषणप्रणाली (सिन्थेटिक मेथड) से। इन्हीं दोनोंको हम विषय-भेदसे क्रमशः (१) परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) तथा (२) सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड) प्रणाली भी कहते हैं।

विश्लेषण-प्रणाली

१—विश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिक मेथड) में किसी वस्तुके संपूर्ण रूपके अध्ययनसे प्रारंभ करते हैं और फिर क्रमशः उसके विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि हमें इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ाना हो तो पहले हम संपूर्ण पृथ्वीके अध्ययनसे प्रारम्भ करेंगे और समान जलवायुके खंडोंमें पृथ्वीका विभाजन कर देंगे। फिर इन खंडोंके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनका पूरा ब्यौरा दे देंगे और फिर उसी आधारपर विभिन्न महाद्वीपों और देशोंका अध्ययन करेंगे। इस प्रकार हमने विश्लेषण-प्रणालीसे पूरी पृथ्वीके भूगोलकी शिक्षा दी। यदि हमें रामचरितमानस पढ़ना हो तो इस प्रणालीके अनुसार पहले हम समूची कथा कहेंगे, उसके मुख्य चरित्रोंका अध्ययन करेंगे, भाषाकी विशेषताएँ समझेंगे और तब एक-एक कांडका अलग-अध्ययन करेंगे। इस प्रणालीका प्रयोग हम वहाँ करते हैं जहाँ कोई

ऐसा विषय पढ़ना हो जिसके खंड किए जा सकें या जो भागोंमें विभाजित किया जा सके अर्थात् तत्त्वों या खंडोंसे निर्मित सभी भौतिक विषयोंके शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड)

जैसे विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारम्भ करते हैं वैसे ही सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम पहले बता देते हैं और फिर विद्यार्थी अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य सामग्रीके आधारपर उन नियमोंकी व्यापकता सिद्ध करता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—'संज्ञा-विशेषण वह शब्द है जो किसी संज्ञा शब्दकी विशेषता बताता हो।' इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर 'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेश, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र' इत्यादि उदाहरणों-द्वारा वह उपर्युक्त नियमका प्रयोग समझ लेता है कि 'भला, सुन्दर, मनोहर, भव्य, आकर्षक तथा पावन' शब्द संज्ञा-विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः 'बालक, सुमन, वेश, भवन, रूप तथा चरित्र' शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ हमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता है जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदिकी शिक्षामें।

संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड)

२—संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड) में हम किसी विषय अथवा वस्तुके तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारम्भ करके उसके पूर्ण रूपके अध्ययनकी ओर बढ़ते हैं। जैसे, अक्षर-रचनाकी शिक्षा देते समय पहले खड़ी, पड़ी, आड़ी तथा गोल रेखाएँ सिखाते हैं और फिर इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर 'अ' का स्वरूप सिखाते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग उन विषयोंकी शिक्षाके लिये किया जाता है जिनके अंगोंका विभाजन किया जा सके जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

परिणाम-प्रणाली (इंडक्टिव मेथड)

जिस प्रकार संश्लेषण-प्रणालीमें किसी विषय या वस्तुके भागोंसे प्रारम्भ करके क्रमशः पूर्ण विषय या वस्तुकी शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार परिणाम-प्रणालीमें उदाहरणों तथा अनुभूत प्रसंगोंसे प्रारम्भ करके उनके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। अर्थात् यदि हमें व्याकरणकी शिक्षा देनी हो तो हम सीधे नियम न बतलावें वरन् बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खें—

राम अयोध्यासे रथपर चढ़कर चले।

इस वाक्यमें राम एक विशेष-व्यक्तिका नाम, अयोध्या एक विशेष स्थानका नाम तथा रथ एक विशेषवस्तुका नाम है। ये सब संज्ञाएँ हैं। अतः यह नियम निकला कि किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाले शब्दोंको संज्ञा कहते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये होता है जैसे तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदि।

विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको-सिन्थेटिक मेथड)

ऊपर हमने विश्लेषण तथा संश्लेषण प्रणालीकी अलग-अलग व्याख्या करके उसका प्रयोग भी समझाया है किन्तु वास्तवमें ये दोनों परस्पर संबद्ध है क्योंकि चाहे हम पूर्णसे भागोंकी ओर चलें चाहे भागोंसे पूर्णकी ओर; हमें विश्लेषण और संश्लेषण अर्थात् तोड़ना और मिलाना दोनों क्रियाएँ करनी ही पड़ेंगी। संश्लेषणमें तो मिलानेकी क्रिया स्वाभाविक क्रमसे आ ही जाती है किन्तु विश्लेषण करते समय जब हम खंडों या भागोंतक पहुँच जाते हैं तब हम उसे वहीं नहीं छोड़ सकते, हमें उन खंडोंका संश्लेषण करके उसकी पूर्णताका विवेचन करना ही चाहिए। इसीलिये कुछ आचार्योंका कथन है कि विश्लेषण-प्रणाली ग्राह्य भी है और श्रेष्ठ भी किन्तु उसकी पूर्णता संश्लेषण करनेपर

ही सिद्ध होती है अतः वास्तवमें विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको सिन्थेटिक मेथड) ही ग्राह्य है।

विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणाली ग्राह्य हैं

मनोवैज्ञानिक विवेचनकी दृष्टिसे विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणालीका ग्रहण और संश्लेषण तथा सिद्धान्त-प्रणालीका त्याग करना चाहिए। अध्यापकका यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थीका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधिसे बढ़ावे कि बालक रुचि, कुतूहल, उत्साह तथा स्फूर्तिसे उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१—बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।

२—पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो।

३—इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

बुद्धि-परीक्षा

विद्यालय अथवा महाविद्यालयके संचालक तथा अधिकारी प्रारम्भिक कालमें ही बच्चेकी वास्तविक महत्ताको मापनेमें प्रायः असमर्थ होते हैं। इसलिये अनेक मनोवैज्ञानिक लोग बच्चोंकी स्वाभाविक बुद्धि मापनेके सर्वश्रेष्ठ उपाय खोज निकालनेमें बड़े व्यस्त रहे। लाखों बच्चोंपर प्रयोग करके तथा उनका परीक्षण करके कुछ परीक्षाएँ निर्धारित की गईं जिनमेंसे सर्वश्रेष्ठ हैं—(१) व्यक्तिगत परीक्षाके लिये साइमन और बिने परीक्षाओंकी स्टेनफर्ड आवृत्ति और विस्तार तथा (२) एल्फा परीक्षा अथवा समूह-परीक्षा, जो सेना तथा पुलिसमें रंगरूटोंकी परीक्षाके लिये तथा विभिन्न व्यवसायोंमें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी योग्यता अथवा अयोग्यताकी परीक्षाके लिये अमेरिकामें अधिक व्यवहृत होती है। इनके अतिरिक्त सिम्पलेक्स, नैशनैल, ओटिस और नौर्थम्बरलैण्ड नामक परीक्षाएँ भी हैं। उपर्युक्त निर्धारित परीक्षाएँ कुछ मनोवैज्ञानिक

सिद्धान्तोंपर अवलंबित हैं। यूरोप और अमेरिकामें मनोवैज्ञानिकोंकी एक नई वृत्ति उत्पन्न हो गई है जिनका कार्य स्कूलके बच्चोंकी परीक्षा करना तथा उनके लिये उचित बुद्धि-संबंधी चिकित्साका निर्देश करना होता है। वे नौकरीके इच्छुक व्यक्तियोंकी परीक्षाके लिये तथा उनमेंसे प्रत्येककी बुद्धिका सब व्यावहारिक दृष्टियोंसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी रक्खे जाते हैं। माता-पिता और अभिभावकोंको भी इसमें लाभ है कि उनके आश्रित बालकोंकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा हो जाय और मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार उनको शिक्षा दी जाय।

ये परीक्षाएँ इस सिद्धान्तपर अवलम्बित हैं कि बालककी स्वाभाविक बुद्धिका विकास सोलहवें वर्षतक होता है, उसके पश्चात् वह विकसित नहीं होती। कोई व्यक्ति उस अवस्थाके पश्चात् भी स्कूल या कालेजमें ज्ञानोपार्जन भले ही कर ले, किन्तु स्वाभाविक विकास तो रुक ही जाता है। अतः उन्होंने आयु-परिमाणको ही मानदंड स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि उन लोगोंका लक्ष्य केवल उच्चतर मानसिक अवस्थाओंकी ही परीक्षा लेना है जैसे तर्क-बुद्धि तथा मौलिकता और इसलिये वे गूढ़ विषयोंपर निर्णय देनेके लिये भी उत्तेजित करते हैं। अन्तिम बात यह है कि बिने सर्वसाधारण बुद्धिकी परीक्षा लेना चाहता है, विद्यालयमें प्राप्त ज्ञान अथवा गृह-शिक्षाकी नहीं।

बुद्धिफल निकालनेका नियम

तीन वर्षसे लेकर १५ वर्षतकके बालकोंके लिये ही ये परीक्षा-मालाएँ निर्धारित की गई हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उस वर्षकी होती है। मान लीजिए कि एक बालक आठ वर्षका हो चुका है और वह उस वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया है, तो उस बालकमें आठ वर्षके बच्चेकी बुद्धि है। इस दशामें बुद्धिलब्धि (गुणय) १०० निश्चय किया गया है। किन्तु यदि वही बालक नौ अथवा दस वर्षकी अवस्थावालोंकी परीक्षामें

सफल हो तो उसका शारीरिक वय आठ वर्षका होते हुए भी मानसिक वय नौ या दस वर्षका समझा जायगा। मानसिक वयको वास्तविक वयसे भाग देकर १०० से गुणा करनेसे बुद्धि-गुण्य (बुद्धिलब्धि) प्राप्त हो जाता है। अतः यदि उपर्युक्त ८ वर्षके बालकका मानसिक वय १० वर्षका हो तो उसका बुद्धिगुण्य $\frac{१०}{८} \times १०० = १२५$ होगा अर्थात् वह अत्यन्त प्रखर बुद्धिशाली होगा। यदि १० वर्षके शारीरिक वयके बालकका मानसिक वय ८ वर्ष हो तो उसका बुद्धिगुण्य (इन्टेलिजेन्स कोशेन्ट) $\frac{८}{१०} \times १०० = ८०$ होगा अर्थात् वह स्थूल बुद्धि होगा। अतः जैसे वास्तविक वयसे अधिक मानसिक आयुवाले बालक होते हैं वैसे ही कम मानसिक आयुके भी बालक होते हैं। इसीलिये सहस्रों बालकोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर, मनोवैज्ञानिकोंने बच्चोंको निम्नलिखित श्रेणियोंमें विभाजित किया है—

बुद्धिफल (इन्टेलिजेन्स कोशेंट)	श्रेणी
(१) १५० से ऊपर—	देव-बुद्धि।
१४० से १५०—	देवप्राय बुद्धि।
(२) १२०—१४०	अत्यन्त प्रखर बुद्धि।
(३) ११०—१२०	प्रखर बुद्धि
(४) ९०—११०	साधारण बुद्धि
(५) ८०—९०	स्थूल बुद्धि
(६) ७०—८०	मन्द बुद्धिकी सीमापर
(७) ७० से नीचे	निश्चित मन्दबुद्धि या जड

इस ओर की हुई खोजोंसे तीन तथ्य निश्चित रूपसे सम्मुख आते हैं—(१) मनुष्यकी स्वाभाविक बुद्धि प्राकृतिक होती है। चाहे शिक्षक लोग इस बातको स्वीकार न करें परन्तु यह सत्य है कि स्कूलकी शिक्षा स्वाभाविक बुद्धिकी उन्नतिमें सहायक नहीं होती। (२) अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति स्वाभाविक बुद्धि-लब्धिपर अवलम्बित है,

यदि वह १२५ निकलता है तो अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति $\frac{१२५}{१००} \times \frac{१२५}{१००} = १\cdot५६२५$ अर्थात् ड्योढ़ीसे ऊपर निकलेगी।

(३) बुद्धि-गुण्य निश्चय करनेमें पैतृक गुणोंका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जड-बुद्धि अथवा अल्प बुद्धिवाले मनुष्योंकी संततिका बुद्धिगुण्य कम ही रहता है!

मनोविज्ञानका अतिवर्त्तन हानिकर

आजकल मनोविज्ञानका इतना प्रबल कोलाहल मचाया जा रहा है कि वास्तविक ज्ञान उसके सम्मुख अत्यन्त क्षीण होता जा रहा है। एक ओर तो शिक्षा-शास्त्री लोग मनोविज्ञानकी दुहाई दे रहे हैं, दूसरी ओर बड़े वेगसे अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक ढंगसे परीक्षाएँ ली जा रही हैं, विद्यालय चलाए जा रहे हैं और पढ़ाई हो रही है। मनोविज्ञान पहले तो अध्यापकोंके लिये रक्खा गया कि वे उसके सहारे छात्रोंकी प्रवृत्ति समझकर तदनुकूल शिक्षा-योजना बनावें। अब छात्रोंके पाठ्यक्रममें भी मनोविज्ञान पहुँचा दिया गया है जिसका परिणाम यह हो रहा है कि छात्र अब अध्यापकोंका मनोविश्लेषण करने लगे हैं और उन्हें मूर्ख बनानेकी नई मनोवैज्ञानिक प्रणालियाँ निकाल रहे हैं। चोरको पकड़नेवाले ही नहीं वरन् चोर भी मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मनोविज्ञानका अतिवर्त्तन निश्चित रूपसे हानिकर सिद्ध हो रहा है। व्यावहारिक दृष्टिसे भी हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि यदि विभिन्न प्रणालियोंसे हम बालकोंकी परीक्षा भी कर लें और उन्हें यह भी बता दें कि अमुक बालक अमुक वृत्तिके योग्य है, तब भी यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी बुद्धि सदा वैसी ही रहेगी, उसकी परिस्थिति—आर्थिक और पारिवारिक—उसे उस वृत्तिके अनुरूप सदा सहायक हो सकेगी। संभवतः कुछ नौकरियोंमें इसके आधारपर उचित चुनाव हो सके किन्तु जीवनमें अगणित क्षेत्रोंके लिये अगणित

परीक्षाएँ कहाँसे बनाई जा सकेंगी और वे कहाँतक सफल हो सकेंगी इसमें बहुत सन्देह है। प्रत्येक विद्यालयके चतुर अध्यापक बिना किसी बुद्धि-परीक्षाके बता सकते हैं कि किस बालकमें किस कामके लिये कितना सामर्थ्य है। मनुष्योंके सम्पर्कमें आनेवाले अनेक ऐसे सूक्ष्मदर्शी हैं जो मुँह देखकर मनुष्यका स्वभाव और उनकी वृत्ति पहचान लेते हैं। दूसरेकी शक्ति और वृत्ति जाननेकी कोई विद्या या विज्ञान नहीं है। यह तो अनुभव और संसर्गसे अत्यन्त सरलतासे जाना जा सकता है, परीक्षाओंसे नहीं। अतः मनोविज्ञानका यह निरर्थक कोलाहल कम करके शिक्षाका क्रम अधिक व्यावहारिक बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो लोग मनोवैज्ञानिक परीक्षा लेते हैं, पहले तो उन्हींकी परीक्षा ले लेनी चाहिए क्योंकि यह सम्भव है कि उनमें भी अनेक भाव-ग्रन्थियाँ विद्यमान और अनेक प्रकारकी अवाञ्छनीय प्रवृत्तियाँ हों। अतः मनोविज्ञानका जो इतना आडम्बरपूर्ण प्रचार किया जा रहा है वह अत्यन्त भ्रामक, अव्यावहारिक और निरर्थक है क्योंकि बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य-जीवनको निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। घरकी स्थिति, पिताकी अवस्था, आर्थिक स्थिति, सहसा रोगग्रस्त हो जाने तथा सङ्गतिके कारण मनोवृत्तिका सहसा किसी दूसरी ओर बदल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है, किन्तु फिर भी जो प्रयत्न हो रहे हैं उनके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है—

'दिलके बहलानेको ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है।'

सयानों और बिकलांगोंकी शिक्षा

पिछले महायुद्धके पश्चात् यह भावना व्यापकरूपसे उत्पन्न होने लगी कि प्रत्येक देशके प्रत्येक नागरिकको कमसे कम आवश्यक शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। अतः पहले अमेरिकामें फिर जर्मनी, रूस, इटली, फ्रांस और जापानमें बालकोंकी अनिवार्य शिक्षाके साथ-साथ उन

सयानोंको शिक्षा देनेकी भी राष्ट्रीय योजनाएँ बनीं जिन्होंने या तो कभी कोई शिक्षा पाई ही नहीं या पाई भी तो उसे छोड़े बहुत दिन हो गए।

सयानोंकी शिक्षामें नागरिकताके पाँच भाव

किसी सभ्य राष्ट्रके किसी भी सयाने व्यक्तिमें कमसे कम पाँच प्रकारके भाव निश्चित रूपसे स्थिर हो जाने चाहिएँ—

१. भाषाका ज्ञान अर्थात् लिखना, पढ़ना, बोलना, समझना।

२. नागरिकताका भाव—अपने गाँव या नगरके राजकर्मचारियोंसे सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव तथा सेवा, बैंक, कचहरी, सड़क, रेल तथा डाकके साधारण व्यावहारिक नियमोंसे परिचय।

३. स्वास्थ्य-भाव—अपने शरीर, घर, पास-पड़ोसको स्वच्छ रखने और मादक द्रव्योंसे दूर रहना।

४. व्यावसायिक भाव—अपने गाँव या नगरमें उत्पन्न या तैयार हो सकनेवाली वस्तुओंका ज्ञान तथा उनके विक्रय-क्षेत्रोंका ज्ञान।

५. देशभक्तिका भाव।

हमारे देशमें छः लाखसे ऊपर अन्धे, लगभग ढाई लाख गूँगे, ढाई लाख ही बहरे और लगभग बारह लाख ऐसे हैं जो किसी न किसी प्रकारसे विकलाङ्ग हैं। अन्य सभी सभ्य देशोंमें इनके लिये अत्यन्त व्यवस्थित विद्यालय हैं जहाँ ये विकलांग लोग जनतापर भार न होकर स्वयं लिख-पढ़कर अथवा किसी हस्त-कौशलके द्वारा अपनी जीविका कमाते हैं। भारतमें दिल्ली, पटना, प्रयाग, काशी और बम्बईमें इस प्रकारके विद्यालय हैं जहाँ ब्रेल-पद्धतिसे अन्धोंको पढ़ना सिखाया जाता है और हस्तकौशल तथा संगीतकी शिक्षा भी दी जाती है। किन्तु उचित तो यह है कि यह व्यवस्था सरकार अपने हाथमें ले ले और उचित केन्द्रोंमें इस प्रकारके विकलांगोंको अनिवार्य रूपसे शिक्षा देकर उनका जीवन सफल करे और राष्ट्रकी शक्ति बढ़ावे।